

अ शी क

(हिन्दी अनुवाद)

लेखक :-

डी० आर० भंडारकर, एम. ए. (कम्बई),
मानार्ह पी-एच. डी. (कलकत्ता), एफ ए. एस. बी.,
प्राचीन भारतीय इतिहास और सस्कृति के कारमाइकेल अध्यापक,
कलकत्ता विश्वविद्यालय

१९६०

एस० चन्द्र एण्ड कम्पनी
दिल्ली—जालन्धर—लखनऊ

एस० चन्द एण्ड कम्पनी
आसफगली रोड नई दिल्ली
फव्वारा दिल्ली
माईहीरा गेट जालन्धर
लालबाग लखनऊ

मूल्य ७।।)

श्यामलाल गुप्ता, एस० चन्द एण्ड कम्पनी, फव्वारा, दिल्ली द्वारा प्रकाशित एवं
डिलाइट प्रेस, चूडीवालान, दिल्ली में मुद्रित

प्राक्कथन

अशोक के विषय में इतना अधिक कहा और लिखा गया है कि जो लोग इस पुस्तक को देखेंगे उनमें से कुछ शायद आश्चर्य से यह पूछेंगे कि इस भारतीय नरेश के बारे में अभी और कौनसी नई बातें कहने के लिए शेष हैं। लेकिन यह न भूलना चाहिए कि अशोक पत्थरों पर जो अभिलेख छोड़ गया है, वे अपने-आप में एक साहित्य हैं और उनमें उसने जो कुछ कहा है वह सब ठीक-ठीक समझने में अभी विद्वानों को बहुत वर्ष लगेंगे। भारतीय शिलालेख-शास्त्र के किसी विद्यार्थी को यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि इन अभिलेखों में बहुत से ऐसे सदर्थ हैं जो स्पष्ट नहीं हैं और विद्वान् लोग प्रतिदिन उनके नये और अच्छे निर्वचन पेश कर रहे हैं। दूसरा काम यह है कि इन लेखों से प्राप्त होने वाली अनेक सूचनाओं को ऐसे ढंग से जोड़ा जाय जिससे इस धर्म-प्रचारक राजा का सजीव चित्र प्रस्तुत हो सके।

मेरा खयाल है कि जोड़ने का यह काम अभी तक पूर्ण नहीं हुआ और अभी कुछ और वर्ष जारी रहना चाहिए। भारतीय शिलालेख-शास्त्र का कोई हिस्सा इतना मनोरंजक और इतना परिष्कारक नहीं है, जितना वह अग जिससे अशोक के ये अभिलेख निरूपित करते हैं और क्योंकि मैंने उसके लेखों के न केवल निर्वचन के काम में, बल्कि क्रमेक्षण (Collation) और एकीकरण के काम में भी हिस्सा लिया है, इसलिए मैं समझता हूँ कि मुझे यह पुस्तक लिखने

के लिए, जो इस बौद्ध राजा के बारे में मेरे विचार प्रस्तुत करती है, कोई सफाई देने की आवश्यकता नहीं।

मेरा अशोक के लेखों का अध्ययन १८९८ में शुरू हुआ। उस समय मेरे सम्मुख न केवल प्रिसेप, विल्सन और वरनोफ के, बल्कि प्रोफेसर कर्न, प्रोफेसर सेनार्ट और प्रोफेसर वूलर के भी अनुवाद और टिप्पणियाँ थीं। मैंने इन सब पुस्तकों की सायग्री को अच्छी तरह पढ़ा। परन्तु मुझे श्री सेनार्ट की "दि इन्स्ट्रिप्शन ऑफ पियदसी" के रामान मनोरंजक और लाभदायक कोई पुस्तक नहीं लगी। यह पुस्तक 'इण्डियन एण्टीकरी' में अंग्रेजी रूप में प्रकाशित हुई थी। मुझे तुरन्त यह दिखाई पड़ा कि यह प्रेच विद्वान् न केवल शिलालेख-शास्त्री या संस्कृत, पालि और प्राकृत का विद्वान् है, बल्कि एक इतिहासकार भी है, जिसका लक्ष्य यह है कि शिलालेखीय और साहित्य अभिलेखों से प्राप्त होने वाली सूचनाओं की अनेक कड़ियों को मिलाकर एक सिलसिलेवार पूर्ण वस्तु बनाई जाय। इस प्रकार उनकी पुस्तक का चौथा अध्याय न केवल इतिहास के क्रम में अशोक की या उसके लेखों की स्थिति बताता है बल्कि उसके राज्य के सीमा-विस्तार उसकी प्रशासन-प्रणाली, उनके स्वतन्त्र पड़ोसियों, ग्रीक जगत् के साथ उसके सम्बन्ध, उसकी बौद्ध धर्म की दीक्षा, उसके धम्म के स्वरूप, इत्यादि का भी उल्लेख करता है। सबसे पहले श्री सेनार्ट ने ही यह रास्ता दिखाया कि उसके अभिलेखों के व्यवस्थित अध्ययन से किस तरह अशोक के इतिहास की रचना की जा सकती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मैंने अशोक के लेखों का, इस दृष्टि से कि वे भारत के इतिहास पर क्या प्रकाश डालते हैं, लगभग चौथाई शताब्दी अध्ययन किया है। मैंने वास्तव में कोई प्रगति की

है या नहीं, और यदि की है तो कितनी, यह बात तो विद्वान् और इतिहासज्ञ ही बता सकते हैं। परन्तु यह जानने के लिए कि मेरा प्रयत्न कहाँ तक सफल हुआ है, मैंने अपनी पुस्तक के पहले सात अध्यायों के पेज प्रूफ उपलब्ध होते ही फ्रेच विद्वान् को भेजे थे और उनसे यह प्रार्थना की थी कि वे इस पुस्तक के बारे में अपना विचार नि सकोच होकर बताएँ। परन्तु बहुत दिनों तक कोई उत्तर नहीं आया और जिस समय प्राक्कथन कम्पोज हो रहा था, ठीक उस समय वह चिर-प्रतीक्षित पत्र आया। इसमें गुरु मे लिखा है—“एक वृद्ध सहयोगी के कुछ-कुछ जर्जर स्वास्थ्य के कारण हुई देरी को क्षमा कीजिए। मैं पहले ही आपके भेजे हुए अशोक के पेजों के लिए आपको धन्यवाद देना चाहता था। मैंने वर्षों पहले इस धार्मिक राजा और उसके बहुमूल्य शिलालेखों का जो अध्ययन किया था, आपने उसे स्मरण रखने की कृपा की। मैं आप जैसे प्रबुद्ध निर्णायक के निर्णय से क्यों प्रभावित न होता? आप समझ सकते हैं कि अपने यौवन-काल की वे गवेषणाएँ मुझे हमेशा प्रिय और नई लगती हैं। आपकी पुस्तक मुझे एक बार फिर उन्ही गवेषणाओं में पहुँचा देती है। मैं इसके लिए बड़ा कृतज्ञ हूँ। कृतज्ञ मैं इसलिए हूँ क्योंकि इससे उस प्रतिभासम्पन्न और उत्साहमय कौशल का एक उज्ज्वल उदाहरण मेरे सामने आया है, जिससे आधुनिक भारत अपने अतीत की पुन-रचना का यत्न कर रहा है।”

श्री सेनार्ट ने अपने पत्र में मुझे स्पष्ट रूप से बताया है कि वे किस-किस बात में मुझसे मतभेद रखते हैं। एक को छोड़कर ये सब मतभेद गौण मतभेद हैं। मुख्य मतभेद उस उत्तरदायित्व के विषय में है, जो मैंने उसकी विदेश-नीति के परिवर्तन के विषय में उस पर डाला है, अर्थात् उसके दयापूर्ण विचारों की वह कमजोरी

जिसने उसके बाद देश पर होने वाले अनेक ग्रीक और तूरानी विदेशी आक्रमणों की सफलता को आसान बना दिया। “यह सर्वथा सम्भव है”, आपने लिखा है, “कि बौद्ध शान्तिवाद के कारण अन्ततोगत्वा कुछ लोगों में कमजोरी आई—वे लोग इसके कारण अधिक नम्र तो नहीं हुए, सिर्फ कर्म करने में कम समर्थ हो गये”..... मुझे तो उसमें सिर्फ एक आदर्शवाद की और गहरी धार्मिकता की, जिससे हम सुपरिचित हैं, भावना दिखाई देती है क्योंकि भारत का सारा सुदीर्घ अतीत इससे अनुप्राणित है, और शायद इससे भारत को अधिक आध्यात्मिक सम्मान प्राप्त हुआ है। इसकी तुलना में भारत को वैदेशिक सफलताओं की प्राप्ति, जिसके विषय में यह सदिग्ध है कि भारत की प्रतिभा ने इसे कभी इसके योग्य बनाया भी था या नहीं, बहुत गौण है।” इसलिए जब उन्होंने मेरी इस पुस्तक पर ऐसी स्पष्ट आलोचना करने की कृपा की है, तब यह मानना ही

१. यह कह देना उचित होगा कि यह विचार मेरे मन में भी आया था, पर मुझे इसे त्याग देना पड़ा क्योंकि अशोक और उसके बाद हुए ग्रीक आक्रमण के बीच बहुत थोड़ा व्यवधान था। अशोक की मृत्यु २३६ ई० पू० में हुई मानी जाती है और पहले वैक्ट्रियन ग्रीक आक्रान्ता यूथार्स डेमस की मृत्यु १६० ई० पू० के आस-पास हुई मानी जाती है। इस प्रकार मुजिकल से पचास वर्ष का अन्तर है, और इसमें भी एन्टीओकस महान् का मौर्य साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर सफल हमला हो चुका था (दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ ४४२ और ४४४)। इस प्रकार अशोक की मृत्यु के लगभग अविलम्ब बाद ही ग्रीक आक्रमण हो गया। क्या इतने थोड़े से समय में बौद्ध धर्म का प्रसार हो गया और उसने जनता को, और उससे भी बढ़कर, मगध सेना को इतना कोमल और शान्तिप्रिय बना दिया कि वह सैनिक कार्य में असमर्थ हो गई?—यह वही सेना थी जिससे सिकन्दर के सैनिक काँपते थे, और जिसने उसके बाद सैल्यूकस की सेना को मार भगाया था।

पडता है कि मेरी सारी पुस्तक के बारे में उन्होंने जो अपना निम्नलिखित विचार प्रकट किया है वह उनका सच्चा हार्दिक अभिमत है : “आपका प्रयोजन यह नहीं था कि शिलालेखीय जानकारी के अनुकूल अनुश्रुतियों की साधारण परीक्षा के द्वारा अशोक का एक आलोचनात्मक इतिहास लिख दिया जाय, बल्कि आप तो शिलालेखों के विश्लेषण द्वारा यह प्रकट करना चाहते थे कि एक बुद्धिमान और जिज्ञासाशील गवेषक को उनसे अब तक अप्रत्याशित क्या जानकारी प्राप्त हो सकती है। सम्बन्धित साहित्य से अपने दीर्घ परिचय के कारण आप इस कार्य-भार के लिए सबसे अधिक सज्जित व्यक्ति हैं। यह आपकी अद्वितीय शक्ति का चमत्कार है कि आपने पुस्तकों की सहायता से स्मारकों पर प्रकाश डालकर अपने चित्र को सजीव कर दिया है।”

अशोक के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न अब भी उलझे हुए हैं। इनमें से एक यह भी है कि भारत पर उसकी वैदेशिक नीति का क्या प्रभाव हुआ। ऐसा ही एक और प्रश्न यह है कि क्या पश्चिमी एशिया में बौद्ध धर्म उसके प्रयत्नों से फैला और यदि हाँ तो कहाँ तक। यदि इन प्रश्नों पर स्वतन्त्रता और निर्भयता से विचार न किया जाय तो किसी अन्तिम निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता। मेरे जो कुछ विचार हैं वे मैंने प्रकट कर दिये हैं और अब यह देखना है कि विद्वान् लोग, और उनसे भी बढ़कर, इतिहासकार क्या-क्या विचार प्रकट करते हैं। ये सम्मतियाँ जितनी विविध होगी, इस प्रश्न को देखने के उतने ही दृष्टिकोण सामने आयेगे और परिणामतः उनके शीघ्र हल होने की उतनी ही अधिक सम्भावना होगी।

यह सच है कि इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य इतिहास है, शिलालेख-शास्त्र नहीं, तो भी, वह समय अभी नहीं आया, और जहाँ तक

प्राचीन भारत का सम्बन्ध है, शायद वह कभी भी नहीं आये, जब इतिहास को गिलाख-शास्त्र, पुरातत्व या संस्कृत और संस्कृत साहित्य से पूर्णतया पृथक् किया जा सके। अशोक के लेखों में अब भी कुछ ऐसे शब्द और गदर हैं, जिन्हें टीका-टीका समझने की आवश्यकता है, यद्यपि डाक्टर एफ. डब्ल्यू. टामन ने उन क्षेत्र में हाथ में ही बड़ा भारी कार्य किया है। उसीलिए मैंने अपने प्राचीन इतिहास के इस आधार की उपेक्षा नहीं की। मैंने उसी ओर काफी ध्यान दिया है। यह बात विशेष रूप से अध्याय आठ में देनी जा सकती है, जिसमें अशोक के प्रजापतों का अनुवाद और उन पर टिप्पणियाँ हैं।

मैं कह चुका हूँ कि अशोक के लेखों ने मुझे चौगुनी गतावधि तक व्यस्त रखा, परन्तु मैं इतनी बात बहे बिना नहीं रह सकता कि इस कार्य में मैं अधिक प्रगति नहीं कर सका जब मैं प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृत के कारमाईकेल प्राध्यापक के पद पर नियुक्त होकर कलकत्ते आया और मैंने कलकत्ता विश्वविद्यालय के शुद्ध बौद्धिक वायुमण्डल में साँस लिया जो स्वर्गीय सर आनुतोप मुकर्जी सरस्वती की महान् प्रतिभा की अनुपम मृष्टि है। खेद है कि हम स्नातकोत्तर अध्ययन की उन्नति में उनके पथ-प्रदर्शन से सदा के लिए वंचित हो गए। उन्हें इस पुस्तक के प्रकाशित होने में विशेष दिलचस्पी थी, और मुझे इस बात का सदा अत्यधिक दुःख रहेगा कि वे इस पुस्तक को देखने के लिए जो अब दो वर्ष में छपकर तैयार हुई है, कुछ दिन और जीवन न रह सके।

इस पुस्तक की अनुक्रमणिका श्री गिरीन्द्र मोहन सरकार ने तैयार की है जो कुछ समय पहले मेरे गिण्ट थे। प्रूफ पढ़ने तथा साधारण सहायता देने के लिए मैं कलकत्ता विश्वविद्यालय के दो

उपाध्यायो श्री जितेन्द्रनाथ बनर्जी और श्री नानीगोपाल मजूमदार का, तथा अपने शिष्यो श्री राकोहरी चटर्जी और श्री चिन्ताहरण चक्रवर्ती का, बहुत अधिक ऋणी हूँ और अपने इस प्राक्कथन का सबसे अधिक अच्छा उपसहार उन्ही गब्दो मे कर सकता हूँ जिन गब्दो मे फ्रेच विद्वान् ने अपने पत्र का उपसहार किया है : “आप, जो अपनी सुन्दर परम्पराओ के प्रति निष्ठावान और ठोस ज्ञान के अनुरागी हैं, अपने इस पूर्वज को अपने गवेषणाओ और अपने देश-प्रेम की स्फुरणाओ की श्रद्धाजलि अर्पित करना चाहते थे । आपके कार्य का उचित मूल्यांकन करने के लिए व्योरे की बातो मे जाना होगा, और वैसा करना इस छोटे से पत्र मे राभव नही, अत मेरा हार्दिक अभिनन्दन स्वीकार कीजिए । मैं सहानुभूति और परिश्रम के इस फलप्रद संयोग को—जिसमे भारत की धार्मिकता और पश्चिम के आदरपूर्ण कौतूहल को एक हो जाना चाहिए—हमारे साझे चरितनायक के संरक्षण मे रखना चाहता हूँ ।”

—डी० आर० बी०

[अनुवाद में अनुक्रमणिका नहीं दी जा सकी है ।—अनु०]

संक्षेपों की तालिका

ABORI—एनल्स आफ दि भडारकर ओरिएटल रिसर्च
इस्टीच्यूट ।

AR—ASEC—वार्षिक रिपोर्ट, आर्कियोलौजिकल सर्वे,
ईस्टर्न सर्कल ।

ASI-AR—आर्कियोलौजिकल सर्वे आफ इण्डिया—वार्षिक
रिपोर्ट ।

ASSI—आर्कियोलौजिकल सर्वे आफ सदरन इण्डिया ।

ASWI—आर्कियोलौजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया ।

CASR—कनिंगहम की आर्कियोलौजिकल सर्वे रिपोर्टें ।

CCII—कनिंगहम, कौपस इन्स्क्रिप्शनम इण्डिकेरम ।

CL—कारमाइकेल लेक्चर्स ।

EB—एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका ।

EC—एपिग्राफिया कर्नाटिका ।

EHl—अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया ।

EI—एपिग्राफिया इण्डिका ।

ERE—साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स ।

EZ—एपिग्राफिया जेलानिका ।

GI—गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स ।

HAS—हैदराबाद आर्कियोलौजिकल सर्वे ।

HASL—हिस्ट्री आफ एशेट सस्कृत लिटरेचर ।

HIEA—हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर ।

IA—इंडियन एटिकरी ।

IHQ—इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली ।

JAOS—जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी ।

JASB—जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल ।
जात—जातक ।

JBBRAS—जर्नल आफ दि बीवे ब्राच आफ दि रायल
एशियाटिक सोसाइटी ।

JBORS—जर्नल आफ दि बिहार उडीना रिमर्च सोसाइटी ।

JDL—जर्नल आफ दि डिपार्टमेंट आफ नैटर्स (कलकत्ता
विश्वविद्यालय) ।

JPTS—जर्नल आफ दि पाली टेक्स्ट सोसाइटी ।

JRAS(NS)—जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी
(न्यू सीरीज) ।

MASB—मेमोइर्स आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ
बंगाल ।

MASI—मेमोइर्स आफ दि आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ
इंडिया ।

MCNL—मणीन्द्रचन्द्र नन्दी लैब्रर्स, १८२५, (जो बनारस
हिन्दू विश्वविद्यालय में श्री डी० आर० भट्टाकर
ने दिये थे) ।

PR-ASNWFP—उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के आर्कियो-
लोजिकल सर्वे की प्रगति रिपोर्ट ।

PR-ASWI—पश्चिमी भारत के आर्कियोलोजिकल सर्वे की
प्रगति रिपोर्ट ।

PTFOC—पहली ओरिएंटल कान्फ्रेन्स, पूना, की कार्यवाही

PTS—पालि टेक्स्ट सोसाइटी ।

SAMJSV—सर आशुतोष मुखर्जी सिलवर जुबिली वाल्यूम ।

SBB—सेक्रेड बुक्स आफ दि बुद्धिस्ट्स ।

SBE—सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट ।

SSPS—संस्कृत साहित्य परिषद् सीरीज, कलकत्ता ।

VOJ—विएना ओरिएंटल जर्नल ।

VP—विष्णु पुराण ।

ZDMG—जेइट्सक्रिफ्ट डेर डुएटजेन मीर्गनलैडिगेन
जैसैलशैफ्ट ।

विषय-सूची

अध्याय १	पृष्ठ
अशोक और उसका आरम्भिक जीवन	१-२३
अध्याय २	
अशोक का साम्राज्य और प्रशासन	२४-६४
अध्याय ३	
अशोक बौद्ध के रूप में	६५-८८
अध्याय ४	
अशोक का धम्म	८९-११६
अध्याय ५	
अशोक धर्म-प्रचारक के रूप में	११७-१४५
अध्याय ६	
अशोक-कालीन स्मारकों के आधार पर सामाजिक और धार्मिक जीवन परिशिष्ट	१४६-१८८ १८८-१९०
अध्याय ७	
इतिहास में अशोक का स्थान	१९१-२१५
अध्याय ८	
अशोक के लेख	२१६-२९६

अध्याय १

अशोक और उसका आरम्भिक जीवन

भारत में शायद ही कोई शिक्षित व्यक्ति ऐसा हो जिसने अशोक और उसके शिलालेखों का नाम न सुना हो। हर कोई जानता है कि अशोक एक मौर्य वंश का नरेश, और चन्द्रगुप्त का पोता था। ग्रीक लेखकों ने चन्द्रगुप्त को सेंड्रैकोट्रोस नाम से याद किया है और वह कुछ समय तक सिकन्दर महान् का समकालीन था। यह भी सब को पता है कि इस नरेश के शिलालेख भारत भर में पाये जाते हैं। पर संभव है कि यह बात सबको न मालूम हो कि उन शिलालेखों पर क्या लिखा है और उनसे उस मौर्य राजा का क्या विवरण प्राप्त होता है। कुछ ऐसे बौद्ध ग्रन्थ अवश्य हैं जिनमें उसके जीवन और कार्य का वृत्तान्त मिलता है, पर उनकी विश्वसनीयता पर सन्देह किया गया है, जो उचित ही है। उनमें बहुत सी कथाएँ दी गयी हैं जिनमें उसे पहले कालाशोक, अर्थात् काले अशोक, के रूप में, और उसके बौद्ध हो जाने के बाद धर्माशोक, अर्थात् पवित्र अशोक, के रूप में चित्रित किया गया है। क्योंकि इन ग्रन्थों का एक ध्येय बौद्ध धर्म की प्रशंसा करना है और उसके लिए वे यह बताते हैं कि बौद्ध धर्म ने अशोक को किस तरह दानव से देवता बना दिया, इसलिए उनके विवरण की सत्यता के बारे में स्वभावतः मन में सन्देह पैदा हो जाता है। पर उसके शिलालेखीय स्मारकों के बारे में यह बात नहीं है—

इन स्मारको की, जो समकालीन अभिलेख (records) हैं और उस के आदेशों से खोदे गये थे, प्रामाणिकता असदिग्ध है। इतना ही नहीं, बल्कि जब हम उन्हें पढ़ते हैं कि मानो अब भी उसकी वाणी हमें सुनायी दे रही है और उसके अन्तस्तल की भावनाएँ हमें मुना रही हैं। आगे के पृष्ठों में दी जाने वाली अशोक की कथा, लगभग पूरी तरह, इन स्मारकों के आधार पर है, और हम बहुत निश्चय से कह सकते हैं कि हमारा विवरण कल्पना नहीं, बल्कि इतिहास है।

अशोक अपने पीछे किस तरह के अभिलेख छोड़ गया है ? क्या उनकी संख्या इतनी अधिक है और क्या वे इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनसे व्योरे की बातों पर प्रकाश पड़ सके ? यदि हम उसके शिलालेखीय स्मारको का पूरा विवरण यहाँ देने लगे तो निश्चय ही पाठक उकता जाएगा, और इसलिए हमने वह एक वाद के अध्याय के लिए रख छोड़ा है। पर इस तथा अगले अध्याय का विषय अच्छी तरह से हृदयगम कराने के लिए इन अभिलेखों के स्वरूप की कुछ रूपरेखा यहाँ देना आवश्यक है। ये अभिलेख जैसा कि हम जानते हैं, सबके सब पत्थर पर खुदे हुए हैं। वे शिलाओं पर, स्तम्भों पर या गुफाओं में खोदे गये हैं। शिलाओं पर के लेख भी दो प्रकार के हैं, अर्थात् (१) चौदह शिला प्रज्ञापन (Fourteen Rock Edicts) और (२) गौण शिला प्रज्ञापन (Minor Rock Edicts)। चौदह शिला प्रज्ञापनों का यह नाम इसलिए पड़ा है क्योंकि वे मिलकर क्रमवद्ध चौदह विभिन्न लेखों (inscriptions) का संग्रह है, और सात विभिन्न स्थानों में पाये गये हैं जो सब के सब भारत के सीमा-प्रदेशों पर हैं। गौण शिला प्रज्ञापनों में दो भिन्न प्रकार के अभिलेख हैं। वे इकट्ठे तो सिर्फ मैसूर वाली तीन प्रतियों में खुदे हुए हैं; और सब स्थानों

मे, जिनकी संख्या चार से कम नहीं है, सिर्फ प्रज्ञापन १ खुदा हुआ है। अशोक के स्तम्भ लेखों को भी दो भागों में बाँट सकते हैं—(१) सात स्तम्भ प्रज्ञापन और (२) गौण स्तम्भ लेख। इनमें से पहले सात मिलकर एक समूह बनाते हैं, पर पिछले चार अलग-अलग शिलालेख हैं। अशोक के गुफा लेख वे ही हैं जो विहार के बराबर पर्वत की गुफाओं में खुदे हुए हैं। ये सब मिलाकर तीस विभिन्न लेखों से कम नहीं हैं, और, जैसा कि हम अपने विवरण में आगे देखेंगे, वे अशोक, उसके प्रशासन, उसके धार्मिक विश्वास और उसके धर्म-प्रचार के कार्यों आदि से सम्बन्धित अनेक बातों पर प्रकाश डालते हैं। आवश्यकता सिर्फ यह है कि अशोक के बारे में जो कुछ जानने योग्य और ऐतिहासिक दृष्टि से स्वीकार्य है उसका अधिकतम अंश हस्तगत करने के लिए इन अभिलेखों की सावधानी से तुलना की जाए।

जिन लोगों ने इन शिलालेखों का अध्ययन किया है वे अच्छी तरह जानते हैं कि ये लेख अपना उद्भव एक राजा से बताते हैं जो अपने आपको पियदसी, अर्थात् प्रियदर्शी, कहता है। जब लगभग तीन-चौथाई शताब्दी पहले, जेम्स प्रिंसेप, जिसे ब्राह्मी लिपि का रहस्य उद्घाटित करने का श्रेय मिलना चाहिए, इन्हे पहली बार पढ़ रहा था, तब प्रियदर्शी नाम से वह बड़े चक्कर में पड़ गया था। वह नहीं जानता था कि यह प्रियदर्शी कौन था, किस वंश का था, और किस काल में राज्य करता था। पर उसके कुछ ही समय बाद टर्नर (Turner) ने, जो श्रीलंका सिविल सर्विस का अफसर था और स्वयं पाली का बड़ा विद्वान था, बताया कि प्रियदर्शी अशोक ही है। उसने बताया कि सिंहली भाषा की इतिहास-पुस्तक दीपवंश में पियदस्सी

या प्रियदस्सन, मौर्यवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त के गौण अशोक का ही एक और नाम है। यह सच है कि तब से उन कथन पर कोई आपत्ति नहीं की गयी, पर यह बात निश्चित रूप से तब ही प्रमाणित हुई जब सिर्फ छह वर्ष पहले गौण जिला प्रजापन १ की छठी प्रति शोलापुर जिले (निजाम राज्य) के मन्की नामक स्थान पर प्राप्त हुई। इस लेख में अशोक के नाम का स्पष्ट रूप से और पहली ही पंक्ति में उल्लेख है। इसलिए अब इस बात में संदेह नहीं किया जा सकता कि अशोक और प्रियदर्शी एक ही व्यक्ति हैं, और उन दोनों का प्रणेता वास्तव में उस चन्द्रगुप्त का पोता है जिन्होंने मौर्य साम्राज्य की स्थापना की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे पुरालेखीय अभिलेखों का प्रणेता अशोक और प्रियदर्शी इन दोनों नामों से प्रसिद्ध था। प्राचीन भारत के राजाओं में एक से अधिक नाम रखने की प्रथा थी, जिनमें से एक तो उनका व्यक्तिवाचक नाम होता था और अन्य नाम उन के विशेषण होते थे जो विरुद्ध कहलाते थे। इन दोनों शब्दों में एक निश्चित रूप से उसका नाम रहा होगा और दूसरा विशेषण होगा। और प्रतीत होता है कि प्रियदर्शी उसका विशेषण था क्योंकि हम जानते हैं कि श्रीलंका के एक इतिहास-ग्रन्थ में अशोक के दादा चन्द्रगुप्त को भी, उसकी तरह, प्रियदस्सन कहा गया है। इसमें किसी को संदेह नहीं कि चन्द्रगुप्त उसका अपना नाम था। इसलिए प्रियदर्शन या प्रियदर्शी उसका विरुद्ध या गौण नाम माना जाना चाहिए। हम जानते हैं कि अशोक के लिए यह विशेषण प्रियदर्शी था और यह विलकुल संभव है कि उसके दादा का विरुद्ध भी प्रियदर्शी था, प्रियदर्शन नहीं। क्योंकि बाद के जमाने में हम देखते हैं कि एक ही वंश

के दादा और पोता एक ही विरुद्ध धारण करते हैं। श्रीलंका के इतिहास-ग्रन्थ में अशोक को प्रियदर्शी के अलावा प्रियदर्शन भी कहते हैं जिससे प्रकट होता है कि वे दोनों शब्दों को एक ही अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। और क्योंकि अशोक के शिलालेखों से हमें पता चलता है कि वह प्रियदर्शी कहलाता था, प्रियदर्शन नहीं, अतः यह मानना स्वाभाविक है कि उसका दादा भी प्रियदर्शी था, प्रियदर्शन नहीं। यह विलक्षण बात है कि उसके अभिलेख राजा को सिर्फ एक बार अगोक नाम से, और अन्य सब स्थानों पर प्रियदर्शी नाम से, पुकारते हैं। पर ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं जिनमें राजा लगभग सदा अपने विरुद्धों से ही पुकारे जाते रहे हैं। इस प्रकार, मान्यखेत के राष्ट्रकूट कुल के गोविन्द तृतीय का पुत्र अब तक के सब लेखों (documents) में अपने विरुद्ध, अमोघवर्ष, के नाम से ही मिलता है। अपने पुरालेखों के प्रणेता के बारे में तो हमारे पास अधिक पुष्ट प्रमाण हैं। क्योंकि कम से कम एक अभिलेख में उसका निजी नाम, अशोक, दिया हुआ है।

अपने अधिकतर पुरालेखों में अशोक अपने आपको 'देवानाम्प्रिय प्रियदर्शी राजा' कहकर अभिहित करता है। यह राजा का पूरा अभिधान (appellation) है। पर कभी-कभी इस अभिधान के एक या अधिक अक्षरों का विलोप करके इसे संक्षिप्त कर दिया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अगोक को देवानाम्प्रिय प्रियदर्शी, प्रियदर्शी राजा, देवानाम्प्रिय राजा, या सिर्फ देवानाम्प्रिय भी कहा गया है। अशोक के पूरे नाम का दूसरा भाग प्रियदर्शी है जिस पर हम अभी विचार कर चुके हैं। इसका शाब्दिक अर्थ है "प्रेम से

देखने वाला" और भावार्थ यह भी हो सकता है कि "नीम्य स्वरूप वाला"। उसने यह विन्द कब और क्यों धारण किया, यह हम नहीं जानते, पर यह निश्चित है कि वह उसे करीब-करीब अपने निजी नाम की ही तरह प्रयुक्त करता था। इसलिए अधिक अच्छा हो कि हम इसका अनुवाद न करें और उसे उसके मूल रूप में ही रहने दें। यह ध्यान देने योग्य बात है कि यद्यपि अशोक सर्वोच्च शासक था पर वह अपने को सिर्फ 'राजा' शब्द से निर्दिष्ट करता है। 'महाराजा' और 'राजाधिराज' जैसी भारी-भरकम या आश्चर्यपूर्ण उपाधियाँ, जो अलग-अलग या मिलाकर प्रयुक्त की जाती हैं, अशोक के समय में प्रचलित नहीं हुई थी। जो और भी अधिक ध्यान देने योग्य बात है वह यह कि वह अपने आपको 'देवानाम्प्रिय' कहता है, और आसानी से समझ में आ सकता है कि व्याकरण के आधुनिक विद्यार्थी को इस पर क्यों हँसी आने लगेगी। क्योंकि क्या सिद्धान्त-कौमुदी के रचयिता भट्टोजी दीक्षित, और अभिधान चिन्तामणि के प्रणेता हेमचन्द्र हमें यह नहीं बताते कि देवानाम्प्रिय का अर्थ 'मूर्ख' या 'मूढमति' है? इसलिए उन्हें यह कुतूहल होना स्वाभाविक है कि अशोक का अपने आपको देवानाम्प्रिय कहने का क्या अभिप्राय है। पर यह ध्यान रहना चाहिए कि यद्यपि यह शब्द अब अप्रतिष्ठाकारी भाव रखता है, पर शुरू में, और विशेष रूप से अशोक के समय में, यह ऐसा नहीं था। हम जानते हैं कि पतञ्जलि इस शब्द को 'भवत्, दीर्घायुः' और 'आयुष्मत्' के साथ रखता है। इससे पता चलता है कि इन आदरमूचक शब्दों के समान देवानाम्प्रिय शब्द भी सर्वोच्च या नामोल्लेख की शुभावह रीति के रूप में प्रयुक्त किया जाता था। अब यदि हम शिला प्रज्ञापन ८ पर

ध्यान दे तो हम देखेंगे कि कुछ जगह जिसे 'देवानाम्प्रिय' कहा गया है, उसे ही और जगह 'राजानो' कहा गया है। इसका मतलब यह हुआ कि देवानाम्प्रिय, राजाओं को सम्बोधित करने की एक शुभावह रीति थी। और, वस्तुतः दीपवश^१ में तिस्स को देवानाम्प्रिय कहा गया है जो श्रीलंका का शासक और अशोक का समकालीन था, और उस राजा का उल्लेख करने के लिए अनेक बार अकेले इस शब्द का प्रयोग किया गया है। अन्य पुरालेखीय अभिलेखों से भी यही निष्कर्ष निकलता है। इस प्रकार, नागाजुं नी पर्वत के गुफालेखों^२ में देवानाम्प्रिय शब्द दशरथ नाम के एक राजा को निर्दिष्ट करने के लिए प्रयुक्त किया गया है, जिसे अशोक का पोता माना गया है। इसी तरह श्रीलंका के एक पुरालेख में यह विरुद्ध अन्य राजाओं के अतिरिक्त वकनासिकतिस्स, गजवहुक-गामिनी, और महल्लक-नाग^३ के साथ लगा हुआ है। इस प्रकार देवानाम्प्रिय, ईसाई काल से पहले, सिर्फ राजाओं के लिए संबोधन की शुभावह रीति या सादर उल्लेख को प्रकट करता था, और सम्भवतः इस विश्वास को सूचित करने के लिए प्रयुक्त किया जाता था कि राजाओं की रक्षा देवता करते हैं। इसलिए इस पद का अधिक अच्छा अनुवाद होगा "देवताओं का प्रिय"। इस प्रकार अशोक की पूरी राजकीय उपाधि थी : "राजा प्रियदर्शी, देवताओं का प्रिय।"

अशोक के--बहुत सारे पुरालेख इस पदावलि से शुरू होते हैं : देवानाम्प्रियो पियदसी राजा एवं ग्राह, "देवताओं का प्रिय राजा

१. XI, १४, १६, २०, २५ आदि।

२. IA, XX ३६४ और आगे।

३. EZ, १. ६० और आगे।

प्रियदर्शी ऐसा कहता है ।” श्री सेनार्ट^१ ने, ठीक ही, इसकी तुलना उस पदावलि से की है, जिससे एकिमीनाइडो (Achaemenides) — डेरिअस से लेकर आर्टजेक्सिस ओक्स तक—की उद्घोषणाएँ (Proclamations) शुरू होती हैं । ऐसा एक उदाहरण है “थातीय दारयवौश क्षजाथिय” राजा डेरिअस ऐसा कहता है । दोनों जगह सबोधन का रूप अन्य पुरुष (third person) की पदावली से आरम्भ होता है, और जो बात विशेष ध्यान देने योग्य है वह यह कि इस पदावलि के तुरन्त बाद उत्तम पुरुष का प्रयोग किया गया है । निःसंदेह, अब कोई यह प्रतिपादन नहीं कर सकता कि अशोक ने इस सूत्र की, सीधे ईरान से, नकल कर ली, क्योंकि वास्तव में, हम जानते हैं कि यह राजसभा का एक आचार (Protocol) था जिसका कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में उल्लेख किया है और इसलिए जो अशोक के काल से पहले ही प्रचलित था ।^२ पर हमें फ्रेच विद्वान् के इस कथन से सहमत होने में कोई बाधा नहीं है कि भारतीयों ने ईरानी आचार ग्रहण कर लिया था, और इसका कारण यह था कि एकिमीनियनो ने उत्तर-पश्चिमी भारत को जीत लिया था और उस पर उनका शासन था ।

अपने अभिलेखों में अशोक जब कभी कोई गिनती देता है तब वह वर्षों की गणना अपने राज्याभिषेक के समय से करता है । इसके कारण विद्वान् लोग सिंहल की इस किवदन्ती को सत्य मानने लगे हैं कि अशोक का अभिषेक उसके राज्यारोहण के चार वर्ष बाद हुआ । पर यह किवदन्ती यह भी बताती है कि अशोक ने, अपने पिता की

१. IA, XX. २५५-६ ।

२ वही, XLVII ५१-२ ।

मृत्यु के बाद, अपने निन्यानवे भाइयों का वध करके सिंहासन प्राप्त किया और सिर्फ एक सबसे छोटे भाई, तिष्य, को जीता छोड़ा। पर उसके शिलालेख इस बात का खडन करते हैं—इनमें उसके न केवल एक बल्कि कई भाइयों का उल्लेख है, जो जीवित हैं, और जो न केवल उसकी राजधानी पाटलिपुत्र में हैं बल्कि उसके साम्राज्य के विभिन्न नगरों में भी हैं। और यदि यह बात सिद्ध हो जाती है तो यह समझ में नहीं आता कि उस किंवदन्ती के उस भाग को क्यों सत्य माना जाय जो उसका अभिषेक उसके राज्यारोहण के चार वर्ष बाद हुआ बताता है। असल में यह बात जरा भी स्पष्ट नहीं कि यदि वह कुछ घटनाओं की तिथिगणना अपने राज्याभिषेक के समय से करता है तो इससे यह कैसे सिद्ध हुआ कि उसके राज्याभिषेक और राज्यारोहण के बीच कुछ समय का व्यवधान था। फिर, नागार्जुनी पर्वत की गुफाओं में कम से कम तीन लेख ऐसे हैं जिन पर अशोक के पोते दशरथ के राज्याभिषेक के तुरन्त बाद से तिथिगणना है। तो क्या यहाँ भी हम यह कल्पना करे कि क्योंकि उन अभिलेखों में, तिथिगणना में दशरथ के अभिषेक का जिक्र है, इसलिए अभिषेक और आरोहण एक ही समय में नहीं हुए, और उन दोनों के मध्य कुछ व्यवधान अवश्य रहा होगा? इसलिए यह मानने के लिए कोई पुष्ट कारण नहीं है कि अशोक के राज्याभिषेक और राज्यारोहण के बीच चार वर्ष जैसा लम्बा व्यवधान रहा था।

प्रतीत होता है कि अशोक अपने अभिषेक की वार्षिक तिथि वन्दियों को मुक्त करके मनाया करता था। स्तम्भ प्रज्ञापन ५ के अन्त में वह जो कुछ कहता है उससे यह अनुमान किया जा सकता है। उसमें वह कहता है कि “छब्बीस वर्ष पूर्व मेरा अभिषेक होने के

वाद की अवधि में पच्चीस बार वन्दियों की मुक्ति हो चुकी है।” क्योंकि छब्बीस वर्ष की अवधि में पच्चीस बार वन्दी मुक्त किये गये थे, अतः इसका यह अर्थ हुआ कि जब यह स्तम्भ प्रज्ञापन प्रख्यापित किया गया तब उसके शासन का छब्बीसवाँ वर्ष समाप्त नहीं हुआ था। इस तरह इससे पता चलता है कि अपने जीवन के प्रसंगों के लिए वह जो तिथियाँ निर्दिष्ट करता है वे चालू शासनीय वर्ष हैं; वे समाप्त वर्ष नहीं हैं जैसा कि विद्वानों ने मान लिया है।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में विधान किया है कि राजा को कुछ विशेष दिनों पर खस्सी करने और पशु भ्रूण (Animal Foetus) को नष्ट करने पर पावन्दी लगानी चाहिए। इनमें राजा और देश के नक्षत्र वाले दिन भी शामिल हैं। स्तम्भ प्रज्ञापन ५ में अशोक ने खस्सी करने और दागने की चर्चा की है और उन दिनों का निर्देश किया है जिन पर उसने इन दोनों कार्यों का निषेध किया है। बड़ी विलक्षण बात है कि इनमें से अधिकतर दिन कौटिल्य द्वारा बताये गये दिनों से मेल खाते हैं। और जो ध्यान देने की बात है वह यह कि उसमें वह सिर्फ दो नक्षत्र दिनों, अर्थात् तिष्य और पुनर्वसु, का नामोत्लेख करता है। बहुत सभाव्यतः, इनमें से एक राजा का नक्षत्र है और दूसरा देश का। तो यह प्रश्न पैदा होता है कि कौनसा नक्षत्र देश का है और कौनसा राजा का? यह ध्यान देने की बात है कि तिष्य नक्षत्र का उल्लेख धौलि और जौगडा के दो पृथक् प्रज्ञापनों में भी है। हम जानते हैं कि अशोक के ये प्रज्ञापन नये जीते हुए कलिंग प्रान्त के अवसरो के उद्घोषण और कर्त्तव्य-निर्देशन के लिए थे, और वह यह आदेश जारी करता है कि उनके लाभ के लिए ये प्रज्ञापन प्रत्येक तिष्य नक्षत्र वाले दिन पढ़कर सुनाये जायेंगे।

स्पष्ट है कि इन दो नक्षत्रों में से तिष्य को पुनर्वसु की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है। यह बात इस तथ्य से भी दिखाई देती है कि यद्यपि नक्षत्रों की साधारण सूची में तिष्य, पुनर्वसु के बाद आता है, पर स्तम्भ प्रज्ञापन ५ में यह न केवल एक बार, बल्कि दो बार, पुनर्वसु से पहले रखा गया है। बलात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि क्योंकि तिष्य को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है, अतः यह अवश्य ही राजा का नक्षत्र होगा। यदि यह अनुमान सही है तो पुनर्वसु देश का नक्षत्र हुआ, जिससे हमारा खयाल है, हमें मगध देश समझना चाहिए।

अशोक के प्रज्ञापन उसके धम्म के विषय में, और धम्म के प्रचार के लिए उसने जो साधन अपनाये उन साधनों के विषय में हैं। इसलिए स्वभावतः वे उसके बौद्ध बन जाने के बाद के जीवन और कार्य पर बहुत अधिक प्रकाश डालते हैं। पर यहाँ हम यह देखने का यत्न करेंगे कि ये अभिलेख उसके आरम्भिक जीवन के बारे में, उसके निजी और सार्वजनिक दोनों ही क्षेत्रों में, क्या थोड़ी-बहुत बात बताते हैं। हम पहले ही देख चुके हैं कि उसके कई भाई और बहनें थीं जो उसके शासन के तेरहवें वर्ष तक जीवित थीं, और वे न केवल पाटलिपुत्र में बल्कि अन्य नगरों में भी रह रही थीं। निःसंदेह, अशोक का अपना अवरोधन, या स्त्रियों के रहने का बन्द स्थान, था। उसकी वास्तव में कितनी रानियाँ थी, यह हमें नहीं मालूम। पर उसकी कम से कम दो रानियाँ थी, क्योंकि उसके एक शिलालेख में उसकी दूसरी रानी का निर्देश है। और यह तथ्य ही कि उसे द्वितीय रानी कहा गया है, प्रकट करता है कि उसके समय में रानियों का पवित्रक्रम निर्धारित हो चुका था। इस द्वितीय रानी

कर देती है कि अशोक के अवरोधन में रानियों के अतिरिक्त स्त्रियाँ भी थी, और उसका सारा अवरोधन पाटलिपुत्र में ही नहीं था, इस के कुछ सदस्य अन्य नगरों में भी रहते थे। उसी स्तम्भ प्रज्ञापन में और राजकीय अन्तःपुर के दान की व्यवस्था करने के ही सिलसिले में अशोक अपने पुत्रों और अन्य देवीकुमारों का उल्लेख करता है। इस तरह वह अपने पुत्रों और देवीकुमारों में भेद करता है। ये अन्य देवीकुमार कौन हो सकते हैं? बहुत संभाव्यतः अशोक यहाँ अपनी देवियों अर्थात् रानियों के पुत्रों की चर्चा नहीं कर रहा बल्कि अपने पिता की रानियों के पुत्रों की अर्थात् अपने अ-सहोदर भाइयों की चर्चा कर रहा है। हम नहीं जानते कि अशोक कितने पुत्र थे। पर उसके कम से कम चार पुत्र अवश्य रहे होंगे। प्राचीन काल में यह प्रथा थी कि राजा यथासंभव अपने पुत्रों को दूरवर्ती प्रान्तों में अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजता था। ऐसे चार कुमारों का उल्लेख हमें इन पुरालेखीय अभिलेखों में मिलता है—ये चार कुमार चार प्रदेशों—तक्षशिला, उज्जयिनी, सुवर्णनगरी और तोसली—में राज-प्रतिनिधि थे। अगले अध्याय में हम देखेंगे कि इन चार प्रदेशों में कौन-कौनसे प्रान्त थे। यहाँ तो हमें सिर्फ यह बात देखनी है कि अशोक के कम से कम चार पुत्र थे। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अशोक का परिवार बहुत बड़ा था। उसके कई भाई-बहन थे जो न केवल पाटलिपुत्र में बल्कि पाटलिपुत्र से बाहर, साम्राज्य के अन्य भागों में भी रहते थे। उनमें से कुछ तो निश्चित रूप से उसके सहोदर भाई थे, पर कुछ ऐसे भी थे जो उसके पिता ही से, अन्य माताओं के उत्पन्न पुत्र थे। अशोक का अवरोधन, अर्थात् महिलाओं के रहने का सुरक्षित स्थान, उसकी राजधानी ही में न

था बल्कि और प्रान्तों में भी था। उसमें सिर्फ उसकी रानियाँ ही न रहती थीं, बल्कि वे स्त्रियाँ भी रहती थीं जिनके साथ उसका सम्बन्ध था। उसकी कम से कम दो रानियाँ थीं, जिनमें से एक का नाम कारुवाकी था, और कम से कम चार पुत्र थे। पर यह निर्धारण करना कठिन है कि कारुवाकी का पुत्र तीवर भी इन चार में ही या नहीं।

अशोक के निजी जीवन के विषय में हमें बहुत कम जानकारी है। उसके अभिलेख इस पर बहुत कम प्रकाश डालते हैं। पर गिला प्रज्ञापन ६ में एक मनोरञ्जक वाक्य आता है। इस प्रज्ञापन में यह वर्णन है कि अशोक कितनी बार और कहाँ-कहाँ राज्य करता था। इसमें वह कहता है कि मैंने सब स्थानों पर और सब समय राज-कार्य करने की व्यवस्था की है, जैसा मुझ से पहले किसी राजा ने नहीं किया। इसलिए स्वभावतः वह बताता है कि वह पहले कहाँ-कहाँ अपना समय गुजारा करता था जहाँ अब राज-कार्य करेगा। वह कहता है, "मैंने यह प्रवन्ध किया है कि प्रत्येक समय और प्रत्येक स्थान पर चाहे मैं भोजन करता होऊँ, चाहे अन्तःपुर में होऊँ, चाहे भीतर के कमरे (गर्भागार) में, चाहे पशुशाला (वज) में, चाहे अश्वपृष्ठ (विनीत) पर और चाहे वागीचे में होऊँ सब जगह प्रति-वेष्टक (नाही पेशकार) प्रजा के बारे में मुझे सूचना दे सकते हैं।" इसलिए स्पष्ट है कि जब अशोक के पास कोई काम न होता था, तब वह, सोने के समय के अतिरिक्त और समय, अपनी राजधानी में या तो अपने अन्तःपुर की स्त्रियों के साथ भोजनालय में होता, या अपने गयनागार में गपगप करता, या राजकीय अश्वशाला का निरीक्षण करता और घुड़सवारी का आनन्द लेता, या उद्यानों में

सैर-सपाटा करता था। इनमें से, या उसकी विशेष रुचि और आकर्षण की कौन-कौनसी चीज थी, यह हमें कुछ नहीं मालूम, पर हम इतना जानते हैं कि उसकी रसना को कौनसा भोजन तृप्त करता था। जब वह जीव-हत्या को रोकने के कार्यक्रम का बड़ी कठोरता से पालन कर रहा था तब भी उसने अपने भोजन के बारे में कुछ छूट कर रखी थी। अपने शिला प्रज्ञापन १ में वह कहता है, “पर जिस समय यह लेख लिखवाया गया, केवल तीन जीव, दो मोर और एक हरिण, मारे जाते हैं, इनमें हरिण रोज नहीं मारा जाता। ये तीन जीव भी भविष्य में नहीं मारे जायेंगे।” इसमें अशोक यह स्वीकार करता है कि यद्यपि मैंने अन्य सब जीवों की हत्या रोक दी है, पर अपने भोजन के लिए मोर और हरिण मारने की इजाजत दे रखी है। और उसके इस कथन से मेरे भोजन के लिए प्रतिदिन मारा जाने वाला प्राणी मोर है, हरिण नहीं, प्रतीत होता है कि उसे मोर का बहुत शौक था। इस सिलसिले में यह बात भी ध्यान रखने योग्य है जो बुद्धघोष ने अपनी संयुक्त निकाय की टीका में लिखी है। “सीमावर्ती प्रान्तों के लोगों को ‘गदुप्पाद’ बड़े स्वादिष्ट लगते हैं पर मध्यदेश वाले उनसे घृणा करते हैं। मध्यदेश वालों को मोर का मांस पसन्द है। पर और लोग इससे घृणा करते हैं।”^१ इसलिए यदि अशोक, जो मध्यदेश का निवासी था, बहुत दिनों तक मोर का मांस खाना नहीं छोड़ सका, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। परन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं रहना चाहिए कि अन्त में उसने मोर का मांस खाना भी छोड़ दिया, जैसा कि अपने

१. सारत्थ्यप्पकासिनी, बुद्धघोष द्वारा लिखित और १८६८ में थेर विमल-बुद्धि द्वारा श्रीलंका में प्रकाशित, पृष्ठ १०५ और आगे।

प्रज्ञापन में वचन दिया था, और वह कट्टर निरामिषभोजी हो गया।

एक और लेख में हमें अशोक के निजी जीवन की एक और झलक मिलती है। शिला प्रज्ञापन ८ में बताया गया है कि बहुत पुराने समय से राजा लोग विहार-यात्राएँ किया करते थे जिनमें वे शिकार तथा इसी प्रकार के दूसरे कार्य से अपना मनोविनोद करते थे, पर अशोक ने अपने अभिषेक के दसवें वर्ष से, जब उसने बुद्ध के बोध-प्राप्ति के स्थान, सवोधि, की यात्रा की थी, विहार-यात्राओं के स्थान पर धर्म-यात्राएँ शुरू कर दी हैं। यहाँ अशोक जो बात प्रकट करना चाहता है वह यह है कि दसवें वर्ष से पहले मैं भी और राजाओं की तरह विहार-यात्राएँ किया करता था और उनमें तरह-तरह के आनन्द-विनोद करता था, जिनमें मुख्य विनोद मृगया या शिकार था। परन्तु इस विहार-यात्रा के विषय में हम कोई स्पष्ट कल्पना नहीं कर सकते क्योंकि इसके बारे में तो अशोक हमें विस्तार से कुछ बताता है और न साहित्य के ही किसी ग्रन्थ से इसका कोई विवरण प्राप्त होता है। महाभारत के आश्रम-वासिक पर्व में तो विहार-यात्रा का अवश्य उल्लेख है—इन यात्राओं की व्यवस्था युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र के लिये की थी ताकि वह अपने सौ पुत्रों की मृत्यु के शोक को भूल सके—परन्तु उसमें सिर्फ एक श्लोक है जो यह बताता है कि विहार-यात्रा में क्या-क्या होता था। उसमें कहा गया है कि “इन यात्राओं में आरलिक (जादूगर ?), भोजन बनाने में निपुण लोग, और राग तथा पाडव गाने वाले धृतराष्ट्र का उसी तरह अनुरजन करते थे जैसे नगर में।” इस तरह धृतराष्ट्र की

विहार-यात्रा में संगीत, स्वादिष्ट भोजन और जादूगरो के खेल ही थे। इसमें शिकार का उल्लेख नहीं है, क्योंकि घृतराष्ट्र जैसे बड़े और अधे आदमी को शिकार में आनन्द मिलने की आशा नहीं की जा सकती। पर अशोक सिर्फ शिकार की चर्चा करता है और विहार-यात्रा के प्रसंग में और किसी मनोरंजन का उल्लेख नहीं करता। इससे प्रतीत है कि उसके समय में विहार-यात्रा का मुख्य अंग शिकार ही था। वस्तुतः राजा लोग शिकार इतना अधिक खेलते थे कि हिन्दू राजशासन (Politics) के कुछ प्राचीन लेखकों ने इसे बुरा कार्य बताया है और इससे दूर रहने की प्रेरणा की है। उदाहरण के लिए पिशुन ने शिकार को बुरा बताया है क्योंकि शिकार में डाकुओं का, शत्रुओं का, हिंसक पशुओं का और दावानल का खतरा है, तथा ठोकर खाने और दिग्भ्रान्ति होने का भय रहता है, इत्यादि। इसके विपरीत, कौटिल्य ने इसकी उपादेयता पर बल दिया है क्योंकि उसके अनुसार, शिकार से व्यायाम होता है, चर्बी और पित्त घट जाते हैं, खडे और भागते हुए प्राणियों पर निशाना मारने का अभ्यास होता है, और पशुओं के मनोविकारों का, तथा उनके क्रुद्ध होने पर उनकी गतिविधि में होने वाले परिवर्तनों का ज्ञान होता है। हम जानते हैं कि इनमें से कुछ बातों की चर्चा का कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल के दूसरे अंक में की है, जबकि दुष्यन्त से शिकार की प्रशंसा करायी गयी है। कवि ने नाटक के पहले दो अंकों में शिकार का एक अच्छा चित्र भी प्रस्तुत किया है, राजा के शिकार का वर्णन मेगास्थनीज ने भी किया है जो अशोक का लगभग समकालीन था। उसने लिखा है कि “राजा जिन प्रयोजनों के लिए प्रासाद से बाहर जाता है उनमें से एक है शिकार”

को जाना । इसके शिकार के जाने के समय बड़ा आनन्दोत्सव होता है—चारों ओर से वह स्त्रियो से घिरा होता है और इस घेरे के बाहर भाले लिये हुए सैनिक कतार बांधे खड़े होते हैं । सड़क के दोनों ओर रस्से बाँधे रहते हैं और इन रस्सों के भीतर आने वाले को—चाहे वह स्त्री हो, चाहे पुरुष—मौत की सजा दी जाती है । ढोल और शख बजाते हुए लोग जनूस के आगे-आगे चलते हैं । राजा घेरो के अन्दर शिकार करता है और एक ऊँचे स्थान पर खड़ा होकर बाण चलाता है । उसके पास दो या तीन सशस्त्र युवतियाँ खड़ी रहती हैं । अगर वह खुले मैदान में शिकार खेलता है तो हाथी पर बैठकर बाण चलाता है । युवतियों में से कुछ रथों में, कुछ घोड़ों पर, कुछ हाथियों पर सवार होती हैं और वे सब तरह के शस्त्रों से ऐसी सज्जित होती हैं कि मानो किसी दुश्मन पर चढ़ाई करने जा रही हो ।^{११} शाकुन्तल में भी दुष्यन्त की शिकार-यात्रा का वर्णन ऐसा ही है कि जैसे यह कोई चढ़ाई हो और राजा के साथ धनुर्धारिणी यवन स्त्रियो के रहने का भी उल्लेख है । यह माना जा सकता है कि अशोक भी अपने आरम्भिक जीवन में, अपने समकालीन या पूर्ववर्ती राजाओं की तरह शिकार का आनन्द लेता होगा पर बाद में उसके मन पर पशु-जीवन की पवित्रता की अमिट छाप पड़ गयी और उसकी आत्मा इस प्रकार के मनोरंजन से पीछे हट गयी, और उसने शिकार तथा ऐसे सब विनोद त्याग दिये जिनमें क्रूरता या जीव-हत्या होती थी ।

अब हम यह विचार करेंगे कि बौद्ध धर्म का कट्टर विचारक बनने से पहले अशोक का राजकीय रूप क्या था । उसके इस रूप के

बारे में बहुत कम बातें ज्ञात हैं और जो कुछ थोड़ा-बहुत ज्ञात भी है वह शिला प्रज्ञापन १ से ज्ञात होता है। इससे पता चलता है कि अन्य सब राजाओं की तरह अशोक भी अपने प्रजाजनो को दावते दिया करता था और उनका मनोरंजन किया करता था—सभाव्यतः अपनी प्रजा को प्रसन्न और सन्तुष्ट रखने के लिए यह उसकी कूट-नीतिक चाल थी। सार्वजनिक मनोरंजन की एक रीति यह थी कि वह समाज कराता था। समाज दो प्रकार का होता था। एक में जनता को स्वादिष्ट भोजन कराया जाता था जिसमें मांस का सबसे प्रमुख स्थान होता था। दूसरे में नृत्य, संगीत, मल्लयुद्ध तथा अन्य कला-प्रदर्शनो का आयोजन होता था। स्पष्टतः पहले प्रकार का समाज मिल-जुलकर खाने-पीने का एक आयोजन था। दूसरे प्रकार का समाज का ध्येय जनता का मनोरंजन था, और इस अर्थ में समाज, रंग तथा प्रेक्षागार या नाटकघर का पर्यायवाचक था, और कभी-कभी इस शब्द से, वहाँ एकत्र 'जनसमूह' भी सूचित होता था। ब्राह्मण और बौद्ध साहित्य में प्रयुक्त 'समाज' शब्द के सब उदाहरणों से यही पता चलता है कि समाज जनता की रसना या आँख और कान को तृप्त करने के लिए होते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत के प्राचीन नरेश समाजों का आयोजन करते रहते थे। इस प्रकार कटक के हाथी गुफा शिलालेख से पता चलता है कि कलिंग का राजा खारवेल अपने नगरवासियों के विनोद के लिए उत्सव और समाजों का आयोजन करता था। नासिक के एक गुफा-लेख में भी दक्षिण के एक राजा गौतमीपुत्र शातकर्ण के बारे में ठीक बात यही कही गयी है। और स्वयं कौटिल्य ने भी यह विधान किया है कि अपने देश या धर्म के समाज, उत्सव या विहार में जनता का जो अनुराग है उसका

राजा को अनुकरण करना चाहिए।”^१ मालूम होता है कि अशोक दोनों प्रकार के समाज कराता था। पर जब उसने धर्म का प्रचार शुरू किया, तब स्वभावतः उसने वे समाज निषिद्ध कर दिये जिनमें मांस खिलाने के लिए पशुओं की हत्या की जाती थी, जैसा कि गिला प्रज्ञापन १ से अनुमान होता है। और समाजों में उसके लिए कोई आपत्तिजनक बात न थी, इसलिए उन्हें जारी रखा परन्तु सार्वजनिक प्रदर्शनो का रूप थोड़ा-सा परिवर्तित कर दिया। नि सन्देह उसने ऐसे दृश्यों की व्यवस्था की होगी जिनसे जनता का न केवल मनोरंजन हो बल्कि उसमें धर्म की उत्पत्ति, विकास और प्रचार हो। ये दृश्य क्या थे, यह हम आगे चलकर देखेंगे।

उसी दिशा में एक और कदम उठाने के लिए, उसे राज्य सम्बन्धी कारणों से भी प्रेरणा मिली होगी। उसी अधिवेशन में अशोक कहता है कि इस प्रज्ञापन के प्रख्यापन से पहले राजकीय रसोईघर में लाखों जीव मारे जाते थे। यह ठीक वैसा ही है जैसा महाभारत के वन पर्व में है जिसमें बताया गया है कि रन्तिदेव नामक राजा के रसोईघर में प्रतिदिन दो हजार पशु और दो हजार गौएँ मारी जाती थी, और अपने प्रजाजनो को मांस बाँटकर उसने अतुल कीर्ति उपार्जित की। और वास्तव में, सैकड़ों आदमियों को प्रतिदिन भोजन वितरित करने का नियम भारत की देशी रियासतों में आज भी प्रचलित है। रन्तिदेव की तरह अशोक भी अपनी प्रजा में मांस वितरित किया करता होगा और ऐसा करने में उसका लक्ष्य भी ठीक वही रहा होगा, अर्थात् प्रजा का प्रिय बनना। परन्तु जब उसका अन्तःकरण जागृत हुआ और उसने धम्म का प्रचार आरम्भ

किया तब उसने इस भीषण जीवनाश को बन्द कर दिया ।

इस प्रकार हमने अशोक का, बौद्ध धर्म ग्रहण करने से पहले का, व्यक्तिगत और राजकीय रूप देख लिया । जो चित्र हमारे सामने आया है वह उतना स्पष्ट और पूर्ण तो नहीं है जितना हम चाहते हैं परन्तु हमें एक ऐसा स्वरूप प्राप्त हो गया जो विश्वासयोग्य है और जो सिर्फ किवदतियों पर आधारित नहीं है । हम जानते हैं कि उसका परिवार कैसा था, उसकी व्यक्तिगत अभिरुचि और पसन्द क्या थी, अपने नित्य के राज-कार्य से मुक्त होने पर वह किन कार्यों में व्यस्त रहता था । हम यह भी जानते हैं कि राजा के रूप में उसने क्या-क्या उपाधि धारण की थी, उसने राजा के रूप में अपना जीवन कैसे प्रारम्भ किया, और अपनी प्रजा के मनोरंजन के लिए और उसका अनुराग प्राप्त करने के लिए वह क्या-क्या किया करता था । वह अपने अभिषेक का वार्षिक उत्सव भी कारागारों से बन्दियों को मुक्त करके मनाया करता था । उसके बौद्ध होने से पहले, अर्थात् उसके अभिषेक के आठवें वर्ष के बाद तक, जबकि उसने कलिंग को जीता, राजा के रूप में उसके बारे में हम इतना ही जानते हैं । उसके राज्य-काल का आरम्भिक भाग घटनाशून्य था या उसमें उसने ऐसी विजय की या नहीं, यह हम नहीं जानते । उसके राज्य-काल की सबसे पहली घटना, जिसका शिलालेखों में उल्लेख मिलता है, उसकी कलिंग-विजय है—कनिंग मोटे तौर से बगाल की खाड़ी के तट के उस भू-भाग का नाम था जो वैतरणी और लागूलिया नदियों के बीच में है । उसने युद्ध की भयानकता और कष्टों का सजीव वर्णन किया है । वह कहता है, “१,५०,००० आदमी कैदी बनाये गये, १,००,००० मौत के घाट उतारे गये और इससे कई गुने मर गये ।” ये सख्याएँ

सिर्फ कलिंग के बारे में हैं और इनमें अशोक की सेना के हताहतों की संख्या नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कलिंग-जैसे छोटे-से प्रान्त में भी १,००,००० व्यक्ति खेत रहे, कई गुने घावों और भुख-मरी के गिकार हो गये, और सबसे बड़ी बात यह कि १,५०,००० व्यक्ति दासों के रूप में कैद कर लिये गये। निश्चय ही कलिंग-जैसे जरा से प्रदेश के लिए ये संख्याएँ बड़ी भयंकर हैं और इनसे पता चलता है कि उस प्राचीन काल में भी जब विनाशक शस्त्र इतने राक्षसी और घातक न थे जितने आज हैं, युद्ध कितनी भयंकर वस्तु था। इस युद्ध के गीघ्र वाद अशोक बौद्ध हो गया और उसने धम्म का प्रचार आरम्भ कर दिया। इस युद्ध की स्मृति ने उसमें अत्यधिक और सच्चा पश्चात्ताप पैदा कर दिया। वह कहता है कि जब कोई नया प्रदेश जीता जाता है तब हत्या, मृत्यु और कैदी अवश्य-भावी हैं। यह बड़े दुःख की बात है। पर इससे भी अधिक खेदजनक बात यह है कि जो लोग मरते हैं, मारे जाते हैं या कैदी बनाये जाते हैं, उनमें से बहुत सारे ऐसे होंगे, जिनकी धम्म में निष्ठा थी, और कि यदि इन आदमियों पर फिर ऐसा सफट आया तो वह उनके मित्रों, परिचितों और सम्बन्धियों पर, जो स्वयं तो सुरक्षित हैं पर उनसे अनन्य प्रेम करते हैं, मुसीबत और कष्ट का पहाड़ ढा देगा। “सब आदमियों की यही गति है और देवानाम्प्रिय इसे खेदजनक समझता है।” यह भाषा वैयक्तिक अनुभूति से ओत-प्रोत है, और ये शिलाएँ इतने युगों बाद भी एक पश्चात्तापी आत्मा के कदन को मुखरित कर रही हैं। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि यह सच्चा पश्चात्ताप था। क्योंकि जब यह प्रजापन जारी किया गया तब वह उस देश में धम्म के संरक्षण, जिज्ञासा और शिक्षण का आरम्भ कर

चुका था। जब कोई नया प्रदेश जीता जाता है और अभी अस्थिर दशा में होता है, तब उस देश में प्रशासन और शांतिस्थापन के लिए नियुक्त अधिकारी बहुत बार न्याय और दया की सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं। उसके अधिकारियों ने भी ऐसे अतिक्रमण किये थे और उसके एक गिलालेख से हम जानते हैं कि उसने उनसे कितना कठोर व्यवहार किया और भविष्य में ज्यादातियों को रोकने के लिए क्या-क्या कदम उठाए। इतना ही नहीं युद्ध का अमानवीय और अन्यायपूर्ण रूप उसके दिमाग में इतना चक्कर काटता रहता था कि उसे कलिंग देश में यह प्रज्ञापन खुदवाने में लज्जा अनुभव हुई। कलिंग में उसके शिला प्रज्ञापन दो स्थानों पर उत्कीर्ण हैं। उसकी विजय का वर्णन करने वाला प्रज्ञापन अन्य सब स्थानों पर तो अन्य शिला प्रज्ञापनों के साथ खोदा गया है, लेकिन कलिंग में प्राप्त हुई प्रतियों में सिर्फ यह एक प्रज्ञापन छोड़ दिया गया है। इससे अधिक पश्चात्ताप और लज्जा की भावना क्या हो सकती है ?

करीब-करीब निश्चय से कहा जा सकता है कि अशोक ने इनके बाद और कोई विजय नहीं की। परन्तु अपने विशाल साम्राज्य के होते हुए भी उसने कलिंग को क्यों जीता और अपने अधीन किया, यह रहस्य कुछ समझ में नहीं आता। अगले अध्याय में हम देखेंगे कि उसका साम्राज्य कितना विस्तृत था और वह कितनी विपुल सत्ता का अधीश्वर था।

अध्याय २

अशोक का साम्राज्य और प्रशासन

इस अध्याय में हम भरसक यह पता लगाने का यत्न करेंगे कि अशोक का साम्राज्य कहाँ-कहाँ तक फैला हुआ था और यह जानने का यत्न करेंगे कि उसकी सत्ता और प्रभुत्व किस क्षेत्र में था। और इसके बाद हम विचार करेंगे कि वह अपने राज्य में कैसे प्रशासन करता था, और क्या उसने अपने प्रशासन में कोई नयी बातें जारी की। इन दोनों बातों की जाँच, हम मुख्यतः, उसके लेखों के साक्ष्य से ही करेंगे। इनमें से पहले प्रश्न के बारे में, अर्थात् उसके राज्य के विस्तार के विषय में, हमें अन्तरग साक्ष्य (internalevidence) और बहिरग साक्ष्य दोनों, विचार के लिए उपलब्ध हैं। बहिरग साक्ष्य तो वह है जो उसके स्मारकों के प्राप्ति-स्थानों से मिलता है। हमारे लिए इनमें से सबसे महत्वपूर्ण लेख शिला प्रज्ञापन हैं क्योंकि वे इस देश की सीमाओं पर मिले हैं। अब हम पूर्व से शुरू करके पश्चिम की ओर चलेगे। उसके चौदह शिला प्रज्ञापनों की दो प्रतियाँ वगाल की खाड़ी के पास, उसके राज्य-क्षेत्र के दक्षिण-पूर्वी भाग में मिली हैं। इनमें से उत्तर वाली प्रति उड़ीसा के पुरी जिले में, भुवनेश्वर से लगभग सात मील दूर, धौलि नामक गाँव में है। दक्षिण वाली प्रति मद्रास प्रान्त के गजाम जिले में जोंगडा कस्बे में अवस्थित है। शिला प्रज्ञापनों के ये दोनों रूप नये जीते गये कर्लिंग प्रान्त में खोदे

गये थे, यह कलिंग ही, जो भारत के सबसे अधिक दक्षिण-पूर्वी भाग में था, अशोक के साम्राज्य की सबसे अधिक दक्षिण-पूर्वी सीमा बनाता होगा। उत्तर की ओर आने पर हम देखते हैं कि अशोक के शिला-प्रज्ञापनों की एक तीसरी प्रति देहरादून जिले में कालसी गाँव के पास मिलती है। पश्चिम की ओर चलने पर हमें दो रूप मिलते हैं, जो दोनों उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त में पाये जाते हैं। इनमें से एक ऐवटाबाद से पन्द्रह मील उत्तर में, मानसेरा (जिला हजारा) में खोदा गया है और दूसरा पेशावर जिले में, पेशावर से चालीस मील उत्तर-पूर्व में शाह-वाजगढी में उत्कीर्ण है। यहाँ से दक्षिण की ओर चले और पश्चिमी तट पर पहुँच जाएँ तो हमें एक प्रति काठियावाड़ में जूनागढ के पास मिलती है और एक दूसरी प्रति बम्बई से लगभग सैंतीस मील उत्तर में, थाना जिले के सोपारा स्थान पर प्राप्त होती है। अशोक के साम्राज्य की दक्षिणी सीमा पर इन चौदह शिला प्रज्ञापनों में से एक भी नहीं मिला, और वास्तव में, बहुत दिनों तक इसके साम्राज्य के दक्षिणी सीमान्त पर इसका एक भी स्मारक विद्यमान होने का पता नहीं चला था। पर १९०३ में, श्री लुइस राइस के यत्न से, गौण शिला प्रज्ञापनों की (चौदह शिला प्रज्ञापनों की नहीं) तीन प्रतियाँ उत्तरी मैसूर के चित्तलदुर्ग जिले में, एक-दूसरे के आस-पास, तीन स्थानों पर मिली। इन शिला प्रज्ञापनों से, जिनके प्राप्ति-स्थानों का उल्लेख हमने अभी किया है, हमें अशोक के राज्य-क्षेत्र के विपुल विस्तार की काफी यथार्थ धारणा हो जाती है। अब हम यह देखेंगे कि इन अभिलेखों में जो कुछ लिखा हुआ है वह हमें इस विषय में क्या बताता है। दूसरे शब्दों में, अब हमें यह देखना है कि बहिरंग साक्ष्य अंतरंग-

साक्ष्य से कहाँ तक मेल खाता है ।

कम-से-कम दो प्रज्ञापनो (गि० प्र० २ और १३) में अशोक अपने समकालीन राजाओं का उल्लेख करता है । इनमें से जो भारत के बाहर शासन कर रहे थे उनमें यवन राजा अतियोक और उससे परली और, चार राजा—तुरमाय, अतेकिन, मग और अलिक-सुन्दर—थे । अशोक के साम्राज्य के दक्षिण में, हर भारत में ही, चोड़, पाण्ड्य, केरल पुत्र, सातियपुत्र और तवपनि थे । फिर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि दो स्थानों पर (शि० प्र० ५ और १३), अशोक अपने वहिर्वर्ती प्रान्तों का उल्लेख करता है । वे हैं योन, कवोज, गधार, रास्तिक-पेतेनिक, भोज-पेतेनिक, नाभक, नाभपति, आध्र और पुलिंद । शिला प्रज्ञापन १३ में एक पदावलि के गलत पठ लिये जाने तथा गलत अर्थ कर लिये जाने के कारण बहुत दिनों तक वे सब के सब हिंद-राजा या अशोक के राज्य के सामंतीय सरदार माने जाते रहे । पर इस प्रज्ञापन के गिरनार वाले लेख के एक नष्टांश की पुनः प्राप्ति से यह अर्थ गलत सिद्ध होता है । और हमें ये नाम उन पराधीन जातियों के मानने पड़ते हैं जो अशोक के साम्राज्य के सीमांत प्रदेशों में बसी हुई थी । यह परमावश्यक है कि पहले इन प्रदेशों की, और बाद में उन राज्य-क्षेत्रों की जिन पर भारत में उसके स्वाधीन पड़ौसियों का शासन था, सीमाएँ तय कर ली जाएँ ।

योन कौन थे ? वे निश्चित रूप से ग्रीक थे । पर उनका स्थान कहाँ तय किया जाय ? यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि वे अशोक के साम्राज्य का हिस्सा थे और इसलिए उनका उसके ग्रीक

पडौसियो के राज्यक्षेत्र से कोई वास्ता नहीं था। इस यौन प्रान्त को, जो अशोक के शासन के अधीन था, अब तक सतोपजनक रूप से नहीं पहचाना जा सका। पर मैंने एक और स्थान पर सिद्ध किया है कि भारत उत्तर-पश्चिमी सीमा पर, पूर्व-सिकन्दर काल का एक ग्रीक उपनिवेश था और यह कोफेन और सिन्धु नदियों के बीच में बसा हुआ था। मेरा अब भी यही विचार है। शिला प्रज्ञापन १३ में अशोक कहता है कि मेरे साम्राज्य में यवनों के प्रदेश के अलावा और कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ ब्राह्मण, सघ और श्रमण सघ न हो। इसका यह अर्थ हुआ कि यवन प्रान्त ही एक ऐसा स्थान था जहाँ हिन्दू आर्य सभ्यता का प्रसार नहीं हुआ था। भारत के एक पडौसी क्षेत्र में यह बात तभी संभव हो सकती है जब यह माना जाय कि इसमें यवन लोग रहते थे और इसलिए वहाँ सिर्फ हेलैनिक सभ्यता फैली हुई थी। फिर, यदि ग्रीकों से भारतीयों का पहला परिचय सिकन्दर महान् ही के समय हुआ होता तो उनकी किसी और नाम से प्रसिद्ध होती, यवन (आयोनियन्) नाम से कभी न होती, क्योंकि सिकन्दर के साथ जो ग्रीक आये थे वे आयोनियन नहीं थे। आयोनिया में ही ग्रीकों की व्यापारिक उन्नति सबसे पहले और अधिक हुई थी। बहुत दूर-दूर के प्रदेशों में सबसे पहले आयोनियनों ने ही कदम रखा।^१ आयोनियों ने भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर कोई उपनिवेश, वस्तुतः बसाया था, यह बात सदिग्ध है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि आयोनियनों की साहसपूर्ण भावना के कारण ईरानियों ने सब ग्रीकों के लिए एक प्रजातीय शब्द (generic word) यौन, बनाया। और भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर

बसाये गए उपनिवेश को, चाहे उसे बसाने ग्रायोनिनियन थे या कोई और ग्रीक थे, ईरानियों के पड़ोसी भारतवासियों ने इसी कारण यून कहना शुरू कर दिया होगा। वही शब्द संस्कृत में यवन है जो पालि में योन है, और यून का पर्यायवाचक है। पर यून शब्द का उल्लेख भी संस्कृत साहित्य में मिलता है, और विलक्षण बात यह है कि यह, कम से कम एक बार, महाभारत^१ में कवोज और गंधार के साथ उसी क्रम में लिखा हुआ है जिस क्रम में अशोक के शिला प्रज्ञापन ५ में है। यदि मेरा यह विचार सही है कि योनों का स्थान कही सिन्धु और कोफेन के बीच में था, तो वह प्राचीन स्थान जिसके खडहर शाहवाजगढी के पास मिले हैं (शाहवाजगढी में अशोक के शिला प्रज्ञापन का एक पाठ मिला है), और जिसे ह्वेन्सांग ने पो-लु-शा कहा है, अशोक के बहिर्वर्ती प्रान्त का मुख्यालय (हैडक्वार्टर) हो जाता है। और कवोज-फो इस योन प्रान्त के कही आस-पास रखना होगा। महाभारत में उत्तर-पश्चिम के प्रसिद्ध योद्धाओं के रूप में यवनों के साथ ही कवोजों का उल्लेख किया गया है और द्रोणपर्व^२ में उनकी राजधानी राजपुर का भी उल्लेख है। यदि यह राजपुर वही है जिसे ह्वेन्सांग^३ ने हो-लो-शे-पु-लो कहा है और यदि हो-लो-शे-पु-लो को कनिगहम^४ ने कश्मीर के दक्षिण में स्थित राजौरी के रूप

१. XII, २०७ ४३; इसकी ओर सबसे पहले डा० एच० सी० रायचौधुरी ने अपनी पुस्तक "अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैज्याव सैक्ट" पृष्ठ १७, में ध्यान खींचा।

२. ४.५; इस निर्देश के लिए मैं डा० रायचौधुरी का ऋणी हूँ।

३. वोल, १ १६३; मैटर्स, L २८४।

४. Ancient Geography of India; पृ. १२६।

मे ठीक पहचाना है तो हम कबोज का स्थान कुछ निश्चय के साथ निर्धारित कर सकते हैं। यह राजौरी के चारो ओर का प्रान्त रहा होगा, जिसमे उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त का हजारा जिला भी शामिल होगा और शायद मानसेरा (मनसहरा) के समीप ही, जहाँ अशोक के चौदह शिला प्रज्ञापनो की एक प्रति मिली है, एक सब-डिवीजन का मुख्यालय होगा। इस प्रकार कबोज प्रान्त योन को छूता होगा, और यह दोनो गंधार को छूते होंगे जिसकी राजधानी अशोक के समय मे तक्षशिला थी, जहाँ राजप्रतिनिधि के रूप मे एक राजकुमार रहता था, जैसा कि हम और आगे चलकर देखेंगे।

श्री सेनार्ट की यह कल्पना सही मालूम होती है कि शिला प्रज्ञापन १३ मे बहिर्वर्त्ती प्रान्तो की गणना एक निश्चित क्रम मे की गयी है। इसलिए नाभक के नाभपंतियो की खोज योन-कबोजो और भोज-पेतनिको के बीच मे, अर्थात् उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त और भारत के पश्चिमी तट के बीच मे किसी जगह, करनी चाहिए। इससे बूलर^१ का यह सुझाव कमजोर पड जाता है कि अशोक के प्रज्ञापन का नाभक शब्द नाभिकपुर होगा जिसे ब्रह्मवैवर्त्त पुराण उत्तर कुरु या किसी हिमालय-पार प्रदेश मे बताता है। और किसी अन्य विद्वान् ने कोई नया सुझाव नही प्रस्तुत किया। दक्षिण की ओर चलने पर हम देखते हैं कि शिला प्रज्ञापन १३ मे भोज-पैतनिक का उल्लेख है जो शिला प्रज्ञापन ५ के रास्तिक-पेतनिक का सवादी (Corresponding) है। विद्वान् लोग अब तक पेतनिक को रास्तिक और भोज दोनो से अलग करते रहे हैं और इसे एक अलग जाति 'पैठ' का वाचक मानते रहे हैं। पर यह गलती है। नि सदेह पैठनिक

जैसे शब्द को प्रतिष्ठान (पैठन) से व्युत्पादित करना सम्भव है। पर इस शब्द का अर्थ 'पैठ के निवासी' हो सकता है, यह शब्द कबोज या गंधार जैसे किसी कबीले का वाचक नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, पैठनिक मे मूर्धन्य 'ठ' है और पेतनिक मे दत्य 'त'। इस तरह पेतनिक पैठनिक का सूचक नहीं हो सकता जैसा कि सबसे पहले वूलर ने सही तौर से बताया था। फिर, जैसा कि मैं अन्यत्र प्रदर्शित कर चुका हूँ, 'रट्टिक पेतनिक' पदावलि अंगुत्तर निकाय में उस शासक को सूचित करने के लिए प्रयुक्त हुई हैं जिसका दर्जा निचला, राजा से ठीक पिछला है, और टिप्पणीकार ने व्याख्या करते हुए पेतनिक उसे बताया है "जिसके पास मौरुसी सम्पत्ति हो।" इसलिए अशोक के लेखों में प्रयुक्त रास्टिक-पेतनिक को एक शब्द मानना चाहिए, जो "किसी राष्ट्र या प्रान्त के आनुवशिक (यानी मौरुसी) शासक का वाचक है, चाहे शुरू में उस शासक का पूर्वज किसी राजा द्वारा नियुक्त राज्यपाल ही रहा हो। प्राचीन भारत में ऐसे कितने ही शासक हुए होंगे। परन्तु शिला प्रज्ञापन ५ में उल्लिखित शासकों को हमें कहीं पश्चिमी तट पर तलाश करना है क्योंकि वहाँ उन्हें अपरान्तो—पश्चिमी तट के लोगो—में रखा गया है। स्वभावतः ये वही माने जाएँगे जो पश्चिमी भारत के गुफा लेखों में महारठी कहे गये हैं—ये छोटे शासक मालूम होते हैं, जिनका पूना और महाराष्ट्र के आस-पास वाले जिलों पर अधिकार था। इन लेखों में महाभोजो का भी छोटे शासकों के रूप में, तथा ववई प्रान्त के वर्तमान थाना और कोलाबा जिलों के अधिपति के रूप में उल्लेख है। वे निश्चित रूप से वही होंगे जो

शिला प्रज्ञापन १३ के भोज-पेतनिक हैं, और ये अपरान्त की कोई और जाति थे जिसका उल्लेख शिला प्रज्ञापन ५ में ध्वनित होता है। प्राचीन काल में अपरान्त की राजधानी गुरपारक (आजकल का सोपारा जो थाना जिले में है) थी, जहाँ चौदह शिला प्रज्ञापनों की एक प्रति भी मिली है।

कृष्णा और गोदावरी जिलों के बीच के प्रदेश को आजकल आंध्र देश, अर्थात् आंध्रों का देश, कहते हैं। पर यह स्पष्ट नहीं है कि क्या आंध्रों का मूल स्थान यही था? एक बौद्ध जातक में आंध्रपुर (आंध्रों की राजधानी) नामक एक स्थान का जिक्र है और यह तेलवाहा नदी पर बताया गया है। मैंने अन्यत्र यह सुभाव प्रस्तुत किया है कि तेलवाहा आजकल की तेल या तेलिंगिरि नदियों में से है जो एक दूसरी के आस-पास मद्रास और मध्य प्रदेश की सांभी सीमा पर बहती हैं।^१ इससे कुछ हद तक यह सिद्ध होता है कि आरम्भिक काल में आंध्र देश में जयपुर और मद्रास प्रान्त के विगाखापटनम जिले का कुछ भाग तथा मद्रास की सीमा से लगे हुए मद्रास के कुछ जिले सम्मिलित होंगे। और यह जरा भी असंभव नहीं कि निजाम राज्य के दक्षिणी भाग, और वर्तमान तेलंगाना के संवादी कृष्णा और गोदावरी जिले भी इसके अन्तर्गत रहे हों। मेगास्थनीज ने आंध्र देश की उस समय की आवादी और सैनिक शक्ति का वर्णन किया है जिस समय वह मौर्यवंश के अधीन नहीं हुआ था। इससे हम पर यह प्रभाव पड़ता है, जैसा कि वी० ए० स्मिथ^२ ने ठीक ही कहा है कि आंध्र राष्ट्र की सैनिक शक्ति “इस

१. वही, १९१८, पृ० ७१।

२. EHI, पृ० २०६।

कारण विख्यात थी कि वह प्रासी के राजा चन्द्रगुप्त मौर्य की ही सैनिक शक्ति से दूसरे नम्बर पर थी।" इससे स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि आध्र देश बहुत विस्तृत क्षेत्र रहा होगा और दक्षिण में कृष्णा के मुहाने तक गया हुआ होगा। हम आगे चलकर देखेंगे कि इसका, स्वतन्त्र चोल राज्य की अत्यन्त सभावित उत्तरी सीमाओं से भी, मेल बैठता है। अब हमे पुलिदो का स्थान तय करना है। यह सत्य है कि पुलिद किसी एक जिले तक सीमित नहीं थे बल्कि उनके अनेक अलग-अलग प्रान्तों में होने का उल्लेख है। पर शिला प्रज्ञापन १३ में उन्हें आध्रो के साथ रखा गया है जिससे पता चलता है कि हमे उनका स्थान आध्रों के कही उत्तर या उत्तर-पूर्व में मानना होगा। वायु पुराण में पुलिदो की दक्षिणी शाखा को विन्ध्य-मूलीय अर्थात् विन्ध्याचल की तलहटी के निवासियों^१ के साथ रखा गया है, और सभाष्व^२ में उनकी राजधानी पुलिदनगर बतायी गयी है और उनका राज्य चेदि देश से लगा हुआ कहा गया है। इस प्रकार अशोक के पुलिदो का बहुत सभावित स्थान मध्य प्रदेश का जबलपुर जिला हुआ जिसके अन्तर्गत रूपनाथ भी है जहाँ उसके गौण शिला प्रज्ञापनों की एक प्रति प्राप्त हुई है।

अशोक के शिला प्रज्ञापनों की विलक्षणता यह है कि वे उसके राज्य के सीमान्तों पर या उनके आस-पास मिलते हैं। पर उसमें इतना अन्तर है कि चौदह शिला प्रज्ञापन तो बहिर्वर्ती प्रान्तों की राजधानियों में उत्कीर्ण किये गये हैं, पर गौण शिला प्रज्ञापन अधिकतर

१. मार्कण्डेय पुराण, अनुवादक एफ. ई. पार्जिटर, पृ० ८३५ और टिप्पणियाँ।

२. २६. II.

उन स्थानों पर हैं, जो उसके राज्यक्षेत्र को उसके स्वतन्त्र या अर्द्ध-स्वतन्त्र पड़ोसियों के प्रदेशों से पृथक् करते हैं। यह तो हमें असंदिग्ध रूप से पता है कि धौलि और जौगडा, जहाँ चौदह शिला प्रजापनों की अधिकतम दक्षिण-पूर्व वाली प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं, एक बहिर्वर्ती प्रान्त की राजधानी, तोसाली, को और इसके सब-डिवीजन के मुख्यालय, समापा, को निरूपित करते हैं। इन प्रजापनों का एक तीसरा पाठ जुनागढ में मिला है जिसे प्राचीन काल में गिरि-नगर करते थे, यह सौराष्ट्र की राजधानी था, और सत्रप राजा रुद्रदामन के शिलालेख से हम जानते हैं कि यह द्वितीय शताब्दी ई० पू० के मध्य तक राजधानी रहा। हम देख चुके हैं कि एक चौथी प्रति बबई के पास सोपारा में मिली है, और कि यह सोपारा अपरात का मुख्य नगर था। जब कम से कम चार पाठ प्राचीन प्रांतों की तीन राजधानियों में मिले हों, तब यह कल्पना करना असंगत नहीं कि शेष प्रतियाँ भी सीमान्त जिलों के मुख्य नगरों में उत्कीर्ण की गयी होगी। इनमें से शाहवाजगढी, उपर्युक्त कारणों से, योन प्रान्त का मुख्य नगर प्रतीत होता है। और यदि निकट भविष्य में कालसी और मनसेरा के बारे में यह ज्ञात हो कि वे अशोक के राज्य के बहिर्वर्ती प्रान्तों के मुख्य नगर थे तो हमें आश्चर्य न होना चाहिए। गौण शिला प्रजापनों के प्राप्ति-स्थानों की स्थिति कुछ भिन्न है—इनमें से अधिकांश घने जंगलों के बीच में पाये गये हैं जहाँ आसपास कोई प्राचीन अवशेष नहीं। इसके सिर्फ दो अपवाद हैं, अर्थात् बैराट और मुस्की। बैराट विराटपुर या मत्स्य देश के राजा विराट की राजधानी था। मुस्की को उसके चालुक्यकालीन अभिलेखों में पिरियमासगी कहा गया है। अन्य सब स्थानों पर ऐसा प्रतीत होता है कि ये शिलालेख अशोक राज्य को स्वतन्त्र तथा अर्द्ध-स्वतन्त्र राज्यों

से पृथक् करने वाली सीमा रेखा के आस-पास थे । गीण गिला प्रजापन १ में अशोक विस्तार से प्रतिपादन करता है कि यदि जनता का आध्यात्मिक उत्कर्ष करना है तो प्रबल प्रयत्न करना परमावश्यक है, और हमें बताता है कि मैं थोड़े समय के भीतर भी बहुत कुछ कर सका हूँ । और वह इस महत्वपूर्ण तथ्य का दो उद्घृत्यों से उल्लेख करता है—पहला तो यह कि उसके, छोटे-बड़े सब अफनर, प्रजा के आध्यात्मिक लाभ के लिए प्रयत्न करें, और दूसरा यह कि अतो, या सीमावर्ती राज्यों के शासकों को भी इसका ज्ञान हो जाए, सभाव्यतः इसलिए ताकि वे भी इसी ध्येय से अपने अफसरों को प्रयत्न करने के लिए प्रेरित करें । अपने अफसरों को इस दिशा में यत्नशील रखने के लिए, अशोक का इन प्रजापनों को उत्कीर्ण कराना अनावश्यक था । अपने सब आदेशों के अनुसार यह आदेश भी उसने उचित मार्ग से उन तक पहुँचा दिया होगा । इस प्रकार गीण गिला प्रजापन उसके स्वाधीन पढीसियों की जानकारी के लिए, उनकी राजधानियों में अथवा उनके और अशोक के राज्य के साँभे सीमान्त पर उत्कीर्ण कराये गये थे । यह बात तब विलकुल स्पष्ट हो जायगी जब हम यह विचार करेंगे कि ये अंत, अर्थात् सीमावर्ती राज्यों के शासक कौन थे ।

ऊपर यह बताया गया है कि शिला प्रजापन २ और १३ में उन अंतों की सख्या गिनायी गयी है जिसके साथ उसके स्वाधीनता और समता के संबंध थे । उनको दो समूहों में बाँटा जाता है—एक वे जिनके राज्य भारत में थे और दूसरे वे जिनके राज्य भारत से बाहर थे । पहले समूह में, जैसे कि हम ऊपर देख चुके हैं, चोड़, पाण्ड्य, केरलपुत्र, रातियपुत्र, और तवपन्नि राजा थे । प्रथम तो यह ध्यान देने की बात है कि चोड़ और पाण्ड्य बहुवचन में प्रयुक्त हुए हैं

जबकि सातियपुत्र और केरलपुत्र एक वचन में । इसी तथ्य से कि पिछले दोनों का उल्लेख एक वचन में किया गया है, यह भी स्पष्ट है कि यहाँ अशोक जातियों की चर्चा नहीं कर रहा, उनके शासकों की चर्चा कर रहा है । इसलिए जब वह वैयक्तिक शासकों की चर्चा कर रहा है और बहुवचन में चोड़ो तथा पाड़्यों का उल्लेख करता है तब एकमात्र तर्कसंगत अनुमान यही हो सकता है कि अशोक के समय में, एक से अधिक चोड़ और एक से अधिक पाड़्य राजा थे । इन चार नामों में से तीन के राज्य-क्षेत्र, टालेमी और पेरिप्लस के प्रणेता द्वारा प्रस्तुत सामग्री के आधार पर, पहचान लिये गये हैं । पर इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया कि टालेमी एक के वजाय दो चोड़ राज्यों का उल्लेख करता है । पहले का मुख्य नगर "ओरथौर" था "जो सोरनागोस की राजधानी था" और सोरतई^१ के अन्तर्गत था । आसानी से पहचाना जा सकता है कि सोरनागोस और सोरतई में जो सोर शब्द है वह तमिल भाषा का सोर या चोड़ है । और सोरनागोस नाम से स्पष्ट प्रकट होता है कि जिस राजा की राजधानी ओरथौर थी वह नाग कवीले का था, पर वह सोर (चोड़) कहलाता था क्योंकि वह सोरतई (चोड़वा) का शासक था । कनिंघम ने बताया है कि त्रिचनापल्लि के निकट उरैयूर नामक स्थान ही ओरथौर है । इसलिए यह दक्षिणी चोड़ राज्य था । उत्तरी चोड़ राज्य के स्थान का संकेत टालेमी के इस कथन से मिलता है कि वैट्टिगो पूर्वत और एडीसैंथोस पर्वत के बीच में सौरई यायावर (Nomads) हैं जो "एकैंटोस की राजधानी सोर"^२ में रहते हैं । "एकैंटोस की राजधानी सोर" शब्द "सोर की राजधानी एकैंटोस" के स्थान पर भूल से

१. IA, VIII, ३६८ ।

२. वही, पृष्ठ ३६२ ।

लिखे गये समझे जाते हैं। कान्तवेल के अनुसार एक्टोम याज्जल का आरकाट (अर्काट) है। बहुत सम्भावना मोर्री जग भी यायावर नहीं थे—आर्यों ने आदिमजानियों के प्रति अपनी धृष्टता दत्तता करने के लिए उन्हें यायावार कहा, और इसी तरह उनका नाम भी चोट (सोड) या “चोर”^१ रखा। उन प्रान्त चोट राज्य में थे जिनकी राजधानियाँ ओरथुर (उरैयूर) और एक्टोम (अर्काट) में थी। पांड्यो को टालेमी ने “पाण्डिनोड” लिखा है और “मोत्राना” को “राजधानी” बताया है। यह मोत्रोरा निश्चित रूप से मद्रास प्रान्त का मदुरा नगर है। टालेमी के अनुसार, पाण्ड्य देश दक्षिण में निन्ने-वेली तक और उत्तर में कोउब्दूर वरें की आग-पान की उच्चभूमियों तक फैला हुआ था। यह सत्य है कि टालेमी ने दो चोट राज्यों की तरह दो पाण्ड्य राज्यों का उल्लेख नहीं किया। परन्तु माला यह अभि-प्राय होना आवश्यक नहीं कि अशोक के काल में दो पाण्ड्य राज्य न थे। छठी शताब्दी ई० पू० तक में बराहमिहिर उत्तर “पाण्ड्यो” का उल्लेख करता है जिससे प्रकट होता है कि उनके समय में दो, उत्तरी और दक्षिणी, पाण्ड्य राज्य थे। सम्भवतः यही अवस्था तब रही होगी जब अशोक ने अपने प्रज्ञापन जारी किये। जो हो, यदि जग देर के लिए यह मान भी लिया जाए कि उनके समय में सिर्फ एक पाण्ड्य राज्य था तो उस प्रदेश का कुछ पता नहीं चलता जो अद्य मैसूर राज्य कहलाता है। दूसरी ओर, यदि एक उत्तरी पाण्ड्य राज्य अस्तित्व मान लिया जाय तो इस स्थान का बड़ा सुन्दर समाधान हो जाता है। शेष दो दक्षिणी राज्य केरलपुत्र हैं। पिछले पुत्र जब्द से हमें इसके प्राकृत रूप ओत (सम्कृत-पुत्र) का ध्यान आ जाता है

१ CL, १६८, पृष्ठ ८-९।

२ ब्रह्मविता XVI, १०

जो भार्मलोत, भुचरोत, वालोत आदि शब्दों में हैं और जो वैसा ही है जैसा इंग्लिश में रावर्टसन, स्टिवेनसन आदि कुछ नामों का पिछला अंश 'सन' (पुत्र) है।^१ इसलिए यह प्रतीत होता है कि केरल (चेर) और सातिय नामक कबीले पहले उत्तर भारत में रहते थे, जहाँ से प्रव्रजन करके वे दक्षिण चले गये और वहाँ उन्होंने अपने उपनिवेश स्थापित कर लिये जो, कम से कम आरम्भिक काल में, केरल और सातिय के वजाय केरलपुत्त और सातियपुत्त नाम से प्रसिद्ध थे। आजकल भी ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जिनमें प्रान्तों के नाम किसी प्रव्रजित जाति के नाम पर पड़ गये हैं और उस जाति का नाम उसके मूल कबीले के नाम से निकला हुआ है।^२ केरल (चेर) और सातिय के मामले में भी यही बात हुई होगी। ऐतरेय आरण्यक^३ से पता चलता है कि चेरो की वस्ती मगध से बहुत दूर नहीं थी। ये सभाव्यतः जिला मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश) के चेरो थे, और मलाबार में बसने से पहले वे दक्षिण की ओर गये थे, इस बात का सकेत ढोयिकु^४ के पवनदूत में आये इस उल्लेख से मिलता है कि केरल ययातिनगर में थे—यह ययातिनगर आजकल मध्य प्रदेश के पूर्वी भाग में सोनपुर के पास एक छोटे कस्बे के रूप में पहचाना गया है।^५

१. JASB, १९०६, पृ० १६८ और टि० ४।

२. पश्चिमी राजस्थान में शेखावाटी और बीडावाटी भूभागों का नाम शेखावट और बीडावट के नामों पर पड़ा है और ये दोनों शेखा और बीडा के वंशज थे।

३. II. १. १।

४. JASR, १९०५, पृ० ४४।

५. EI. XI, १८९ डिस्क्रिप्टिव लिस्ट्स आफ इन्स्क्रिप्शन्स इन दि सी० पी० एंड वरार, ले० रायबहादुर हीरालाल, पृ० ६५ और टिप्पणियाँ।

इसी प्रकार क्या मूल सातिय लोग यही ही नकले जिन्हें मेगा-स्थनीज ने सेटी कहा है तथा उत्तर में बताया है,^१ और जिनका विष्णु पुराण^२ और भीम पर्व^३ में उल्लेख है पर वह गर्दीय या गर्दीय शब्दों से है ? दक्षिण भारत में उनका उल्लेख कहाँ दया, वह निश्चित नहीं । टालेमी और पेरिप्लस के प्रणेता ने दक्षिण भारत के बारे में जो सामग्री प्रस्तुत की है उनकी विवेचनात्मक समीक्षा में शायद कुछ पता चल सके । वे दक्षिण भारत में चार देश बताते हैं—लिमीराडक, एड्रोड, पाटियोनि और मोराट^४ । पिछले दो के बारे में हम देख चुके हैं कि वे क्रमशः पाट्य और जोर देश हैं । लिमीराडक दमीर-आजिक का तुल्यवाचक समझा जाता है, पर उनका अधिकांश केरलपुत्त के अधीन था । पर एड्रोड क्या है ? जैसे कभी-कभी सैंड्रोकोटोस के स्थान पर एड्रोकोटोस और मद्रागिया के स्थान पर अवरिया लिया जाता है, क्या जैसे एड्रोड सेट्रोड (=सातिय) हो सकता है ? यदि वह अटकल नहीं है तो सातिय-पुत्त का राज्य आधुनिक तिरुवाकुर होगा । क्योंकि दमीर-आजिक केरलपुत्त के अधीन था, इसलिए दक्षिण कनाडा, कोङ्गू (कुर्ग), मलाबार, तथा मैसूर का उत्तर-पश्चिमी भाग, और नायद तिरुवा-कुर का सबसे अधिक उत्तर की ओर का भाग भी केरलपुत्त की ओर के राज्य में शामिल होंगे । पेरिप्लस के प्रणेता के समय मांजिरिस (=मुयुरि कोडु) या आधुनिक कागानूर^५ केरलपुत्त की राजधानी था, जो टालेमी के लिखने के समय करीर, अर्थात् कोड्यूर

१. IA, VI, ३३६ ।

२. VP, (विलसन), II, १८० ।

३. पर्व ६, श्लोक ६३ ।

४. IA, VIII, पृ० १४५ ।

जिले में कावेरी नदी के किनारे काखूर स्थान पर था ।^१ अशोक द्वारा निर्दिष्ट दक्षिणी राज्यों की ठीक-ठीक सीमाएँ निश्चित करना तो सचमुच बड़ा कठिन है पर प्रतीत होता है कि वे सीमाएँ आपस में, तथा उसके साम्राज्य की सीमाओं से, मैसूर के चित्तलदुर्ग जिले के उत्तर में मिलती थी । क्योंकि इसी जगह, जैसे कि हम देख चुके हैं, उसके गौण प्रज्ञापनों की तीन प्रतियाँ मिली हैं । यदि इस जगह दक्षिणी राज्य अशोक के प्रदेश को नहीं छूते तो उसका एक-दूसरे के इतने निकट तीन प्रतियाँ उत्कीर्ण कराने का क्या मतलब हो सकता था ? ये राज्य, प्रायः निश्चित रूप से, चोडो (उत्तरी) पाण्ड्यों और केरलपुत्र के राज्य थे ।

इस सिलसिले में एक और जाति या देश पर ध्यान देने की आवश्यकता है जिसकी चर्चा अशोक ने शिला प्रज्ञापन १३ में की है । इस देश का नाम अटवो या अटव्य है । इसके विषय में वह कहता है : “यदि कोई व्यक्ति अपकार करे तो उसे भी देवताओं का प्रिय यथासंभव क्षमा करना चाहता है ।” और देवताओं का प्रिय अपने साम्राज्य में रहने वाले वनवासियों के प्रति समझौते की भावना प्रदर्शित करता है और उन्हें बुरे कार्यों से रुकने के लिए कहता है । देवनाम्प्रिय के पास शक्ति है यद्यपि वह अनुताप कर रहा है । (इसलिए) उनसे कहा जाता है कि “वे अपने बुरे कार्यों पर लज्जित हो जिनसे उनके जीवन का नाश न हो ।” इनसे यह प्रतीत होता है कि अटव्य या वनवासी लोग पूरी तरह से अशोक के आधीन

१. वही, XIII, ३६७-८ ।

२ इसकी तुलना ‘ख’ मिस्रि ने देवानापिये अफाका लिए चकिये खामिएवे’ से करो जो अशोक ने धौलि और जौगडा के पृथक् प्रज्ञापनों में अतो, यानी सीमान्तों, के शासकों की प्रजाओं के विषय में कहे हैं । (लेख, A पृष्ठ ८६-९०)

नहीं थे, बल्कि कुछ अग तक स्वाधीन थे। अन्यथा वह कहने का कोई मतलब नहीं कि यद्यपि उन्होंने मेरा अपकार किया है और यद्यपि मेरे पास उन्हें दण्डित करने की शक्ति है पर तो भी मैं उन्हें अपने पक्ष में करने के लिए साम, यानी मैत्री, का मार्ग अपना रहा हूँ—इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसने यह मार्ग उनी कारण अपनाया कि वह धम्म का कट्टर अनुयायी हो गया था। ये आठव्य कान थे पुराण में इनका उल्लेख पुलिंदो, विध्यमूनीयो और वैदर्यों के साथ है। और एक ताम्र-पत्र में एक परिव्राजक राजा हस्तिन को उभाना राज्य और अट्ठारह वन राज्यो (अट्ठी राज्यों) का स्वामी बताया गया है। उभाना जहाला का पुराना रूप होगा जो आधुनिक बुन्देलखंड है। अट्ठी देग, जिसमें गुप्तकाल में छोटे-छोटे क्रम-से कम अट्ठारह राज्य थे, बघेलखंड में लगाकर उड़ीसा में करीब-करीब समुद्र-तट तक रहा होगा। और इसमें इन बात की व्याख्या भी हो जाती है कि उसके गौण गिला प्रजापनों की दो प्रतियाँ कुनाथ और सहसराम में, जो अट्ठी देग के पूर्वी और पश्चिमी सीमाओं पर थे, क्यों मिलती हैं। धौलि और जोगड़ा के पृथक् प्रजापनों में अशोक अपने राज्य कर्मचारियों को उद्बोधित करता है कि वे उसकी दया और प्रेम की नीति सीमावर्ती क्षेत्र के लोगों को बताएं। उड़ीसा में, स्वाधीन या अर्ध-स्वाधीन अट्ठी देग के अलावा और कोई राज्य अशोक के साम्राज्य के सन्निकट नहीं हो सकता था।

इस प्रकार हमें अशोक के साम्राज्य के विस्तार की काफी परिगुह्य धारणा हो जाती है। भारत के दूर दक्षिण के भाग को छोड़कर, जिस पर चोड़, पाण्ड्य, सातियपुत्र और केरलपुत्र राजाओं का अधिकार था। सारा भारत उसके राज्य-क्षेत्र के अन्तर्गत था। यदि पूर्व में मद्रास के पास पुलिकाट से उत्तर में चित्तलदुर्ग तक,

जहाँ अशोक के गौण शिला प्रज्ञापनों की तीन प्रतियाँ मिली हैं, और फिर पश्चिम में दक्षिण कनाड़ा जिले की उत्तरी नोक तक एक रेखा खींची जाए तो वह मोटे तौर पर इसकी दक्षिणी सीमा बन जाएगी।

आइए, अब हम यह देखें कि अशोक ने किन ग्रीक राजाओं को अपने समकालीन बताया है, और वे कौन थे। उन सबके नाम शिला प्रज्ञापन १३ में हैं। इनमें सबसे पहले अतियोक का नाम है जो अशोक का पड़ोसी था। आगे वह कहता है कि अतियोक से परे चार राजा तुरमाय, अतेकिन या अतिकिनि, मग और अलिकसु (न्) दर राज्य करते हैं। अतियोक निश्चित रूप से सीरीया का राजा एटियाकस द्वितीय थियोस (ई० पू० २६१-२४६) और तुरमाय मिश्र का टालेमी द्वितीय फिलाडेलफोस है (ई० पू० २८५-२४७)। अतेकिन या अतिकिनि, जैसा वूलर ने कहा है, ग्रीक के एटिगोनस^१ शब्द की अपेक्षा एटिजीनस का अधिक सवादी है। पर क्योंकि एटिजीनस नाम के किसी राजा का पता नहीं चलता इसलिए अतेकिनि को मेसोडोनिया का एटिगोनस गोनाटास (ई० पू० २७६-२३६) माना गया है। मग तो स्पष्टतः सिरिन का मगस (ई० पू० लगभग ३००-लगभग २५०) है पर अलिकसुन्दर के बारे में कुछ सगुन हैं—कुछ लोगों का विचार है कि यह एपिरस का अलैग्जेडर (ई० पू० २७२—ल० २५५) था और कुछ का यह विचार है कि यह कोरिथ का अलैग्जेडर (ई० पू० २५२-ल० २४४)^२ था। शिला प्रज्ञापन २ में सिर्फ एटियोकस का उल्लेख है, और अन्य राजाओं को उसके सामन्त यानी सीमावर्ती राजा

१. ZDMG, XL, १३७।

२. JRAS, १९१४, ६४५।

कहा गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन ग्रीक राजाओं में से सिर्फ एटियोक्स के राज्य की सीमा अशोक के राज्य की सीमा से मिलती थी और हम वह भी जानते हैं कि चन्द्रगुप्त के समय से सेल्युकस और मौर्यों के राजवंशों में मैत्री के सम्बन्ध तथा दूतों का आदान-प्रदान था। पर क्या अशोक अन्य ग्रीक राजाओं का भी मित्र था? क्या उसका उन राजाओं से कोई राजनयिक समागम हुआ था? अशोक के और उनके राज्यों के बीच में बहुत अधिक दूरी रही होगी, और, प्रथमदृष्ट्या, यह सम्भाव्य नहीं प्रतीत होता कि भारत में तथा सीरिया से परे ग्रीक राज्यों में कोई राजनैतिक समागम रहा होगा। पर जहाँ तक शिला प्रज्ञापन १३ का सम्बन्ध है, इससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि वह इन ग्रीक शासकों के दरबारों में दूत भेजा करता था और सच तो यह है कि हमें पता है कि टालेमी फिलाडेल्फस ने, जो अशोक का समकालीन था, डायोनीसियोस नामक दूत मौर्य के दरबार में भेजा था।

अशोक ने अपने समकालीन ग्रीक शासकों का जो निर्देश किया है उसे, उसका समय परिगुह्य रूप से निकालने के लिए की गयी गणना का आधार बनाया गया है। पर पहले तो, हमारी गणना का आधार अभिषेकोत्तर वर्षों की सख्या ही हो सकती है, क्योंकि ग्रीक राजाओं का निर्देश या उल्लेख करने वाले प्रज्ञापनों में उसका ही जिक्र मानना होगा। हम देख चुके हैं कि ये शिला प्रज्ञापन २ और १३ हैं। पर इन्हे किन अभिषेकोत्तर वर्षों का मानना चाहिए? श्री सेनार्ट की राय है कि सारे के सारे शिला प्रज्ञापन अशोक के राज्य-काल (अर्थात् अभिषेकोत्तर काल) के चौदहवें वर्ष में उत्कीर्ण कराये गए थे, और यूरोपीय विद्वानों ने इस विचार का समर्थन किया है। पर एक तरुण बंगाली विद्वान ने इसकी तर्क-

संगतता पर आक्षेप किया है, और कुछ तर्क प्रस्तुत करके, जो प्रबल मालूम होते हैं, यह प्रदर्शित किया है कि कम से कम शिला प्रज्ञापन २ और १३ तो राज्य-काल के सत्ताईसवें वर्ष से पूर्व प्रख्यापित किए हुए नहीं हो सकते।^१ यदि यह मानले कि ये दोनों शिला प्रज्ञापन प्रट्टाईसवें वर्ष में प्रख्यापित किए गए तो यह समय उस वर्ष का सवादी होना चाहिए जिसमें वे पाँचों ग्रीक शासक जीवित थे। यदि शिला प्रज्ञापन १३ का अलिकसुन्दर एपिरस अलैग्जेंडर है तो यह वर्ष २७२ और २५५ के बीच में पड़ेगा और यदि कोरिथ का अलैग्जेंडर है तो २५२ और २५० के बीच में पड़ेगा। पिछली कल्पना अधिक संभाव्य है।^२ इस तरह यह मान सकते हैं कि अशोक के राज्य-काल का अट्टाईसवाँ वर्ष २५१ ई० पू० में बैठता है। यदि यह गणना सही है तो अशोक संभाव्यतः २७६ ई० पू० के लगभग अभिषिक्त हुआ। इस तरह की गणना का परिणाम चाहे जो हो, पर यह दो बातों पर आधारित है—एक तो शिला प्रज्ञापन २

१. अशोक का धम्मलिपीज—लेखक हरित कृष्णदेव, एम० ए०। आपका यह मुख्य सकथन निम्न प्रकार है। स्तम्भ प्रज्ञापन ७ सत्ताईसवें वर्ष में उत्कीर्ण कराया गया और सब लोग स्वीकार करते हैं कि यह उन सब विविध कार्यों का सारांश है जो अशोक ने अपने धम्म के प्रचार के लिए उस वर्ष तक किए थे। ग्रीक राजाओं के प्रदेशों में लोकोपकारी कार्य और धम्म का प्रचार करना ऐसी महत्वपूर्ण बातें हैं कि यदि अशोक को यह पता चल चुका होता कि विदेशों में किए गए उन कार्यों में कुछ सफलता हुई है तो वह इनका स्तम्भ प्रज्ञापन ७ में निश्चय ही उल्लेख करता। इनकी चर्चा का अभाव अर्थपूर्ण है और प्रकट करता है कि शिला प्रज्ञापन २ और १३, स्तम्भ प्रज्ञापन ७, अर्थात् २७वें अभिषेकोत्तर वर्ष, से पहले प्रख्यापित किये गए नहीं हो सकते।

२. JRAS, १९१४, पृष्ठ ६४५।

और १३ का समय और दूसरे, शिला प्रज्ञापन १३ में निर्दिष्ट अलिक-सुन्दर की पहचान । और क्योंकि यह दोनों बातें थोड़े-बहुत अनिश्चित प्रकार की हैं, इसलिए अशोक के राज्यारोहण की परिशुद्ध तिथि निकाल सकना हमारे लिए संभव नहीं ।

इस प्रकार हमें अशोक के राज्य के विस्तार की काफी अच्छी धारणा हो गयी । अब हम यह देखने का यत्न करेंगे कि उनमें प्रशासन कैसे चलता था । मौर्य प्रशासन पद्धति का साधारण स्वरूप हमें कौटिल्य के अर्थशास्त्र से और मेगास्थनीज के वर्णनों से मालूम हो जाता है । परन्तु यहाँ हमारा उद्देश्य यह देखना है कि अशोक के लेख स्वयं हमें इस बारे में क्या बताते हैं । यह जाँच अनावश्यक न होगी, और निश्चय ही, इससे कुछ नयी, अब तक अज्ञात, बातों पर प्रकाश पड़ेगा ।

अशोक का साम्राज्य बड़ा विस्तृत था, इसमें कोई सदेह नहीं हो सकता । इतने विस्तृत साम्राज्य को कोई अकेला व्यक्ति ठीक तरह नहीं संभाल सकता, यह भी माना जा सकता है । इसलिए उसका साम्राज्य कई भागों में बाँटा हुआ होगा जो मुगलों के सूबों के सवादी होंगे । और अशोक के लेखों से स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि उसके साम्राज्य में प्रान्तीय शासन-प्रणाली प्रचलित थी । पर उसके समय में, और गुप्त साम्राज्य के परवर्ती काल में भी, प्रान्तीय गवर्नर (राज्यपाल) दो प्रकार के रहे प्रतीत होते हैं । जो प्रान्त राजनैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे और इसलिए जिनमें राजनिष्ठ तथा चातुर्यपूर्ण प्रशासन की आवश्यकता थी, उनका प्रबन्ध राजवंश के व्यक्तियों को सौंपा जाता था और वे कुमार कहलाते थे । प्रज्ञापनों में ऐसे चार कुमार उपराजों या प्रतिनिधि-शासकों (Viceroys) का निर्देश है । एक कुमार गंधार की राजधानी तक्षशिला में

रहता था, क्योंकि सीमाप्रान्त होने के कारण वहाँ सावधान और विश्वसनीय प्रशासक की आवश्यकता थी। एक दूसरा कुमार सुवर्णगिरि में नियुक्त था जिसका स्थान अभी सतोषजनक रूप से निश्चित नहीं हो सका।^१ पर इसमें कोई सदेह नहीं हो सकता कि यह अधिकतम दक्षिणवर्ती, और अतः उस सीमावर्ती प्रान्त की राजधानी था जो चोल, पाण्ड्य और केरलपुत्र राजाओं के स्वतन्त्र राज्यों को छूता था। एक तीसरा कुमार कलिंग का अधिपति था और इसका मुख्यालय तोमली था, जो असदिग्ध रूप से धौलि है जहाँ शिला प्रजापनों की एक श्रेणी प्राप्त हुई है। क्योंकि यह एक नया जीता हुआ प्रान्त था इसलिए इसके प्रबन्ध के लिए एक विश्वस्त और सजग शासक की आवश्यकता थी और इसलिए इसे अवश्य ही एक कुमार उपराज (Viceroyalty) बना दिया गया होगा। एक और चौथा प्रान्त था जिसका शासन एक कुमार के अधीन था। यह वह प्रान्त था जिसकी राजधानी उज्जैन थी। न तो यह सीमाप्रान्त था और न नया जीता हुआ ही था, पर तो भी इसका राजनैतिक महत्त्व इतना अधिक रहा होगा कि इसका शासन राजवंश के किसी व्यक्ति को सौंपना आवश्यक था। पर अशोक के समय सिर्फ इतने ही राज्यपाल न रहे होंगे। जैसे कुछ प्रान्तों में कुमारों का शासन था वैसे ही अन्य प्रान्तों में कुमारेतर व्यक्तियों, अर्थात् राजवंश से असम्बन्धित व्यक्तियों, का शासन रहा होगा। यह तो सच है कि अशोक के लेखों से किसी ऐसे प्रान्तीय राज्यपाल का उदाहरण नहीं मिलता, पर इस तरह का एक उदाहरण रुद्रदामन के प्रसिद्ध जूनागढ़ लेख में मिलता है। यह प्राचीन अभिलेख हमें बताता है कि सुराष्ट्र

क्या यह प्रो० कृष्णस्वामी अय्यंगर की प्रस्थापना के अनुसार जिला रायचूर (निजाम राज्य) में स्थित कनकगिरि हो सकता है ?

या काठियावाड प्रान्त में चन्द्रगुप्त के समय वैश्य-पुण्यगुप्त का शासन था और अशोक के समय यवन राजा तुशास्प का प्रशासन था। कोई राजा और विशेषकर यवन राजा प्रान्तीय गवर्नर कैसे हो सकता है, यह आश्चर्य करने की बात नहीं। यह स्थिति आमेर के राजा मानसिंह की स्थिति से भिन्न नहीं है जिसे अकबर ने वगाल का शासक नियुक्त किया था। गुप्तकाल के बारे में भी हम जानते हैं कि कुछ प्रान्तीय गवर्नरों को महाराजा कहा गया है।

दामोदरपुर ताम्रपत्र लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तकाल में प्रत्येक प्रान्त में, जो भुक्ति कहलाता था, एक से अधिक विषय या जिले होते थे, और जैसे प्रान्त का गवर्नर सम्राट द्वारा नियुक्त किया जाता था वैसे ही विषय का शासक गवर्नर द्वारा नियुक्त किया जाता था। प्रादेशिक विभागों और उपविभागों के लिए अशोक के समय किन शब्दों का प्रयोग होता था, यह हमें नहीं मालूम, पर यह प्रतीत होता है कि जिले का शासक राजा द्वारा नियुक्त न होकर प्रान्त के अधिपति द्वारा नियुक्त होता था। गौण शिला प्रज्ञापनों की सिद्धपुर वाली प्रतियों से यह बात स्पष्ट मालूम होती है। इसमें अशोक इसला के महामात्रों को सीधे संबोधित न करके आर्यपुत्र या कुमार तथा उसके महामात्रों के द्वारा, जो दक्षिणी प्रान्त के अध्यक्ष थे जिसकी राजधानी सुवर्णगिरि थी, संबोधित करता है। इसका अभिप्राय यह है कि सुवर्णगिरि प्रान्त में एक से अधिक जिले थे और कि इसला इनमें से एक जिले का मुख्यालय था और सिद्धपुर प्रज्ञापन इसी जिले में अवस्थित थे। और फिर, यहाँ इसला के महामात्रों को अशोक के आदेश सपरिपद कुमार (Prince Royal in Council) की मार्फत भेजे गये हैं, सीधे नहीं, जैसे उदाहरण के लिए, कौशावी और सारनाथ के महामात्रों को (सीधे)

भेजे गये हैं। अतः स्वभावतः वह निष्कर्ष निकालना पड़ता है कि प्रान्तीय गवर्नरों को कम-से-कम कुमारों को तो अवश्य ही, अपने जिलाधीश स्वयं नियुक्त करने का अधिकार मिला हुआ था, जैसा कि गुप्त काल में निश्चित रूप से था। यही स्थिति नये विजित कलिंग प्रान्त के जिला नगर समापा के बारे में प्रतीत होती है, जौगडा के पृथक् प्रज्ञापन में सम्राट् समापा के महामात्रों को सीधे आदेश नहीं दे रहा, बल्कि वह कहता है कि ये उन तक पहुँचा दिये जायँ— अर्थात् तोसली में अवस्थित सपरिपद् कुमार द्वारा पहुँचा दिये जायँ। कुमार को अपने शासनाधीन प्रान्त में पूर्ण स्वायत्तता थी या नहीं, यह सदिग्ध बात है। प्रतीत होता है कि उसे पूर्ण और अनियंत्रित अधिकार नहीं था। यह बात इस तथ्य से कुछ-कुछ निश्चित ही है कि जहाँ कहीं अगोक स्थानिक प्रान्तीय सरकारों को संबोधित करता है वहाँ वह सिर्फ कुमार को संबोधित नहीं करता, परन्तु कुमार और उसके महामात्रों को मिलाकर कहता है, जैसे धौलि और जौगडा पृथक् प्रज्ञापनों में है। इसी तरह, जब स्थानीय सरकार अपने क्षेत्र के जिला अधिकारियों को कोई आदेश देती है तो कुमार या आर्यपुत्र स्वयं ये आदेश नहीं देता बल्कि आर्यपुत्र और उसके महामात्र ये आदेश देते हैं, जैसा कि सिद्धपुर के प्रज्ञापनों में स्पष्ट दिखायी देता है। यह बिलकुल स्वाभाविक है, क्योंकि यदि प्रान्त में राजपुत्र की शक्ति सर्वथा अनियंत्रित छोड़ दी जाए तो सदा यह खतरा है कि वह अपने आपको स्वतन्त्र राजा बना ले। इस प्रकार अगोक के समय में स्थानीय कुमार शासन वस्तुतः सपरिपद् कुमार का शासन था।

जिला प्रज्ञापन ३ में अशोक अफसरों की तीन श्रेणियाँ— प्रादेशिक, राजकु और युक्त—बताता है। डा० एफ० डब्ल्यू० टॉमस

ने सबसे पहले इस बात की ओर ध्यान खींचा कि युक्त शब्द कौटिल्य अर्थशास्त्र में इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।^१ परन्तु उन्होंने इसका अर्थ 'कोई भी अधीन कर्मचारी' लगाया है यद्यपि अर्थशास्त्र में यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि युक्त किस प्रकार के अधिकारी को कहते थे। कौटिल्य ने युक्तों और उनके सहायकों, उपयुक्तों, की चर्चा की है। पर उनके कर्तव्य एक ही प्रकार के थे और उनका वर्णन दो निरन्तर अध्यायों में किया गया है जिसे पढ़ने से यह निश्चित पता चला जाता है कि वे मुख्यतः जिला अधिकारी थे, जो राजा की संपत्ति का प्रबन्ध करते थे, राजस्व वसूलते और सँभालते थे और उन्हें उस कार्य में व्यय करने का अधिकार था जिसमें व्यय करने से राजस्व में वृद्धि की संभावना हो। युक्तों के बारे में डा० टॉमस ने मानव-धर्मशास्त्र से जो श्लोक उद्धृत किया है, उससे इस विचार की पुष्टि होती है। क्योंकि मनु कहता है कि यदि खोयी हुई संपत्ति मिल जाए तो वह युक्तों के अधिकार में रहे। इसलिए ये अधिकारी सब राजस्व और राजा की संपत्ति प्राप्त करते थे। यह विचित्र बात है कि युक्त और उपयुक्त शब्द बहुत बाद के समय तक चलते रहे। इस प्रकार राष्ट्रकूट राजा गोविंद चतुर्थ, शाक ८५३ (ई० पू० ९३०) की एक सनद (grant) में, अन्य अधिकारियों—राष्ट्र-पति, ग्रामकूट और महत्तर—के साथ युक्तक और उपयुक्तक का उल्लेख किया गया है।^२ युक्त और उपयुक्त के स्थान पर कभी-कभी आयुक्त और विनियुक्त मिलता है। इस प्रकार समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ लेख में कहा गया है कि आयुक्त "उसके बाहुबल से

१ JRAS १९०६, ४६६—७, १९१४, ३८७—९१.

२. EI, VII, ३६—४०

जीते हुए अनेक राजाओं का धन वापस कर रहे हैं।”^१ बुद्धगुप्त^२ की एक ताम्रपत्र सनद में भी आयुक्त का विषयपति या जिलाधीश के रूप में उल्लेख है।

जहाँ तक प्रादेशिक का संबंध है, डा० टॉमस का यह कथन सही मालूम होता है कि प्रादेशिक वही अफसर है जिसे अर्थशास्त्र में प्रदेष्ट्री कहा गया है। उन्होंने अर्थशास्त्र के कई स्थल इकट्ठे किये हैं जिनसे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि प्रदेष्ट्री वह “अफसर था जिस पर राजस्व व मालगुजारी सग्रह और पुलिस की जिम्मेवारी थी”^३। पर उसका कार्य सिर्फ इतना नहीं था, क्योंकि दो स्थानों पर उसे धर्मस्थ कहा गया है, जिससे ध्वनित होता है कि वह न्यायाधीश का कार्य भी करता था। और क्योंकि उसका उल्लेख अमात्य या पारिषद् (Councillor) के साथ किया गया है, इसलिए प्रदेष्ट्री ऊँची श्रेणी का अफसर था। यह बात इस तथ्य से भी मेल खाती है, जिसका अर्थशास्त्र^४ में राज्य-अधिकारियों के वेतनों वाले अध्याय में उल्लेख है कि प्रदेष्ट्री को अध्यक्ष या सुपरिन्टेण्डेंट की अपेक्षा बहुत अधिक वेतन देना पड़ता है।

राजक कौन थे, इसकी बूलर ने आशिक व्याख्या की है।^५ कुरुधम्म जातक के उद्धरणों से उसने प्रदर्शित किया है कि राजक, रज्जुक या रज्जुग्राहक का सवादी है और उसमें उसका इन पिछले

१ CII, III, १४

२ EI, XV, १३८

३ JRAS, १९१४, ३८३ से आगे; १९१५, ११२.

४ पृ० २४५

५ ZDMG, XLVII, ४६६ से आगे, फिक का ‘सोशल आर्गनाइजेशन’ आदि, (अनुवाद), १४८-९

नामो से उल्लेख है। जातक के वर्णन के अनुसार, उसका कार्य रस्सी (रज्जु) वारा जमीन नापना और इसकी सीमाएँ निश्चित करना था। क्योंकि उसको अमच्य कहा गया है, अतः वह प्रदेष्ट्री की तरह एक बड़ा अफसर था जो शायद आजकल के बन्दोवस्त अधिकारी (Settlement Officer) का सवादी होगा, जैसा कि वूलर का विचार है। उसके बहुत ऊँची श्रेणी का अफसर होने की बात तो इस तथ्य से भी प्रकट होती है कि अशोक लाखों व्यक्तियों के ऊपर रज्जुकों की नियुक्ति की बात कहता है। अपने सनय में रज्जुक पर व्यवहार और दण्ड की जिम्मेवारी थी, अर्थात् वह न्यायाधीश होता था जो पंचाट (award) और दंड दे सकता था। अब, स्ट्रैवो मजिस्ट्रेटों की एक श्रेणी की चर्चा करता है जिन पर नदियों की देखभाल की जिम्मेवारी है, जो भूमि नापते हैं (जैसे मिस्र में), और जिन्हें पुरस्कार या दंड के पात्रों को पुरस्कृत या दंडित करने की शक्ति होती है।^१ सर्वथा संभव है कि यहाँ स्ट्रैवो रज्जुको ही को लक्ष्य करके कह रहा है और कि इसलिए रज्जुक न्यायाधीश और बन्दोवस्त अधिकारी दोनों का कार्य करते थे।

एक और अफसर है जिस पर इस सिलसिले में हमें गौर करना है। उसका नगल-वियोहालक (नगर-व्यावहारिक) के रूप में पृथक् कलिंग प्रज्ञापन में उल्लेख है। वह निःसंदेह वही है जिसका अर्थ-शास्त्र^२ में पौर-व्यवहारक नाम से उल्लेख है, और प्रतीत होता है

१. इस बात की ओर सबसे पहले डा० हेमचन्द्र रायचौधुरी ने अपनी पुस्तक 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्गेंट इंडिया फ्रॉम दि एक्सपेंशन आफ परीक्षित दु दि एक्सटिक्शन आफ द गुप्त डाएनेस्टी' में ध्यान खींचा था।

२ पृष्ठ २० और २४५।

कि वह सिर्फ जिला नगरो का न्यायाधीश था। जहाँ तक उसके लिए निर्धारित वेतन का प्रश्न है, वह कुमार के समकक्ष था और निश्चित रूप से प्रदेशी या प्रादेशिक से ऊँचा पद था।

अशोक के लेखों में अधिकारियों की दो या तीन और श्रेणियों का उल्लेख है। उन सबका निर्देश शिला प्रज्ञापन १२ के अन्त में है। वे हैं धम्ममहामात, इथिज्झक महामात और व्रजभूमिक। धम्ममहामात कौन थे, यह हम अभी देखेंगे। इथिज्झक-महामात वही थे जो स्वयध्यक्ष महामात थे अर्थात् वे महामात जो स्त्रियों के अध्यक्ष (सुपरिटेण्डेंट) थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस अधिकारी का जिक्र नहीं है, पर यह अनुमान करना कठिन नहीं कि उसका कार्य क्या था। अर्थशास्त्र का अध्ययन करने वाला हर व्यक्ति अच्छी तरह जानता है कि 'धर्मस्थीय' प्रकरण में स्त्री के सम्बन्ध में उसके भरण-पोषण, उत्क्रमण (transgressions), सहपलायन (elopement) इत्यादि अनेक जटिल प्रश्नों पर विचार किया गया है। राज्य गर्भावस्था में असहाय स्त्रियों की, और उनसे उत्पन्न बच्चों की, सहायता करना भी अपना कर्तव्य समझता था। यह सर्वथा समझ में आता है कि इस कार्य के लिए एक विशेष अधिकारी नियुक्त किया जाता था और वह स्वयध्यक्ष कहलाता था। परन्तु यह कुछ समझ में नहीं आता कि व्रजभूमिक कौन थे। इस पदनाम (designation) का पहला भाग व्रज का समतुल्य माना गया है, जिसका अर्थशास्त्र में "गौश्रो, भैंसो, वकरियो, भेड़ो, गधो, ऊँटों, घोड़ो और खच्चरो के समूहों" के अर्थ में तीन बार उल्लेख है, जिससे राज्य को आय होती थी, और अर्थशास्त्र में एक अध्याय में गोध्यक्ष या गौश्रो के अध्यक्ष का भी उल्लेख है जो राजा के व्रजों का प्रबन्ध करता था, गोवश की वृद्धि की व्यवस्था करता था और राजकीय दूध का

प्रबन्ध करना था ।^१ सभाव्यतः ब्रजभूमिक राजा के या नागरिकों के श्रेणियों से सबद्ध अधिकारी थे जो या तो उत्पन्न पदार्थ राजा की ग़ाला में लाते थे और या धन राजा के खजाने में पहुँचाते थे ।

अब सिर्फ एक अधिकारी पर विचार करना ग़ैर रहा । उसको अत-महामात अर्थात् अन्त-महामात्र कहा गया है । इस पद का अर्थ “सीमाप्रान्तों के उच्च अधिकारी”, “सीमाक्षेत्रों के रक्षक” किया गया है । उनका उल्लेख स्तम्भ लेख १ में है । वहाँ अशोक का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि जैसे उसके राज्य-क्षेत्र में उसके सब श्रेणियों के अधिकारी चचल मन वाले लोगों को धम्म का अनुसरण करने के लिए प्रेरित कर रहे हैं, वैसे ही अतमहामात्र उसी ध्येय को बाहर पूरा कर रहे हैं । इससे ध्वनित होता है कि ये पिछले अधिकारी अगोक के साम्राज्य के सीमाप्रान्तों के अध्यक्ष न होकर, वे अधिकारी थे जो पड़ोसी राज्यों में भेजे गये थे और जिनका कार्य अगोक के धम्म सम्बन्धी कार्यक्रम को क्रियान्वित करना था । यह कल्पना इस तथ्य से भी मेल खाती है कि उसी प्रज्ञापन में उसने अत-महामात्रों और पुरुषों अर्थात् अपने राज्य के अफसरों का अलग-अलग जिक्र किया है । यह इस तथ्य से भी मेल खाती है कि अशोक के लेखों में जहाँ कहीं अत शब्द आया है वहाँ इसका अर्थ “सीमा-वर्ती राजा” या “सीमावर्ती राज की प्रजा” है ।

हम देखते हैं कि पिछली चार श्रेणियों के अधिकारी, यद्यपि उनके कार्य अलग-अलग हैं, सब के सब ‘महामात्र’ कहे गये हैं । इसलिए महामात्र शब्द का अर्थ एक ‘उच्च अधिकारी’ या ‘उच्च पदाधिकारी’ मात्र मानना चाहिए ।^२ यह बात इस तथ्य से भी स्पष्ट

१. पृष्ठ ६० और पृष्ठ १२८ से आगे ।

२. JRAS. १९१४, ३८६-७ ।

है कि धौलि और जौगडा पथक् प्रज्ञापन १ में नगर-व्यावहारिको को भी महामात्र कहा गया है। अशोक के लेखों में एक और साधारण रूप से प्रयुक्त होने वाला शब्द है। यह शब्द है पुरुष, जो सब तरह के अधिकारियों का सामान्य निर्देश करता है। यह बात इस तथ्य से स्पष्ट है कि स्तम्भ लेख १ में अशोक ने अपने पुरुषों को उनके उच्च, माध्यम और निम्न पदों के अनुसार तीन वर्गों में बाँटा है।

अब यह प्रश्न पैदा होता है कि राजा इन महामात्रों से किस तरह संबद्ध था। अशोक का साम्राज्य बड़ा विस्तृत था और इसलिए उसके महामात्रों की संख्या बहुत अधिक रही होगी। एक अकेला राजा इतने सारे महामात्रों से कैसे संपर्क रख सकता था। क्या लेखों में किसी ऐसे मध्यवर्ती निकाय का जिक्र है जो एक ओर तो राजा से और दूसरी ओर अधिकारियों से निकट सम्पर्क रखता था? यह निकाय परिषद् है, जिसका दो प्रज्ञापनों में उल्लेख है। स्पष्ट है कि यह अर्थशास्त्र की मन्त्रि-परिषद् है। यह उन मन्त्रियों की परिषद् थी जिनका, कौटिल्य के अनुसार, कर्तव्य था 'अनारब्ध काम को आरम्भ कराना, आरब्ध को पूर्ण कराना, पूर्ण काम को सुधारना और आदेशों का सख्ती से पालन कराना।' उनका एक और महत्वपूर्ण कार्य था समीपवर्ती अफसरों से मिलकर काम निपटाना और दूरवर्ती अफसरों को राजकीय पत्र भेजकर मंत्रणा देना। और जब कोई आकस्मिक कार्य आ पड़ता था, तब राजा सिर्फ अपने समुपदेष्टाओं (Counsellors) को ही न बुलाता था, बल्कि मंत्रियों की सभा भी बुलाता था, और सदस्यों के बहुमत के अनुसार कार्य करता था या सफलता के लिए जो मार्ग वे बताते थे उस पर चलता था। यह कौटिल्य ने लिखा है, और प्रज्ञापनों

से परिषद् के बारे में जो कुछ कहा गया है उससे मेल खाता है। इस प्रकार शिला प्रज्ञापन ३ में अशोक धम्म के दो आचार 'अपव्ययता' (अर्थात् मितव्ययिता) और 'अपभाण्डता' (अर्थात् अल्प संचय) बताता है और युक्त अधिकारियों को प्रजा में इन दो गुणों की वृद्धि करने का कार्य सौंपता है। पर क्योंकि जीवन की आवश्यकताओं के बारे में कोई दो गृहस्थी एकमत नहीं हो सकते, इसलिए सब घरों के लिए कोई कड़ा नियम नहीं बनाया जा सकता कि वे कितना सचय और व्यय करें। और इसलिए अशोक परिषद् को आदेश देता है कि वह इस सम्बन्ध में दिये गये आदेश को क्रियान्वित करने में युक्तों को मन्त्रणा और सहायता दे ताकि इसकी भावना का पालन किया जाए। इससे एक तो यह बात प्रकट होती है कि परिषद् का कार्य राजा के प्रत्येक आदेश का पालन कराना था और दूसरी यह कि यह एक ऐसा निकाय थी जो अफसरों के कार्यों का निरीक्षण और पथ-प्रदर्शन करती थी, जैसा कि अर्थशास्त्र हमें बताता है। परिषद् का जो एक और कार्य अर्थशास्त्र में बताया गया है, अर्थात् आपाती कार्य के बारे में इसका कर्तव्य, उस पर भी शिला प्रज्ञापन ६ में, जो प्रशासकीय प्रज्ञापन है, बल दिया गया है। उसमें अशोक कहता है : "और जब किसी बात के बारे में, जिसके लिए मैंने स्वयं मौखिक आदेश दिया हो कि वह जारी या प्रख्यातपि की जाए, या महामात्रों पर छोड़े हुए किसी आपाती कार्य के बारे में, परिषद् में मतभेद या अस्वीकृति हो तब, मैंने समादेश दिया है कि उसकी मुझे सब स्थानों पर और सब समय अविलम्ब सूचना दी जाए।" उसका अभिप्राय यह है कि जब उसने कोई मौखिक आदेश दिया हो, या जब किसी महामात्र पर कोई तत्काल निर्णय करने योग्य कार्य आ पड़े, तब

परिपद् की बैठक हो और वह उस पर विचार करे। यदि उसमें सर्वसम्मत् निश्चय हो तो उसका पालन न किया जाने का कोई प्रश्न नहीं पैदा होता। पर यदि उस पर सदस्यों के अनेक मत हो, या सबके सब उस आदेश के विरोध में हो तो उस मामले को उठा रखा जाए और फिर राजा यह देखे कि यह मतभेद या विरोध क्या है और यह निश्चय करे कि उनके विचारों में से कौनसा सब से अधिक प्रभावकारी हो सकता है। पर उसके कोई कदम उठाने से पहले परिपद् के विचार उसके समक्ष होने चाहिए, और उसकी कार्यवाही करने में किसी प्रकार के विलम्ब की संभावना न रहे, इसलिए वह प्रतिवेदकों को आदेश देता है कि वे परिपद् के विचार निश्चित होते ही उसे उसकी सूचना दे, चाहे वह कोई भी समय हो और चाहे वह उस समय कहीं भी हो। इस प्रकार परिपद् आधुनिक सचिवालय जैसी चीज थी, जो राजा और महामात्रों के बीच में मध्यवर्ती प्रशासक निकाय थी, और प्रतीत होता है कि एक ओर तो इसे राजा के आदेशों का पालन होने से पहले उनकी जाँच-पड़ताल करने का अधिकार था ताकि वह उन पर पुनर्विचार कर सके, और दूसरी ओर यह किसी महामात्र को किसी आपाती प्रश्न पर बिना राजा से पूछे मंत्रणा दे सकती थी वशर्ते कि इसके सदस्य महामात्र से सहमत हो। पर यदि उनमें मतभेद हो, अथवा राजा या महामात्र के निश्चय के विरोध में मतैक्य हो, तो सारा मामला राजा के पास पेश होगा क्योंकि वही अन्तिम निर्णायक था।

अशोक की प्रशासन-व्यवस्था के बारे में एक मनोरंजक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि उसके कुछ अफसरों को अपने कार्य-संपादन के लिए यात्राएँ करनी पड़ती थी। उन्हें साधारणतया विबुध या व्युठ कहते थे जिसका संस्कृत पर्याय व्युष्ट है। सारनाथ

प्रज्ञापन से यह बात स्पष्ट है, जिसमें स्थानीय महामात्रों को अपने-अपने क्षेत्राधिकार के अंत तक यात्रा करने का आदेश दिया गया है। यही आदेश रूपनाथ प्रज्ञापन में दिया गया है पर इसमें व्युष्ट अफसरों को यह आदेश दिया गया है। स्तम्भ प्रज्ञापन ७ में इन व्युष्टों को पुरुष या अफसर कहा गया है और क्योंकि वहाँ यह भी कहा गया है कि वे बहुत सारी प्रजा के ऊपर नियुक्त हैं, इसलिए प्रतीत होता है कि वे ऊँचे पदों पर थे। और, सच तो यह है कि शिला प्रज्ञापन ३ में, प्रादेशिकों, रज्जुकों और युक्तों का, अपने नियमित कार्य के लिए दौरे पर जाने का, उल्लेख है, और हम जानते हैं कि वे उच्च पदाधिकारी थे। दौरे पर गये हुए महामात्रों या अफसरों से यह आशा की जाती थी कि वे उपोसथ, अर्थात् उपवास के दिन, बारी-बारी, जिला मुख्यालय पर लौट आएँ, जैसा कि सारनाथ प्रज्ञापन से ध्वनित होता है। परन्तु तिष्य नक्षत्र के दिन—अर्थात् राजा के जन्म-दिन—उन सबका मुख्यालय पर लौट आना आवश्यक था, जैसा हम घौलि और जोगडा पृथक् प्रज्ञापन १ से जान सकते हैं।

अब हम यह देखेंगे कि अशोक शासक के रूप में क्या था। सब से पहले तो यह मनोरंजक बात देखिये कि वह प्रजा को किस दृष्टि से देखता था। पृथक् कलिंग प्रज्ञापन में उसने जो कुछ कहा है उससे उसके अन्तर्मानस की भाँकी मिलती है। उसमें वह कहता है “सब लोग मेरे सतान हैं, और जैसे मैं अपने सतानों के लिए यह चाहता हूँ कि उन्हें इस लोक और परलोक में सब प्रकार से क्षेम और सुख मिले ठीक वैसे ही मैं सारी प्रजा के लिए चाहता हूँ।” स्पष्ट है कि

अशोक राजा का वही कर्त्तव्य मानता है जो सतान के प्रति पिता का होता है—अर्थात् मौर्य काल के राजकीय निरकुशवाद (Absolutism) की ओर स्पष्ट सकेत कर रहा है।^१ जैसा वच्चे एकमात्र अपने माता-पिता के अधीन होते हैं और माता-पिता उनसे जो चाहे व्यवहार कर सकते हैं, ठीक वैसे ही प्रजा राजा की कृपा पर निर्भर थी, और राजा बिलकुल निरकुश शासक था। इस वारणा में और उस विचार में बड़ा वैषम्य दिखायी देता है जो मौर्य शक्ति के उत्थान से पहले प्रचलित था और जिसके अनुसार राजा राज्य का केवल सेवक माना जाता था और वह निर्दिष्ट कर ही लगा सकता था ताकि उसे अपनी सेवाओं का पारिश्रमिक मिल सके।

अशोक ने अपने शासन में जो सुधार जारी किये उनमें जिस चीज की ओर उसने विशेष ध्यान दिया और जिसमें वह विशेष रूप से सजग था—वह था न्याय-प्रशासन। जब उसने कलिंग को जीतकर अपने साम्राज्य का एक प्रान्त बनाया और उसका शासन एक सपरिषद् कुमार को सौंपा तब भी वह इस विषय में बड़ा सचेत रहा। धौलि और जौगडा, दोनों, में प्राप्त हुए पृथक् प्रज्ञापन १ में उसने नगर-व्यावहारिकों को बड़ी सख्ती से आड़े हाथों लिया है क्योंकि तोसली और समापा जिला नगरों के कुछ व्यक्तियों को मनमानी कैद दे दी गयी थी या अकारण परेशान किया गया था। वह इन्हें सीधे शब्दों में समझाता है कि तुमने मेरे इन शब्दों का अर्थ पूरी तरह ग्रहण नहीं किया कि सारी प्रजा मेरी सतान है और मैं सारी

१. यह बात कौटिलीय अर्थशास्त्र से भी मेल खाती है, जिसमें कम से कम दो स्थानों पर (पृष्ठ ४७ और २०८) राजा-प्रजा का सम्बन्ध पिता-पुत्र का सम्बन्ध बताया गया है, जैसा कि कलकटा रिव्यू, १९२२, पृ० ३६३, में दिखाया गया है।

प्रजा के लिए उसी प्रकार आधिभौतिक और आध्यात्मिक सुख की कामना करता हूँ जैसे अपनी सत्तान के लिए। भर्त्सना कर चुकने के बाद वह उन्हें एक सुन्दर सलाह देता है। वह उन्हें सच्चे दिल से निर्देश देता है कि वे “ईर्ष्या, अ-परिश्रम, निष्ठुरता, अवैर्य, वाग-वार यत्न के अभाव, अकर्मण्यता और आलस्य से सतर्क रहे और अपने अन्दर “परिश्रम और धीरता” का विकास करें।” वह उन्हें ध्यान दिलाता है कि यदि उन्होंने अपने कर्त्तव्य का लगन से पालन नहीं किया तो उन्हें न तो स्वर्ग मिलेगा और न वे राजा का ऋण चुका सकेंगे। अब भी यह शका बनी रहने के कारण कि इन सब भर्त्सनाओं के बावजूद स्थिति में शायद सुधार न हो और मनमानी कैद और अकारण तग करना शायद जारी रहे, वह उन्हें चेतावनी देता है कि मैं प्रति पाँचवे वर्ष एक महामात्र यह निश्चित करने के लिए भेजूँगा कि न्याय के उचित प्रशासन के बारे में मेरे सब आदेशों का पालन किया जाए। यह सोचकर कि अन्य प्रान्तों में भी ऐसा कुशासन उत्पन्न होने पर उसका उपचार करने की प्रतीक्षा में बैठे रहना ठीक नहीं, वह तक्षशिला और उज्जैन में नियुक्त राजकुमारों को आदेश देता है कि वे अपने-अपने अधीन प्रदेसों में इसी लक्ष्य से इस प्रकार के महामात्रों को दौरे पर खाना करे।

प्रश्न पैदा होता है कि ये महामात्र कौन थे जो जिलों में मनमानी कैद के या तग करने के मामलों का पता लगाने के लिए नियुक्त किए गए थे। उनके बारे में एक ध्यान देने की बात यह है कि उन्हें अपने नियमित कार्य की उपेक्षा किये बिना यह कार्य करने के लिए कहा गया है। और यह लगभग निश्चित प्रतीत होता है कि वे धर्म महामात्र थे जिनका सबसे पहले शिला प्रज्ञापन ५ में उल्लेख है। इस प्रज्ञापन में अशोक कहता है कि सबसे पहले मैंने

ही इस प्रकार के अफसर नियुक्त किये हैं, और उनके कर्त्तव्य निर्दिष्ट करता है। क्योंकि अशोक के धम्म का उद्देश्य प्रजा के ऐहिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के कल्याण की चिन्ता करना था, इसलिए धर्म महामात्रों के कार्य के भी दो भाग थे। अशोक ने उन्हें प्रजा का आध्यात्मिक सुख किस रीति से उत्पन्न और सवधित करने के लिए आदेश दिये थे, यह हम उस समय देखेंगे जब धर्म-प्रचारक के रूप में अशोक की सफलताओं पर विचार करेंगे। यहाँ तो हम उनके उन कर्त्तव्यों पर विचार करना चाहते हैं जो आधि-भौतिक सुख के विषय में थे। और इस सिलसिले में उनका एक कर्त्तव्य यह था कि जिन्हें कैद किया गया है उनका निरीक्षण करे, यदि किसी बड़े परिवार का बन्धु हो तो उसे आर्थिक सहायता दे, यदि उस पर अत्याचार होता हो तो उसे वेडी से मुक्त कर दे, और यदि वह बहुत बृद्ध हो तो उसे रिहा भी कर दे। इससे एक तो यह बात स्पष्ट प्रकट होती है कि अशोक ने पृथक् कलिंग प्रजापन में प्रान्तीय नगरों के न्याय-प्रशासन का धूमते-फिरते महामात्र द्वारा जो अधीक्षण जारी करने की चर्चा की है, वह वस्तुतः धर्म महामात्रों के सुपुर्व किया गया था। एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्हें न केवल यह अधिकार दिया गया है कि वे अत्याचार में पीड़ित व्यक्ति को वेडी से मुक्त करके न्याय के अतिक्रमण का निवारण करे, बल्कि यह कार्य भी सौंपा गया है कि यदि अपराधी का परिवार असहाय अवस्था में हो तो उसके भरण-पोषण के लिए आर्थिक सहायता देकर, या यदि अपराधी बूढ़ा हो गया है और कारागार में बंद किए जाने योग्य नहीं रह गया है तो उसे रिहा करके भी, न्याय के साथ दया का समिश्रण करते रहे। परन्तु उन्हें अशोक के साम्राज्य के उस भाग में, जिसमें यवनों, क्वोजो, गांधारों, राष्ट्रको

के देश और अन्य अपरात थे, एक भूत दया का कार्य भी करना होता था। उन्हें ब्राह्मण और गृहपति वर्ग के उन लोगों की सुख-सुविधा को देखना होता था जो दासों की सी अवस्था में पहुँच गये थे, और साधारणतया सब असहाय वृद्धों की देखभाल करनी होती थी। असहाय और वृद्धों को राज्य से आर्थिक सहायता देने का विचार कोई नया नहीं है और अशोक के समय से पहले भी विदित था। कौटिलीय अर्थशास्त्र में कहा गया है— “राजा अनाथों, वृद्धों, अशक्तों, दुःखितों और असहायों का भरण-पोषण करे।” संभव है कि अशोक के समय तक राजा के इस कर्त्तव्य का पालन न करने का ही चलन हो, और इस चलन को हटाने तथा उस कर्त्तव्य का पालन करने के लिए अशोक ने यह कार्य धर्म महामात्रों को, जो उसने ही सबसे पहले नियुक्त किये थे, सौंपा हो। यदि क्षण भर के लिए हम यह मान लें कि यह मानवीय कार्य अशोक की अपनी ही सूझ न था। तो भी उसने, जहाँ न्याय नहीं हुआ वहाँ फिर से और सुनिश्चित रूप से न्याय कराने का, और जहाँ न्याय से निष्ठुरता होने की संभावना थी वहाँ दया से इसको हलका करने का, जो ध्येय बनाया, वह कोई मामूली बात नहीं थी। शासक के रूप में अशोक का यह एक चित्र है।

धर्म महामात्रों का पद अशोक ने स्वयं बनाया था और उसने इन पदों पर पहली नियुक्तियाँ अपने राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष में की, जैसा कि वह शिला प्रज्ञापन ५ में हमें बताता है। इस समय के आस-पास उसने एक और प्रशासनीय सुधार किया प्रतीत होता है। इसका वर्णन अगले प्रज्ञापन में किया गया है, और यह राज-कार्य

तत्परतापूर्वक करने के सम्बन्ध में है। पूर्वी देशों में और विशेषकर भारत में प्रजा के लिए राजा की उपगम्यता राजा का सर्वश्रेष्ठ गुण माना जाता है। पर अशोक ने जिस मात्रा तक यह गुण प्रदर्शित किया उससे आगे बढ़ना शायद अशक्य है। शिला-प्रज्ञापन ६ में वह कहता है कि राज-कार्य सम्बन्धी सूचनाएँ मुझे हर समय और हर स्थान पर पहुँचायी जा सकती हैं, चाहे मैं भोजन कर रहा होऊँ, चाहे अन्त पुर में, चाहे शयनागार में, चाहे पशुशाला में, ढोड़े पर या उद्यानों में होऊँ। इसी सिलसिले में उसने प्रतिवेदकों या सूचना देने वालों का तथा परिषद् के विचार का उल्लेख किया है जिसकी हमने ऊपर चर्चा की है। जिस सच्चाई या उत्साह से उसने अपने आपको उपगम्य बनाया है, वे उसके इन शब्दों में साफ और अमिट रूप में गूँज रहे हैं। वह कहता है - “राज-कार्य में मैं कितना ही उद्योग करूँ, पर उससे (मुझे) सतोष नहीं होता। सब लोगों की भलाई करना ही मैंने अपना श्रेष्ठ कर्त्तव्य माना है। और इस सब का मूल भी उद्योग और राज-कार्य संचालन ही है। सर्व-लोक हित से बढ़ाकर और कोई अच्छा काम नहीं है। जो कुछ पराक्रम मैं करता हूँ वह इसलिए है कि प्राणिमात्र का मेरे ऊपर जो ऋण है, उससे मैं मुक्त होऊँ और उनका इस लोक तथा परलोक में हित बढ़े। यह धर्मलेख मैंने इसलिये लिखवाया है कि यह चिरस्थायी रहे और मेरे पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र इसी प्रकार सब लोगों की भलाई के लिए सदा उद्योग करें। पर अत्यधिक प्रश्न के बिना यह कठिन कार्य है।”

प्रतीत होता है कि लगभग तेरह वर्ष तक अशोक ने अपनी प्रशासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया। पर अपने अभिषेक के छब्बीसवें वर्ष में उसने, विशेषकर प्रान्तों में

न्याय-प्रशासन को और अधिक सुचारुने के लिए एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया। स्तम्भ प्रज्ञापन ५ हमें बताता है कि उन वर्ष उगने 'रज्जुको' को न्यायिक अनुसधान और दंड के विनिर्णय का एकमात्र अधिष्ठाता बना दिया ताकि वे विज्वान के साथ और निर्णय होकर अपने कर्तव्य पूरे कर सकें, प्रान्तों की प्रजा के हित और गुण की वृद्धि कर सकें, और (उन्हे) उपहार दें सकें।" उन्ही प्रज्ञापन में आगे कहा गया है कि "रज्जुक लोग यह मानूम करें कि किन बातों से प्रजा को सुख मिलता है और किनसे दुःख, और प्रान्तों के लोगों और धार्मिक व्यक्तियों को धर्माचरण के लिये उद्बोधित करें, ताकि उन्हे इहलोक और परलोक में सुख प्राप्त हो।" स्पष्ट है कि उनके राज्यकाल के छब्बीसवें वर्ष रज्जुको के दो कर्तव्य थे—प्रान्तों की प्रजा के लौकिक सुख की वृद्धि कराना और उसका पारलौकिक मंगल करना। उसने अपना दूसरा कर्तव्य पालन करने की कितनी यथार्थ रूप से आगा की जाती थी, यह हम तब देखेंगे जब अशोक के धर्म-प्रचारक रूप पर विचार करेंगे। यहाँ हम जानने का यत्न करेंगे कि किन प्रशासनीय सुधारों द्वारा, रज्जुको से पहले उद्देव्य की पूर्ति की आगा की जाती थी। हमें पता चलता है कि उन्हे न्यायिक अनुसधान और दंड के विनिर्णय का एकमात्र अधिष्ठाता बना दिया गया था। यहाँ दो प्रश्न पैदा हो सकते हैं। पहला यह है कि "उन्हे इसका एकमात्र अधिष्ठाता क्यों बनाया गया?" अशोक इसका उत्तर देता है, और वह यह है कि न्यायिक अनुसधान में एकरूपता लाने के लिये और दंड के विनिर्णयन में एकरूपता लाने के लिए। अब जो दूसरा प्रश्न पैदा होता है वह यह है : "यहाँ एकरूपता से अशोक का क्या अभिप्राय है?" यह जरा टेढ़ा प्रश्न है। परन्तु संभाव्यतः उसका यह अभिप्राय था।

न्याय-प्रशासन से सम्बद्ध अफसर सिर्फ रज्जुको ही नहीं थे। हम ऊपर देख चुके हैं कि कम से कम दो और भी अफसर थे—एक नगर-व्यवाहारिक और दूसरा प्रादेशिक (प्रदेष्टी), जो न्यायाधीश का भी कार्य करते थे। क्योंकि इस तरह एक ही जिले में न्यायिक तथा अन्य कार्य करने वाले अफसरों की तीन श्रेणियाँ थी। इस लिए प्रक्रिया और निर्णय के मामले में एकरूपता संभव नहीं थी। कारण एक जिले के लोगों के लिये भी न्याय-प्रशासन एकरूप होने की आशा नहीं की जा सकती थी। यह सचमुच एक दोष था, और अशोक ने न्याय-विभाग का सारा काम रज्जुको को सौंपकर तथा अन्य दो श्रेणियों के अफसरों को इस भार से मुक्त करके इस दोष को दूर करने का यत्न किया। इसलिये अशोक सचमुच सतोष-पूर्वक यह कहने का अधिकारी था—“जैसे कोई व्यक्ति अपना बच्चा कुशल धाय को सौंपकर निश्चिन्त होता है और अपने आप से कहता है : “कुशल धाय मेरे बच्चे का पालन करना चाहती है,” वैसे ही मैंने प्रान्तीय लोगों के हित और सुख के लिए रज्जुको को नियुक्त किया है ताकि वे निर्भय, निःसंकोच और निर्विघ्न अपना कर्तव्य निष्पन्न कर सकें।”

जिस वर्ष अशोक ने न्याय-प्रशासन में उपर्युक्त सुधार किया, उसी वर्ष उसने दंड संहिता की कठोरता को हलका करने का यत्न

१. इस अंश से प्रतीत होता है कि रज्जुको को न्याय-कार्य के सम्पादन की उच्चतम शक्तियाँ दे दी गई थीं और अशोक ने उच्चतर अधिकारियों के पास अपील की व्यवस्था खत्म कर दी थी। प्रतीत होता है कि छव्वीसवें वर्ष में जब राजा ने न्याय-प्रशासन एकमात्र रज्जुको को सौंप दिया तब उसने धम्म महामात्रों द्वारा न्याय के पुनरीक्षण (या नजरसानी) को भी समाप्त कर दिया।

भी किया। उसी प्रज्ञापन, अर्थात् स्तम्भ प्रज्ञापन ४ में कहा गया है कि उसने प्राण-दंड पाये हुए लोगों को तीन-तीन दिन की मोक्षलत दी। इसका उद्देश्य यह था कि उन्हें प्राण-दंड पाने से पहले मोक्षने-विचारने का अवसर मिल सके और वे परलोक के लिए अपने को योग्य बना सकें।)

अध्याय ३

अशोक बौद्ध के रूप में

अशोक ने अपना जो मुख्य ध्येय बनाया था और जिसकी सिद्धि के लिए उसने अपना सारा तन-मन लगा दिया था वह था धम्म का प्रचार। उसका शायद ही कोई लेख हो जिसमें इस धम्म की चर्चा न हो, या जो किसी-न-किसी तरह इससे सबद्ध न हो। उसके शिला और स्तम्भ प्रज्ञापनों को धम्मलिपि नाम से अभिहित किया गया है अर्थात् धम्म सम्बन्धी लेख। अशोक का धम्म से ठीक-ठीक क्या अभिप्राय था, यह हम अगले अध्याय में देखेंगे। यहाँ हम यह विचार करेंगे कि वह किस धम्म को मानता था, और इसके साथ उसका क्या संबंध था।

यह बताना तो अनावश्यक ही है कि अशोक बौद्ध मत का अनुयायी था। सब बौद्ध अभिलेखों से प्रकट होता है कि वह इस धम्म का पोषक था। दूसरी ओर, ऐसा कोई साहित्यिक या धार्मिक ग्रन्थ नहीं है जो यह कहता हो कि उसने कोई और धर्म ग्रहण किया था। उसके लेख हमें क्या बताते हैं? यही एक असली प्रश्न है जिसका हमें उत्तर देना है। जब अशोक के लेखों का अध्ययन आरम्भ हुआ और सिर्फ कुछ ही लेखों का पता चला था, तब एच० एच० विल्सन ने उसके बौद्ध मतावलम्बी होने पर विवाद उठाया, और एडवर्ड टॉमस ने यह स्थापना की कि अशोक पहले जैन था।

पर बाद में वह बौद्ध हो गया ।^१ पर अब अशोक के बौद्ध मतावलम्बी होने पर विवाद की गुजाइश नहीं है । भानू प्रज्ञापन से, जिसे द्वितीय वैराट प्रज्ञापन भी कहते हैं, यह बात अगदिग्ध रूप में सिद्ध हो चुकी है । इसके शुरू में अशोक बौद्धमत के प्रसिद्ध तीन सूत्रों के शब्दों ही में बुद्ध, धम्म और सघ का अभिवादन करना है । और भी अभिलेख हैं जिनसे यही निष्कर्ष निकलता है । वितसन और टॉमस के विचार अनिर्भरणीय पाठों और अर्थार्थ निर्वचनों पर आधारित थे और अब विद्वान् लोग उन्हें नहीं मानते । अब जिस प्रश्न के बारे में मतभेद हो सकता है वह यह है कि अशोक बौद्ध मत का अनुयायी कब हुआ ? इस प्रश्न पर जिस विद्वान् ने सबसे पीछे विचार किया वह स्वर्गीय डा० जे० एफ० फ्लीट थे । आपकी मान्यता थी कि शिला और स्तम्भ प्रज्ञापनों में उल्लिखित धम्म किसी भी तरह बौद्ध धम्म नहीं है क्योंकि उसमें कहीं भी बुद्ध का उल्लेख नहीं है और सघ का सिर्फ एक बार जिक्र है और वह भी इस ढंग से कि उसे अन्य मतों के बराबर स्थान दिया गया है । डा० फ्लीट कहते हैं कि इस प्रकार इन प्रज्ञापनों का उद्देश्य "बौद्ध या किसी अन्य धर्म-विशेष का प्रचार करना नहीं है बल्कि अशोक के इस सकल्प की उद्घोषणा करना है कि वह अपने राज्य का, धर्मात्मा राजाओं के कर्तव्य के अनुसार, धर्म और दया से शासन करेगा ।"^२ दूसरे शब्दों में, फ्लीट शिला और स्तम्भ प्रज्ञापनों में प्रयुक्त धम्म शब्द को 'राजाओं के साधारण धर्म' का सूचक मानता है जो धर्मशास्त्र १, ११४ में राजधर्म सम्बन्धी प्रकरण में विहित हैं । उसके अनुसार, अशोक अपने अभिलेख के ३०वें वर्ष बौद्ध हुआ,

१. JRAS., (NS), जिल्द IX, पृ० १५५ और १८० ।

२. वही, १९०८, पृ० ४९—१२ ।

अर्थात् स्तम्भ प्रज्ञापनो के उत्कीर्ण कराये जाने के दो वर्ष बाद । स्पष्टतः प्लीट ने इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया कि अशोक ने जिस धम्म की चर्चा अपने गिला और स्तम्भ प्रज्ञापनो में की है, वह उसके अपने या उसके अफसरो के आचरण के लिए अभिप्रेत नहीं है बल्कि उसकी प्रजा के आचरण के लिए अभिप्रेत है । इस प्रकार यह धम्म सभवतः राजधर्म नहीं हो सकता—राजधर्म में तो राजा और उसके अफसरो के कर्तव्य संग्रहीत हैं, प्रजा के नहीं । स्मिन्देश लेख से भी सूचित होता है कि अपने राज्य-काल के बीसवें वर्ष अशोक ने स्वयं बुद्ध के जन्म-स्थल की यात्रा की और वहाँ पूजा की । इससे यह स्पष्ट है कि अपने राज्य-काल के बीसवें वर्ष वह बौद्ध था । लेख के शब्दों का स्पष्टतः यह अर्थ है कि अशोक स्वयं बुद्ध के जन्म-स्थान पर गया और उसने वहाँ पूजा की—इसका यह अर्थ नहीं है, जो डा० प्लीट ने लगाया है कि अशोक ने स्वयं उस जगह जाकर उस जगह को सम्मानित किया । फिर शिला प्रज्ञापन में अपने राज्य-काल के दसवें वर्ष वह सबोधि गया । यहाँ सबोधि का अर्थ चाहे 'परम ज्ञान' या ऐसा ही कुछ और हो, जैसे विद्वान् लोग मानते हैं, अथवा 'वह स्थान जहाँ बुद्ध को ज्ञान हुआ था' हो, जैसे मैं समझता हूँ, पर यह सब स्वीकार करते हैं कि यह शब्द बौद्ध धर्म ग्रंथों का एक पारिभाषिक शब्द है और इसे डा० प्लीट की धारणा के अनुसार सामान्य संस्कृत शब्द सबोध के सम-तुल्य सभवतः नहीं माना जा सकता । इस प्रकार इस शिला प्रज्ञापन से सिद्ध होता है कि अपने राज्य-काल के दसवें वर्ष भी अशोक बौद्ध था ।

परन्तु यह साक्ष्य मिलता है कि अशोक कम-से-कम दो वर्ष पूर्व बौद्ध हो गया था । यह साक्ष्य गौण शिला प्रज्ञापन १ में है जिसकी

प्रतियाँ कम-से-कम छः अलग-अलग स्थानों पर मिली हैं। इस प्रज्ञापन को वह इस तरह गुरु करता है: “ढाई वर्ष पूर्व मैं एक साधारण उपासक था, पर मैंने उद्योग नहीं किया था। एक वर्ष, बल्कि एक वर्ष से कुछ अधिक, हो गया जब से म सघ में रह रहा हूँ और मैंने उद्योग किया है।” इसलिए जब यह प्रज्ञापन उत्कीर्ण किया गया तब उसे बौद्ध हुए लगभग पौने चार वर्ष हो चुके थे। इसी प्रज्ञापन में उसके धार्मिक उत्साह के कार्य का जिन शब्दों में वर्णन है उनसे उस गिला प्रज्ञापन ४ का स्मरण हो आता है और दोनों की थोड़ी-सी भी तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों में अशोक ने एक ही वस्तु, अर्थात् अपने धर्म-प्रचार सबधी कार्य, का वृत्तान्त दिया है। अब यह ध्यान देने की बात है कि गिला प्रज्ञापन ४ में यह उल्लेख है कि यह प्रज्ञापन अशोक के राज्य-काल के बारहवें वर्ष उत्कीर्ण हुआ। इसलिए अशोक ने इस समय से पौने चार वर्ष अर्थात् आठवें वर्ष पूर्व बौद्ध मत ग्रहण कर लिया होगा। इस प्रकार अशोक के जीवन के इस काल की मुख्य घटनाएँ संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती हैं। वह अपने राज्य-काल के आठवें वर्ष बौद्ध हो गया था, जैसे कि हम अभी देख चुके हैं। लगभग ढाई वर्ष तक वह साधारण बौद्ध रहा पर वह अधिक उत्साही न था और उसने बौद्ध मत के प्रचार के लिए कोई उद्योग नहीं किया। इसके बाद एक वर्ष तक वह सघ के साथ रहा और उसने ऐसा प्रचार-कार्य किया कि इस अवधि के बाद अर्थात् अपने राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष, वह सच्चे दिल से कह सकता था कि मैंने प्रजा में धम्म की वैसी वृद्धि की है जैसी पहले कभी नहीं हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने राज्याभिषेक के आठवें वर्ष उसने बौद्ध मत अंगीकार कर लिया था। पर इसी वर्ष उसने कलिंग को

अपने अधीन किया था। और विद्वानों की धारणा है कि कलिंग युद्ध से ही उसे धर्म-परिवर्तन की प्रेरणा मिली। उनके विचारों के अनुसार, इस युद्ध की भीषणता ने उसमें ऐसी ग्लानि पैदा कर दी कि उसका मन धर्म की ओर मुड़ गया और वह बौद्ध मत का अनुयायी हो गया। परन्तु यह निष्कर्ष उसके शिला प्रज्ञापन १३ से, जो कलिंग के साथ हुए युद्ध का उल्लेख करने वाला एकमात्र प्रज्ञापन है, प्रमाणित नहीं होता। इस शिलालेख में न केवल कलिंग की जनता पर आयी मुसीबतों का सजीव चित्र है, बल्कि अशोक के पञ्चात्तापपूर्ण मानस की मर्मस्पर्शी दशा का भी चित्रण है। यह सत्य है कि इस प्रज्ञापन में यह कहा है: “अब कलिंग के जीते जाने के बाद (ततो पच्छा अधुना) देवताओं के प्रिय धम्म की सोत्साह परिरक्षा, सोत्साह अभिलाषा और सोत्साह शिक्षा करता है।” परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसने धम्म की अभिलाषा, परिरक्षा या शिक्षा, कलिंग युद्ध के द्वारा अपने जीवन-मार्ग में आये किसी परिवर्तन के कारण आरम्भ की। युद्ध की मुसीबतों और भीषणताओं पर उसका पञ्चात्ताप और धर्म की सोत्साह शिक्षा और परिरक्षा उस समय का निर्देश नहीं करती जब कलिंग उसके साम्राज्य का हिस्सा बना, बल्कि उस समय का निर्देश करती हैं जब शिला प्रज्ञापन १३ प्रख्यापित किया गया। अशोक इस प्रज्ञापन में जो कुछ कहता है वह यह नहीं है कि युद्ध के अत्याचारों ने उसे गम्भीर और अनुशोक-मग्न कर दिया है और उसका मन बौद्धमत की ओर फेर दिया है, बल्कि वह स्पष्ट रूप से यह है कि वह पहले से बौद्ध था और इसलिए युद्ध पर लज्जित है और इस प्रज्ञापन को प्रख्यापित करने के समय वह धम्म के लिए गम्भीर लालसा अनुभव करता था। निःसंदेह, कलिंग-विजय और उसका बौद्ध-धर्म-ग्रहण

दोनों घटनाएँ उसके अभिषेक के आठवें वर्ष में हुईं, पर पहली घटना दूसरी का कारण नहीं थी। क्योंकि, यदि क्षण भर के लिए यह मान लिया जाए कि उसके बौद्ध होने का कारण कर्त्तग-युद्ध था तो तब हमें यह भी मानना पड़ेगा कि जब उसने यह प्रान्त जीता और वह बौद्ध हो गया उसके तुरन्त बाद वह उत्साहपूर्वक भ्रम की परिरक्षा और निक्षा कर रहा था, जैसा कि शिला प्रज्ञापन १३ हमें बताता है। पर यह बात उस बात से मेल नहीं खाती जो गौण शिला प्रज्ञापन १ उसके विषय में कहता है और वह यह कि जब पहले ढाई वर्ष पूर्व वह साधारण बौद्ध था तब उत्साही प्रचारक नहीं था।

अशोक हमें बताता है, जैसे कि हम देख चुके हैं, कि ढाई वर्ष से अधिक समय तक वह साधारण उपासक था और इसके बाद वह सघ में गया और उसके साथ एक वर्ष से अधिक रहा। परन्तु उसके इस कथन का आशय है कि मे सघ में गया और उसके साथ रहा। यह वाक्य विद्वानों के लिए बड़ी पहेली रहा है। श्री सेनार्ट का विचार है कि यह सघ में राजा के उस गमन को निर्दिष्ट करता है जो उसने राजकीय गोभा के साथ किया था, और जिसमें उसने सघ में अपना आसन ग्रहण करके अपने बौद्ध हो जाने की सार्वजनिक घोषणा की थी, जैसा कि सिंहल के इतिहास ग्रन्थ 'महावग्ग' से हमें मालूम होता है। इसी अवसर पर अपने पुत्र और पुत्री को सघ में प्रविष्ट करके उसने अपनी श्रद्धा की सत्यता प्रदर्शित की। पर यह निर्वचन स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि, जैसा कर्त्त और बूलर ने बताया है, अशोक यहाँ अपने उपासक होने के समय की अपने सघ में होने के समय से तुलना कर रहा है और महावग्ग

मे यह कही नहीं कहा गया कि जब उसने सघ की राजकीय यात्रा की तब वह साधारण उपासक नहीं रहा।^१ इसलिए इन दो विद्वानों की मान्यता के अनुसार, उसका आशय यह है कि वह सघ में प्रविष्ट हो गया और इस प्रकार भिक्षु बन गया। यद्यपि इन विद्वानों ने श्री सेनार्ट के मन्तव्य पर जो आपत्ति उठायी है वह महत्त्वपूर्ण है, पर जो निर्वचन उन्होंने स्वयं प्रस्तुत किया है वह भी उतने ही भारी आक्षेप से वच नहीं सकता। अशोक द्वारा प्रयुक्त सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द ये हैं : मया सघे उपयीते (उपेते, उपयाते, या उपगते)। उपयीते या इसके पर्यायों का अर्थ 'प्रवेश करना' न होकर (सघ के) 'पास जाना' या (उसके साथ) 'संबद्ध होना' है। दूसरे, यह बड़ी सदिग्ध बात है कि क्या उस आरम्भिक काल में जब बौद्ध धर्माचार्यों को अपने सघ के नियमों की कठोरता कम करने की प्रेरक कोई लाभेच्छा या किसी तरह की लौकिक भावना नहीं हो सकती, वे एक व्यक्ति को एक ही समय में भिक्षु और राजा दोनों का कार्य करने देते। वी० ए० स्मिथ ने अवश्य एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसमें एक चीनी सम्राट्, बौद्ध भिक्षु और सम्राट् दोनों के कर्त्तव्यों में सामंजस्य करता था।^२ पर यह उदाहरण एक अन्यदेशीय राजा का और बहुत परवर्ती काल का है। इस उलझन को यह कहकर सुलझाया जा सकता है कि अशोक भिक्षु नहीं बना था, भिक्षु-गतिक बना था। यह भिक्षु-गतिक शब्द विनयपिटक के महावग्ग^३ में आता है, और बुद्धघोष ने उस व्यक्ति के अर्थ में इसका

१. कर्न, मैनूअल आफ इंडियन बुद्धिज्म, पृ० ११४ और टि० ५, E. I, जिल्द ३, पृ० १४१ और टि० ५।

२. अशोक, पृ० ३७।

३. III ७. ८, SBE, जिल्द १३, पृ० ३१२, A. ६। इस निर्देश के लिए मैं अपने शिष्य श्री चरणदास चटर्जी का आभारी हूँ।

प्रयोग किया है जो "भिक्षुओं के साथ उसी विहार में रहता है .
 यहाँ भिक्षु-गतिक और भिक्षु में भेद किया गया है, और यदि यह
 मान लिया जाय कि अशोक भिक्षु न होकर भिक्षु-गतिक हुआ था
 तो राजा और भिक्षु दोनों के कर्त्तव्यों में सामंजस्य करने का प्रश्न
 पैदा ही नहीं होता । दूसरी ओर, क्योंकि भिक्षु-गतिक भिक्षुओं के
 साथ उसी विहार में रहता है, इसलिए उसे उपासक—जो गृहस्थ
 होता है—नहीं कहा जा सकता । अशोक का राघ के साथ संबंध
 और निवास जो सघे उयीपते पदों से सूचित होता है, भिक्षु-गतिक
 के भिक्षुओं के साथ एक ही विहार में निवास के साथ बिलकुल ठीक
 बैठ जाती है । गुरु में बौद्ध धर्म का किसी व्यक्ति को भिक्षुगतिक
 बनने देने में वस्तुतः क्या उद्देश्य था, यह ज्ञात नहीं है, पर प्रतीत
 होता है कि इस तरह का जीवन उसी व्यक्ति के लिए ठीक ठीक
 उपयुक्त है जो धार्मिक प्रवृत्ति वाला और सासारिक सुखों से
 उदासीन होने पर भी, अपने व्यक्तिगत परन्तु प्रबल कारणों में से,
 गृहस्थ-जीवन अभी नहीं छोड़ सकता । शायद इस तरह की अवस्था
 में बौद्ध धर्म ने भिक्षु-गतिक का जीवन बिताने की स्वीकृति दे दी
 ताकि व्यक्ति अपनी धार्मिक प्रवृत्ति को भी तृप्त कर सके और-उसे
 ससार-त्याग भी न करना पड़े । भिक्षु-गतिक भिक्षुओं के साथ विहार
 में रहता हुआ भिक्षुओं का वेप पहने, यह जरा भी अस्वाभाविक
 नहीं, और इसलिए यह कोई ताज्जुब की बात नहीं कि अशोक की
 जो प्रतिमा चीनी यात्री इ-त्सिंग ने सातवीं शताब्दी ई० पू० में
 देखी थी उसमें सम्राट् को भिक्षु-वेप पहने दिखाया गया है ।

जिस समय अशोक ने भिक्षुगतिक का जीवन आरम्भ किया
 उसी समय उसने एक और भी कार्य का श्रीगणेश किया था । बिला
 प्रज्ञापन ८ में कहा है

“दीर्घकाल से राजा लोग विहार यात्राओं पर जाया करते थे । इसमें मुगया और ऐसे ही अन्य विनोद हुआ करते थे । अब राजा प्रियदर्शी, देवानाप्रिय, जब दस वर्ष पूर्व दीक्षित हुआ तब वह सबोधि (बोधि वृक्ष) गया । इस तरह यह धर्म-यात्रा (आरम्भ हुई) ।”

यहाँ अशोक बताता है कि अपने राज्याभिषेक के दस वर्ष बाद तक वह पूर्ववर्ती राजाओं की तरह विनोद के लिए विहार-यात्रा पर जाया करता था जिसमें वह शिकार खेलता था । पर उस वर्ष उसने इन विहार-यात्राओं का विचार सर्वथा छोड़ दिया और इनके स्थान पर धर्म-यात्राएँ शुरू कर दी । वह इन धर्म-यात्राओं में वस्तुतः क्या करता था और इनके द्वारा वह अपने में और अपनी प्रजा में किस प्रकार धम्म का प्रतिपालन कर सका, यह हम एक अगले अध्याय में देखेंगे । यहाँ हमें जो बात देखनी है वह यह है कि अपने राज्याभिषेक से दसवें वर्ष उसने बोधि वृक्ष की यात्रा की और यह उसकी पहली धम्म-यात्रा थी । और क्योंकि यह वही समय है, जब वह भिक्षु-गतिक हुआ था, अतः इस अनुमान से बचना कठिन है कि उसने भिक्षुगतिक के रूप में अपना जीवन भिक्षुओं के एक मघ के साथ बोधिवृक्ष की यात्रा से आरम्भ किया, और इससे उसे तथा उसकी प्रजा को जो आध्यात्मिक लाभ हुए, उनसे प्रेरित होकर उस ने पुनः यह धम्म-यात्रा की, यहाँ तक कि यह उसका एक नियमित कार्यक्रम हो गया । एक बाद की धम्म-यात्रा के स्मरण, नेपाल के तराई प्रदेश में प्राप्त हुए दो स्तम्भ-लेखों में निश्चित रूप से संरक्षित प्रतीत होते हैं । इनमें से एक लेख सम्मिन्देइ में मिले एक स्तूप पर उत्कीर्ण है और दूसरा पहले से तेरह मील उत्तर-पश्चिम में निगलीवा स्थान पर है । इनमें से पहला अभिलेख हमें बताता है कि अपने राज्य-काल के बीसवें वर्ष अशोक स्वयं उस स्थान पर आया

जिस पर उत्कीर्ण स्तम्भ खड़ा है, उसने प्रवृत्ति की, और क्योंकि यह वही स्थान था जहाँ चाक्यमुनि बुद्ध का जन्म हुआ था, इसलिए अशोक ने पत्थर की एक विशाल दीवार बनवायी और वहाँ स्तम्भ स्थापित किया। लेख में आगे लिखा है कि क्योंकि वहाँ भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था अतः लुम्बिनी गाँव के सब धार्मिक कर (वणि) क्षमा कर दिये गये और उस गाँव को सम्यक् का सिर्फ आठवाँ हिस्सा भूराजस्व (भाग) के रूप में देना होगा। लेख का अभिप्राय यह है कि अपने राज्य-काल के बीसवें वर्ष अशोक ने लुम्बिनी वन की यात्रा की, जहाँ बौद्ध किवदन्ती के अनुसार, बौद्ध धर्म के संस्थापक राजकुमार सिद्धार्थ का जन्म हुआ था, और उसे वहाँ सिर्फ प्रवृत्ति करने से सतोष नहीं हुआ बल्कि उसने बुद्ध के जन्म-स्थान के चारों ओर पत्थर का एक अष्टातल बनवाया और वहाँ एक स्तूप खड़ा किया। परन्तु इतना ही नहीं। हम जानते हैं कि कई तीर्थ-स्थानों पर आज भी यात्रियों को धार्मिक कर देना पड़ता है, जैसे उदाहरण के लिए, द्वारका (काठियावाड़) में। लुम्बिनी गाँव, बौद्ध धर्म के संस्थापक का जन्म-स्थान होने के कारण, अशोक के समय से पहले भी तीर्थ-स्थान बन गया होगा और वहाँ सब तरह के बौद्ध यात्री आते होंगे, और यहाँ धार्मिक कर भी लगा दिया गया होगा। बौद्ध होने के कारण अशोक ने इस बात को पसन्द न किया होगा कि उसके सहधर्मियों से उनके धर्म के संस्थापक के जन्म-स्थान पर धार्मिक कर लिया जाए और इसलिए उसे उड़ा दिया। पर उसने लुम्बिनी को एक यही उपहार नहीं दिया। प्राचीन भारत में प्रत्येक गाँव को, अपने प्रदेश के राजा को अपने सस्य का चतुर्थांश या पष्ठान्ग देना पड़ता था। लुम्बिनी गाँव, अशोक के शासन में होने के कारण, अपने सस्य का कुछ भाग भूराजस्व के रूप में उसे देता था।

को दिये गये उपदेश माने जाते हैं वे बहुत सारे हैं। पर इस कथा में सिर्फ चार पर बल दिया गया है जिससे प्रतीत होता है कि बुद्धघोष के समय तक ये उपर्युक्त चार सुत्त किसी बौद्ध भिक्षु के लिए सबसे महत्वपूर्ण माने जाते थे। अधिकतर विद्वानों ने यह स्वीकार कर लिया है कि अशोक के अलियवसाणि, मोनेय-सूत, और उपतिस पसिनि बुद्धघोष की कथा के, त्रमशः महा-आर्यवश, नालक सुत्त और रथविनीत के सवादी हैं।^१ यदि बुद्धघोष द्वारा निर्दिष्ट चार में से तीन सुत्त वही हैं जो अशोक द्वारा उल्लिखित धम्मपर्यायो में से तीन हैं, तो यह विचित्र बात है कि चौथा, अर्थात् तुवट्टक, अशोक द्वारा वर्णित ग्रंथों में क्यों नहीं मिलता। पर इस सुत्त के सातवें श्लोक से यह प्रतीत होता है कि बुद्ध इसमें धार्मिक आचरणों (पटिपदा), उपदेशों (पातिमोक्ख), और समाधि का प्रतिपादन कर रहा है।^२ और यहाँ प्रयुक्त पटिपदा और पातिमोक्ख शब्दों से यह अनुमान होता है कि तुवट्टक सुत्त में अशोक का विनय-समुक्से, सर्वश्रेष्ठ विनय है।

अशोक द्वारा निर्दिष्ट धम्म-पर्यायों की उपर्युक्त पहचान से यह पता चल जायगा कि कभी-कभी एक ग्रंथ कई नामों से प्रसिद्ध हो जाता था। इस तरह मोनेय सुत्त उसी सुत्त का सिर्फ नामांतर है जो तालक सुत्त के नाम से भी प्रसिद्ध है। पर राजा द्वारा निर्दिष्ट सिद्धान्त-ग्रन्थों की यह कोई विशेषता नहीं थी। अन्य कई ग्रन्थ ज्ञात हैं और उनका पहले जिक्र किया जा चुका है।^३ दूसरे, अशोक

१. IA १९१२, पृ० ३७ और आगे, न्यूमैन, बुद्धिस्ट रेडव, जिल्द १, पृ० १५२।

२. सुत्तनिपात, पृ० १७१, SBE जिल्द १०, भाग १.१., पृष्ठ १६६।

३. IA, 1912, पृ० ४०।

द्वारा इन ग्रन्थों की चर्चा से उसके समय में सारे त्रिपिटक या उसके किसी भाग के अस्तित्व के विरुद्ध कोई बात नहीं सिद्ध होती क्योंकि अशोक यहाँ सिर्फ थोड़े से धार्मिक ग्रन्थों की चर्चा कर रहा है, और जिनकी चर्चा वह नहीं कर रहा या जिनमें से वह नहीं छाँट रहा उनका उसके समय में अभाव नहीं माना जा सकता।

अशोक ने जिन धार्मिक ग्रन्थों को छाँटा है, उनसे प्रकट होता है कि वह किस प्रकार का बौद्ध था। उसका हृदय बौद्धमत के कर्मकाण्डीय या दार्शनिक अंश पर लट्ठ नहीं था—वह तो उस धर्म के, या इस प्रसंग में यह भी कह सकते हैं कि किसी भी धर्म के, मूल सिद्धान्तों पर मूर्ख था। वह उन नियमों या आचारों से आकर्षित नहीं हुआ जो बाहर से या यत्रवत् पाले जाते हैं बल्कि उनसे प्रभावित हुआ जो वास्तविक, आन्तरिक उन्नति हैं और उस उन्नति को उत्पन्न करता है। उदाहरण के लिए अशोक द्वारा निर्दिष्ट एक ग्रन्थ आर्यवृक्ष को लीजिए। इसमें भिक्षु के लिए चार आचार-मार्गों का विधान है। सुत्ता कहता है कि भिक्षु को (१) सादे वेष से, (२) सन्मार्ग से प्राप्त किये हुए सादे भोजन से, और (३) छोटे-से-छोटे मकान से सतुष्ट रहना चाहिए, (४) 'ध्यान में आनन्द लेना चाहिए। इस प्रकार यह ग्रन्थ संक्षेप में हमें बता देता है कि भिक्षु को कैसा होना चाहिए या कैसे रहना चाहिए। दो-तीन और ग्रन्थ, जैसे मुनिगाथा और मोनेय-सुत्ता, भी लगभग यही बात कहते हैं। और अशोक द्वारा निर्दिष्ट धर्मग्रन्थों में से एक भी ऐसा नहीं जिसका सम्बन्ध धर्म की बाह्य बातों, किसी धार्मिक सभ के निरनुशासन सम्बन्धी नियमों, से हो जिनके पालन से कोई भिक्षु बाहर से तो पूर्ण भिक्षु बन जाता हो पर आवश्यक नहीं कि वह अन्दर से भी अच्छा आदमी बन जाए। राजा द्वारा निर्दिष्ट सब

सुत्ता आत्मा को ऊँचा उठाने के सम्बन्ध में हैं और वे सिर्फ भिक्षुओं पर ही नहीं, बल्कि साधारण उपासकों पर भी लागू होते हैं। इसी कारण वह खोलकर कहता है कि इन सुत्तों को, न केवल भिक्षु और भिक्षुणी, बल्कि साधारण उपासक और उपासिकाएँ भी सुने और मनन करे। फिर, अशोक ने जो सुत्ता चुने हैं उनमें वह सिर्फ उनको शामिल करके सन्तुष्ट नहीं हुआ जिनमें जीवन की उच्च अवस्था का वर्णन है या महान् और उदात्त चरित्र के उपादानों का विवरण है,— उसने उनका उल्लेख करने की भी सावधानी रखी है जो आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में सहायक और पथ-प्रदर्शक हैं। ऐसा एक सुत्ता अनागत-भयानि है जिसमें “भविष्य के उन भयों और खतरों का” उल्लेख है जो मनुष्य की धार्मिक साधना के ध्येय की सिद्धि में किसी भी क्षण पैदा हो सकते हैं और उसे हनाश कर सकते हैं। इसमें कुछ विधि-निषेध हैं जिनका सार यह है कि आयु, रोग, दुर्भिक्ष, युद्ध और फूट आदि भविष्य की असंभावित प्रतिकूल घटनाओं का ध्यान रखते हुए समस्त शक्तियों का उपयोग करना और सावधान तथा तपस्वी जीवन बिताना चाहिए। इस तरह अशोक एक ऐसा ग्रन्थ प्रस्तुत करके ही सन्तुष्ट नहीं हुआ जिसमें जीवन की सर्वश्रेष्ठ रीति वर्णित है, बल्कि उसने एक ऐसे सुत्ता पर भी बल दिया जिसमें उन खतरों का उल्लेख है जो सदा सत्कर्त्त और जागरूक न रहने वाले व्यक्ति की सिद्धि के मार्ग में आते हैं और उसके प्रयत्नों को व्यर्थ कर देते हैं। पर अन्ततः ये खतरे बाहरी ढग के हैं। यह सही है कि हमें निरन्तर सचेत रहना चाहिए और अत्यधिक यत्न से उनसे बचना चाहिए। परन्तु फिर भी ये खतरे बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर हैं जिन पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं। पर कुछ और भी खतरे हैं जो भीतरी ढग के हैं और जो

आध्यात्मिक सिद्धि में उतने ही बाधक हैं जितने बाहरी खतरे। और इसलिए राजा ने राहुलोवाद सुत्त जैसे एक ग्रन्थ की ओर ध्यान खींचकर बड़ी बुद्धिमत्ता का काम किया है—इसमें बुद्ध ने अंबलट्टिक राहुल को उपदेश दिया है और दीक्षा के समय तथा बाद, काय, वाणी और मन की प्रत्येक क्रिया की कड़ाई से जाँच करते रहने की परम आवश्यकता प्रतिपादित की है। अशोक ने जिन पुस्तकों की सिफारिश की है उनसे, ऊँचे और उदात्त जीवन के लिए यत्न-वान् प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह किसी भी धर्म या मत का मानने वाला हो, अवश्य शान्ति-लाभ करेगा।

साप्रदायिक ढंग का एक और ध्यान देने योग्य लेखन अशोक का शासन या आदेश है, जो तीन विभिन्न स्थानों—सारनाथ, साची और इलाहाबाद—में स्तम्भों पर उत्कीर्ण मिलता है। सारनाथ और साची वाले स्तम्भ शुरू से वही पर अवस्थित माने जाते हैं, पर इलाहाबाद वाले के विषय में यह माना जाता है कि वह शुरू में कौशाबी में था, और यह ठीक ही माना जाता है। इस शासन द्वारा अशोक बौद्ध सघ की एकता कायम रखने के लिए सघ में फूट डालने की सब कोशिशों को दबाने का यत्न करता है। वह कहता है, “जो भी कोई व्यक्ति, चाहे वह भिक्षु हो चाहे भिक्षुणी, सघ में फूट डाले उसे श्वेत वस्त्र पहना दिये जाये और सघ से बाहर कर दिया जाए। यह आदेश भिक्षुओं के सघ और भिक्षुणियों के सघ को बता दिया जाए।” यह आदेश महामात्रों को संबोधित किया गया है, जैसा कि इनमें से दो लेखों से स्पष्ट है। इनमें से एक लेख से यह भी प्रकट होता है कि वह कौशाबी में अवस्थित महामात्रों के लिए था। और यह जरा भी असम्भाव्य नहीं कि अन्य लेख भी मुफस्सिल जिले के महामात्रों के लिए हो, जहाँ प्राचीन बौद्ध विहार शुरू में अवस्थित

थे जिनके अवशेष अब सारनाथ और साची में मिलते हैं। बौद्ध सघ में फूट को रोकना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कार्य था। इसलिए उतना ही पर्याप्त न था कि उस सबब में जितों के महामात्रों को निर्णय आदेश जारी कर दिये जाए। इसलिए वह उन्हीं प्रज्ञापन में यह भी कहता है, : “इस आदेश की एक प्रति सत्तरणा अर्थात् सभास्थान में तुम्हारे देखने के लिए रख दी गयी है। और दूसरी प्रति ऐसे स्थान पर रख दो जहाँ उपासक लोग उसे देख सकें। और उपासकों को प्रत्येक उपवास के दिन इसे पढ़ना और इससे उत्साहित होना चाहिए। और प्रत्येक महामात्र को भी उपवासों के दिन अपनी बारी में (मुख्यालय लौटने पर) इस आदेश को पढ़कर और मननकर उत्साहित होना चाहिए। और जहाँ तक तुम्हारा क्षेत्राधिकार है वहाँ तक तुम (मेरे इस आदेश के शब्द) अपने दौरे के समय पहुँचाओ। इसी प्रकार सब दुर्गयुक्त नगरों और (उनके) जिलों में तुम मेरे इस आदेश का प्रचार कराओ।”

इस प्रज्ञापन के शब्दों से स्पष्ट है कि प्रशोक बौद्ध सघ ने से सब प्रकार की फूट और भेदभाव को समाप्त करने पर तुला हुआ था। इस कार्य की पूर्ति के लिए उसने तीन मार्ग पकड़े। पहले तो उसने यह आदेश जारी किया कि जो सघ को तोड़ने की कोशिश करेगा उसे पीले भिक्षु वेप के स्थान पर श्वेत वस्त्र पहना दिए जाएँगे और ऐसे स्थान पर पहुँचा दिया जाएगा जहाँ भिक्षु नहीं रहते। दूसरे शब्दों में, उसका अपने और साथियों से तत्काल सम्बन्ध-विच्छेद हो जाएगा। और क्योंकि अशोक का आदेश प्रत्येक बौद्ध संघ को भेजा जाना है इसलिए यदि कोई भगडालू भिक्षु अपने राय-विरोधी सिद्धान्त और भिक्षुओं के सामने रखना चाहेगा तो उसे इसमें स्वभावतः संकोच होगा। इस तरह फूट का तीन-चौथाई भय

दूर हो गया। पर संभव है कि इस तरह संघ से बाहर किया हुआ विरोधी भिक्षु उपासकों को प्रभावित करने में समर्थ हो जाए और उनकी सहायता ममाज में फूट पैदा करे। अशोक इस खतरे से सचेत है और इसलिए महामात्रों को इस आदेश की एक प्रति उपासकों के देख सकने योग्य स्थान पर चिपकाने का आदेश देता है। प्रज्ञापन से यह पता नहीं चलता कि उनके देख सकने के लिए यह आदेश ठीक किस स्थान पर लगाया जाना था। पर असंभव नहीं कि इसे निगम सभा (नगरपालिका भवन) में लगाने का आशय हो जिसका लेखो और साहित्य, दोनों में इतना अधिक वर्णन मिलता है।^१

सारनाथ-कौशावी-साची प्रज्ञापन से इस बात में कोई संदेह नहीं रहता कि अशोक ने बौद्ध संघ में फूट डालने के सब प्रयत्नों को दबाने का दृढ़ संकल्प कर लिया था। प्रज्ञापन के गंभीर, बलिक कठोर, लहजे से तथा इस तथ्य से कि इसकी प्रतियाँ महत्त्वपूर्ण बौद्ध विहारों वाले स्थानों पर मिली हैं, यह सहज ही अनुमान हो सकता है कि उसके समय में बौद्ध संघ को फूट का कम से कम खतरा तो अवश्य पैदा हो गया था, और उसे रोकने के लिए अशोक ने पूरा यत्न किया। पर क्या, अशोक के समय में बौद्ध संघ में सचमुच कुछ विभाजन हो गये थे? प्रज्ञापन तो निःसन्देह फूट रोकने के आशय से जारी किया गया है, पर यह कहा जा सकता है कि बहुत संभाव्यतः संघ पहले ही कई भागों में बँट गया होगा तथा अशोक ने और अधिक विभाजन को रोकने का यत्न किया होगा। सिंहलीय इतिवृत में सुरक्षित बौद्ध किंवदन्ती में बताया गया है कि अशोक के अभिषेक के अठारह वर्ष के बाद पाटलीपुत्र में एक बौद्ध परिपद् हुई थी, और उसी में यह भी कहा गया है कि

उस समय सघ दो मुख्य भागों—थेरवाद और महासघिक—में बँटा हुआ था, और पहले भाग की दो शाखाएँ हो गयी थी और पिछले की चार ।^१ यदि हम इस किवदती को स्वीकार कर ले तो हमें यह मानना होगा कि अशोक के समय में बौद्ध सघ न केवल विभागों में, बल्कि उपविभागों में भी बँट चुका था । तो फिर उस प्रज्ञापन का क्या अर्थ हो सकता है जो फूट रोकने के उद्देश्य से जारी किया गया था ? या हम यह मान ले कि अशोक सारे बौद्ध सघ की फूट को नहीं रोक रहा था बल्कि उस विभाग या उपविभाग की फूट रोक रहा था जिसमें वह स्वयं था ? निःसन्देह, यह कहा जा सकता है कि इस प्रज्ञापन में अशोक का सघ से अभिप्राय बौद्ध धर्म के उस सम्प्रदाय से है जिसका वह स्वयं सदस्य था । पर यदि हम एक बार इस विचार को मान ले तो हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि अशोक ने जहाँ भी सघ शब्द का प्रयोग किया है वहाँ उसका अभिप्राय बौद्ध सघ के उसी विभाग से है । परन्तु यह निष्कर्ष मान्य नहीं प्रतीत होता । क्योंकि स्तम्भ लेख ७ में, जिसमें उसने धर्म महामात्रों का उल्लेख किया है, उसने आजीविकों और निर्ग्रन्थों के साथ सघ का उल्लेख किया है । तो क्या यहाँ हम यह मान ले कि इन धर्म महामात्रों को आजीविकों और निर्ग्रन्थों की सुख-सुविधा का ध्यान रखने में कोई मत या सम्प्रदाय का भेदभाव नहीं करना था, पर बौद्धों के बारे में उन्हें सारे बौद्ध सघ के बजाय सिर्फ उस बौद्ध सम्प्रदाय के लोगों का ध्यान रखना था जिसे अशोक मानता था और सघ के अन्य विभागों और उपविभागों की ओर दृष्टिपात नहीं करना था ? इसी प्रकार भाबू प्रज्ञापन में, जैसा कि हम देख चुके हैं, वह सघ के पढ़ने के लिये कुछ धार्मिक

ग्रन्थ गिनाता है । ये ग्रन्थ साम्प्रदायिक तत्त्वों से इतने रहित हैं कि जो भिक्षु बौद्ध नहीं हैं वे भी इन्हें प्रसन्नता से पढ़-सुन सकते हैं । और क्या हम यह मान ले कि बौद्धों में से हर बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणी को वे ग्रन्थ न पढ़ाए जाएँ बल्कि सिर्फ़ उनको पढ़ाए जाएँ जो अशोक के सम्प्रदाय के थे । यदि हम इन बेहूदी बातों को नहीं मानना चाहते तो यही स्वीकार करना बाध्यनीय प्रतीत होता है कि अशोक के समय बौद्ध सघ में विभाजन नहीं था, और कि जहाँ वह सघ शब्द का प्रयोग करता है वहाँ उसका अभिप्राय सारे अविभाजित बौद्ध सघ से है । तो फिर उस बौद्ध किवदती का क्या मतलब है ? जिन विद्वानों ने बौद्ध परिपदों सम्बन्धी इन किवदन्तियों की सच्चाई जाँचने की कोशिश की है उसके समक्ष ऐसी बेहूदगियाँ और असंगतियाँ प्रस्तुत हो गयीं और उन्हें इतनी अधिक मतवादी और साम्प्रदायिक प्रवृत्ति दिखाई पड़ी कि इन किवदन्तियों में कही गयी अत्यल्प बात को ही ऐतिहासिक सत्य माना जा सकता है ।^१ इस प्रकार पाटलीपुत्र में हुई परिषद् कोई बड़ी, सब सम्प्रदायों की परिषद् नहीं मालूम होती—यह किसी सम्प्रदाय-विशेष की परिषद् मालूम होती है—और दूसरी बड़ी परिषद्, जो वैशाली में हुई थी, बहुत सभाव्यतः बुद्ध के एक शताब्दि बाद नहीं हुई बल्कि अशोक के समय ही हुई और अशोक की ही किवदन्ती में कालाशोक, अर्थात् काला अशोक, कहा गया है—बौद्ध होने से पहले उसका पापी का रूप ही चित्रित किया गया है ।^२ यह अनुमान उसके प्रज्ञापनों के साथ अधिक संगत है । क्योंकि, द्वितीय महापरिषद् के

१ वही, पृष्ठ ११०, जिसमें इस विषय पर स्व. प्रो. कर्न की सम्मति दी हुई है ।

२ वही, पृ. १०६; JRAS, १९०१, पृ. ८५५-८ ।

समय, बीड़ राघ में अभी फूट नहीं पड़ी थी, पर फूट जाने का खतरा पैदा हो गया था क्योंकि बज्जत निन्दियों ने अनुमानन के सम्बन्ध में दस प्रश्न उठाये थे । उनमें निन्दु पर्याप्त हो गये और उस समय राघ फूट ने बच गया । प्रयोग के पापीन ने भी, जैसा कि हम अभी देख चुके हैं, उनी अनुमान का भरोसा करने में कि राघ से सम्राट् का आशय सारे बीड़ राघ में है, उनके किसी भाग विशेष से नहीं, अर्थात् सारे अविभाज्य बीड़ राघ में है और कि उनके समय में फूट उठाने का कोई यत्न प्रयत्न किया गया होगा क्योंकि अन्यथा प्रचलित धर्म के विरोध तो दवाने के लिये उनकी प्रजापत कार्यवाही का कोई मतलब नहीं रहता ।

कभी-कभी यह प्रश्न किया जाता है कि बीड़ राघ की दृष्टि से अशोक की क्या स्थिति थी । अपने धर्म के राघ के नाम उठाया व्यवहार अधिपति जैसा था या अनुमान जैसा ? यदि इन प्रश्न का उत्तर हम किसी अभिलेख से पा सकते हैं तो वे उपर्युक्त दो ही प्रजापन हैं अर्थात् सारनाथ और भाद्र के प्रजापन । उनमें में पढ़ना, जैसे कि हम देख चुके हैं, आशक्ति फूट को गुप्त में ही दवाने का एक प्रयत्न है । दुर्भाग्य से, इस लेख का प्रारम्भिक अथ बहुत-कुछ मिट गया है, और इस कारण हम यह नहीं जान पाते कि महामानवों को यह किस रीति से निश्चय करना था कि अनुक्त निन्दु या भिक्षुणी धर्म-विरोधी है या नहीं । क्या इन ज्ञान का निर्णय नग ने बहुमत से करना था और महामानवों को सिर्फ उनके निर्णय के अनुसार ही चलना था ? यदि सारनाथ प्रजापन का नष्ट प्रस नुपक्षित होता तो सभाव्यतः इस प्रश्न पर कुछ प्रकाश पड़ा होता । पर वह स्मरण रहना चाहिए कि अशोक ने इस अभिलेख को वास्तव या

आदेश कहा है, और कि राजा ने महामात्रों को आज्ञा दी है कि वे उसका आदेश अपने प्रदेश के अन्दर विद्यमान प्रत्येक भिक्षु-सघ या भिक्षुणी-सघ को बता दे। यदि यहाँ वह सिर्फ उस निश्चय को लागू कर रहा है जो स्वयं बौद्ध सघ की महासभा ने पूर्ण और परिपक्व विचार के बाद किया है, तो छोटे सघों में इस प्रकार के आदेश की घोषणा करना सर्वथा अनावश्यक है। इस प्रकार प्रतीत होता है कि उसने वह आदेश अपने सघ से बिना पूछे, और बिना उसे जताये जारी किया था—सभाव्यतः सघ में प्रशासन की वह प्रणाली भी नहीं थी जो आज यूरोप में ईसाई चर्च में विद्यमान है। सम्भवतः उसकी राजधानी में कुछ थेर अर्थात् वरिष्ठ भिक्षु रहते होंगे जो उसे यह बताते होंगे कि किसी विशेष मामले में कोई धर्म-विरोधिता है या नहीं, परन्तु राजा अपनी लौकिक सत्ता के बल और अधिकार द्वारा इसे सर्वथा मिटाना चाहता था। भावू प्रज्ञापन के विवेचनात्मक अध्ययन से भी यही अनुमान निकलता मालूम होता है। इसमें अशोक कुछ बौद्ध ग्रन्थों के नाम गिनाता है और वे न सिर्फ उपासकों से बल्कि मुख्यतः भिक्षुओं से पढ़ने का अनुरोध करता है। फिर, वह कहता है कि भिक्षु इन ग्रन्थों को न केवल सुने बल्कि इनका मनन भी करें, यद्यपि वह स्वयं सिर्फ उपासक है। और यह सब अशोक क्यों कर रहा है? ताकि सद्धर्म चिरस्थायी रहे। निःसन्देह, यह सच है कि उसने जिन धार्मिक ग्रन्थों का उल्लेख किया है वे कर्मकाण्ड या दार्शनिक पहेलियों से शून्य हैं, और ठीक इस प्रकार के हैं कि उनसे आध्यात्मिक उन्नति हो सके, पर यह बात निर्विवाद है कि वह अपने ही उद्देश्य की सिद्धि कर रहा है, और यह भी वह स्वयं सोची हुई ऐसी विधि से कर रहा है जिसका न केवल उपासक, बल्कि भिक्षु भी बिना ननुनच के अनुसरण करते-

हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वह न केवल अपने साम्राज्य का बल्कि अपने से सवधित सध का भी अधिष्ठाता था। दूसरे शब्दों में वह जितना सासारिक कार्यों में शासक था, उतना ही सध के कार्यों में भी था। परन्तु यह आरोप लगाना उचित नहीं कि अशोक ने सध की शासन-शक्ति को हथिया लिया। क्योंकि बुद्ध ने स्वयं यह आदेश दिया है कि राजा की प्रसन्नता के लिए मेरे उपदेशों को भी भूल जाओ और भिक्षुओं को राजाज्ञा पालन करने का आदेश दिया है।^१ और जब वह राजा अशोक जैसा हो, जो उनके धर्म में सच्ची आस्था रखता हो और इसे विश्व धर्म की स्थिति में पहुँचा रहा हो, तब तो सध स्वभावतः और प्रसन्नता से उनका नेतृत्व स्वीकार करेगा।

अध्याय ४

अशोक का धम्म

दूसरे अध्याय में हम देख चुके हैं कि अशोक ने अपनी प्रजा के ऐहिक लाभ के लिए क्या किया और अब हम राजा के रूप में उसका एक खाका अपने-अपने मन में बना सकते हैं। निःसंदेह उसने अपनी प्रजा के ऐहिक लाभ के लिए बड़ा कठोर यत्न किया। पर जिस बात ने अशोक को जगत्प्रसिद्ध किया है, और सच तो यह है कि जो मुख्य ध्येय सदा उसके मन में रहता था और जिसकी सफलता पर वह अभिमान करता था, वह था मनुष्य का आध्यात्मिक लाभ, जिसे वह धम्म नाम से कहना पसन्द करता था, उसका न केवल अपने साम्राज्य में, बल्कि अपने स्वाधीन पड़ोसियों के राज्यों में भी प्रसार। इसलिए उचित यह है कि सबसे पहले हम यह निश्चय करें कि अशोक धम्म का ठीक-ठीक क्या अर्थ लगाता था। इस प्रश्न का वह स्पष्ट उत्तर देता है और वह धम्म के अन्तर्गत आने वाले गुण ही नहीं बताता, उसके विशेष आचार भी बताता है, जिनका पालन करने के लिए अपनी प्रजा से कहते-कहते वह कभी नहीं थकता। स्तम्भ लेख २ और ७ में अशोक वे गुण बताता है जो उसकी सम्मति में धम्म के उपादान हैं। उसकी सम्मति में धम्म के उपादान हैं (१) साधवे या बहु-क्याने अर्थात् सत्कार्य प्रभूत, (२) अप-आसिनवे, अर्थात् दुष्कार्य अल्प, (३) दया, (४) दान, अर्थात् उदारता, (५) सच्चे, अर्थात् सत्यवादिता, (६) सोचये, अर्थात् पवित्रता,

और (७) मादवे अर्थात् मृदुता । पर इन गुणों को व्यवहार में कैसे लाया जाएगा ? अशोक इस सिलसिले में कर्त्तव्यों की कई गणनाएं करता है जो विभिन्न लेखों में थोड़ी-थोड़ी भिन्न हैं । इन्हें संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है : अनारंभो प्राणानां 'प्राणवान्' जन्तुओं की अ-हत्या, अविहिंसा भूतानां, 'अस्तित्ववान्' जंतुओं को अ-क्षति, मातरि पितरि सुखूसा, माता-पिता की शुश्रूषा, थेर-सुखूसा, वृद्धों की शुश्रूषा, गुरुणा अर्पचिति, गुरुओं का समादर; मित सस्तुत-नाटिकानां बह्मण-समणानां दानं संपटिपति, मित्रों, परिचितों और सवधियों के प्रति तथा ब्राह्मण और श्रमण साधुओं के प्रति उदारता और सम्यक् व्यवहार, दास-भक्तकम्हि सम्यग्रतिपति, दासों और नौकरों से सम्यक् व्यवहार, और निर्फ एक लेख (शि० प्र० ३) में अण-व्यप्रता और अणभाडता, अल्प व्यय और अल्प सचय । सब स्थानों और सब कालों के लिए अशोक ने संसार को जो सदेश दिया, यह उसका एक भाग है । यह सामान्य प्रचलित बातों जैसा लगता है पर फिर भी कितना स्पष्ट, सरल और सत्य है ! वह हमें दया, दान, मार्दव आदि का व्यवहार करने के लिए कहकर ही सतुष्ट नहीं होता, बल्कि यह भी बताता है कि इन गुणों को व्यवहार में कैसे लाना है । इस तरह दया का अर्थ है अनारंभो प्राणानां अविहिंसा भूतानां, जंतुओं की अहत्या और उन्हें चोट न पहुँचाना; दान का अर्थ है मित्रों, परिचितों और सम्बन्धियों से तथा साधुओं से, चाहे वे ब्राह्मण हो, चाहे श्रमण, उदार व्यवहार करना, और मार्दव माता-पिता तथा वृद्धों की शुश्रूषा से, तथा सम्बन्धियों और ब्राह्मण व श्रमण साधुओं के साथ-साथ दासों और नौकरों से भी सम्यक् व्यवहार से प्रकट होगा ।

अशोक को अपने सदेश का यह भाग इतना प्रिय है कि वह

अपने प्रज्ञापनो में इसे बार-बार दोहराकर प्रसन्न होता है। शिला प्रज्ञापन १४ में वह स्पष्ट स्वीकार करता है कि कुछ शब्द अपने अर्थ की मधुरता के कारण बार-बार दोहराये गये हैं। धम्म शब्द और इसका अर्थ उसे इतने मधुर लगते हैं कि वह न केवल धम्म के उपादान-रूप कर्त्तव्यों को दोहराता है, बल्कि धम्म तथा जीवन के सामान्य आचरणों की तुलना करके, और दोनों में से धम्म की श्रेष्ठता सिद्ध करके इसकी महिमा भी प्रतिपादित करता है। इस प्रकार शिला प्रज्ञापन ९ में वह धम्म या जिसे वह धम्म मंगल कह कर पुकारता है उसका, सुख-प्राप्ति और दुःखनिवृत्ति के लिए किये जाने वाले मंगलो या मागलिक कृत्यों से, जो हिन्दु समाज में अशोक के समय भी लाखों थे, मुकाबला करता है। वह उस प्रज्ञापन में कहता है : “लोग, रोग, विवाह, और पुत्रों के जन्म पर तथा यात्राओं के समय अनेक मागलिक कृत्य करते हैं । पर इस प्रसंग में स्त्रियाँ, अनेक प्रकार के (पर) क्षुद्र, बहुत निरर्थक कृत्य करती हैं। मंगल-कृत्य अवश्य किये जाने चाहिएँ, पर इस प्रकार के कर्मकांड का बहुत कम लाभ होता है। पर धम्म मंगल (या धम्म की पूर्ति कराने वाले कृत्यों) से बहुत लाभ होता है।” और इसके बाद वह वे कर्त्तव्य समझाता है जो उसकी शिक्षाओं का व्यावहारिक रूप हैं और जो अभी गिनाये गये हैं। इसी प्रकार, शिला प्रज्ञापन ११ में वह दान यानी सामान्य दान और धम्मदान का वैपम्य प्रस्तुत करता है। वह हमें बताता है कि धम्मदान दान का उच्चतम रूप है, और इसका अर्थ है किसी को धम्म बताना, धम्म में भाग लेना, और इस प्रकार धम्म से सवद्ध हो जाना। और इस धम्म के स्पष्टीकरण के लिए वह फिर अपने नैतिक आचार गिनाता है, और अन्त में कहता है कि यह धम्मदान कोई

भी किसी को कर सकता है—पिता पुत्र को, पुत्र पिता को, भाई एक-दूसरे को, और वास्तव में तो, प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ोसी को धम्मदान कर सकता है। उसी तरह शिवा-प्रज्ञापन १३ में अशोक सामान्य विजय और धम्म-विजय, यथान् धम्म दाया और विनीत रीति से विजय कि दूसरे की उन्नति हो, में नृपना करता है। इस प्रसंग में वह अपनी कलिंग की सैनिक विजय को चर्चा करता है, और बड़े भारी हृदय से तथा कुछ लज्जा के साथ वह उन युद्ध में हुए सैनिक हत्याकाण्ड का तथा उन सैनिकों के मर्त्यियों को हुए तीव्र दुःख और शोक का उल्लेख करता है। प्रत्येक सैनिक विजय के साथ ये क्रूरतापूर्ण कार्य अनिवार्य हैं। पर धम्म के द्वारा जो विजय प्राप्त होती है वह प्रीतिरस अर्थात् प्रेम में मुरझि जाती है और वह न केवल उनके साम्राज्य के बहिर्द्वर्ती प्रान्तों में बल्कि उनके पड़ोसियों के राज्यों में भी की जा सकती है, चाहे वे भारत में हों और चाहे वे भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त से परे हों, जहां स्वयं यथान् यूनानी राजा एटियोकस बिग्रोन, अलेमी किताजेन्थोन इत्यादि राज्य करते हैं।

इस प्रकार हम देख चुके हैं कि अशोक के योग में नया-नया आचरण शामिल हैं। पर उसके धम्म का इतना ही जग नमझने से काम न चलेगा। ये गुण और आचरण सिर्फ इसका निवायक रूप हैं। पर अशोक के धम्म का एक निगेधात्मक पहलु भी है और वह एक शब्द, अप-आसिनव, अर्थात् यथासंभव न्यूनतम आसिनव, में प्रकट किया जा सकता है। पर आसिनव, किसे कहते हैं? अशोक इस प्रश्न का उत्तर स्तम्भ प्रज्ञापन ३ में देता है जिसमें उसे वह पाप के समकक्ष रखता है और उन हानिकर विकारों का उल्लेख करता है जिनके परिणामस्वरूप आसिनव होता है। वे हैं : चंडिये, प्रचडता,

निठुलिये, निर्दयता, कोधे, क्रोध, माने, घमड, और इस्या, ईर्ष्या। इस प्रकार धम्म की पूर्ण और पर्याप्त पूर्ति के लिए अशोक द्वारा गिनाये गये कर्त्तव्यों का पालन करना ही काफी नहीं है, इन विकारों से मुक्त होना भी आवश्यक है।

स्पष्ट है कि इस प्रकार अशोक के पास ससार के लिए एक सुनिश्चित सदेश था। और यह खेद की बात है कि इस बात को अभी स्पष्ट रूप से पहचाना नहीं गया। धम्म के विधायक पहलू के सम्बन्ध में, वह न केवल धम्म के उपादानरूप गुणों का उल्लेख करता है बल्कि उन नैतिक आचरणों का निर्देश भी करता है जिनमें वे गुण प्रत्यक्ष होते हैं। अपने धम्म के निषेधात्मक पहलू के बारे में, उसने वे हानिकारक विकार गिना दिये हैं जो मनुष्य को पाप और अधःपतन (आसिनव) में प्रेरित करते हैं, और हमें इनसे यथासंभव मुक्त रहने के लिए उद्बोधित करता है। पर वह इतने पर ही नहीं रुकता। एक सच्चे पैगंबर की तरह उसने स्पष्ट रूप से समझ लिया है कि आत्मिक उन्नति में कौन सी बाधाएँ हैं, और ऐसा उपाय सुझाया है जिससे हम अपनी धार्मिक उन्नति निर्विघ्न करते रह सकें। यह उपाय है आत्म-निरीक्षण और वह हमारे मन में यह बात बिठा देता है कि धम्म की वास्तविक वृद्धि के लिए आत्म-निरीक्षण परमावश्यक है। सामान्यतः लोग समझते हैं कि आत्म-निरीक्षण का विचार ईसाइयत में पैदा हुआ और वही आचरण में आया, और इसलिए यह संदेह उठना स्वाभाविक है कि क्या सचमुच अशोक ने आत्म-निरीक्षण करने को कहा था। पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि बुद्धघोष ने अपने विसुद्धि मग्ग में पच्छवेक्खन का उल्लेख किया है, और इस शब्द का अर्थ 'अन्तःकरण की परीक्षा' या 'आत्म-निरीक्षण' किया है। और पच्छवेक्खन का यह विचार

उसने स्वयं बुद्ध से लिया है जिसने अपलट्टि क-राहुल को इसका उपदेश किया था। राहुल को दिया हुआ बुद्ध का प्रवचन मज्झिम निकाय में है, और यह निःसंदेह उन सदर्भों में है जिनको अशोक ने भाबू प्रज्ञापन में अत्युपयोगी बताया है, जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। उसमें बुद्ध राहुल को उपदेश देता है कि शरीर, वाणी और मन के प्रत्येक कार्य की, करने से पहले भी और पीछे भी परीक्षा करो। परन्तु अशोक अधिक मानवीय है और वह हमें अपने सारे चरित्र का निरीक्षण करने के लिए कहता है और इस प्रकार हमारे क्रिया-कलाप को अधिक व्यापक दृष्टिकोण से देखता है। अपने स्तम्भ प्रज्ञापन ३ में वह कहता है, “मनुष्य सिर्फ अपने भले काम को देखता है और अपने आपसे कहता है कि ‘मैंने यह भला काम किया है।’ वह अपना पाप कभी नहीं देखता और न कभी यह कहता है कि ‘मैंने यह पाप किया है’, या ‘यह सचमुच आसिन्नव है।’ पर यह ऐसा मामला है जिसमें आत्म-निरीक्षण करना कठिन है। पर फिर भी मनुष्य को इसका ध्यान रखना चाहिए और सोचना चाहिए कि इस-इस तरह के विकारों से आसिन्नव (अधःपतन) होता है, और उनके कारण मेरा पतन हो जाएगा। इस स्थान पर अशोक वे हानिकारक विकार गिनाता है जिनसे आसिन्नव होता है, और वे विकार कौनसे हैं, यह हम पहले ही देख चुके हैं। स्पष्ट है कि यहाँ अशोक मानव की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति का उल्लेख कर रहा है कि वह अपने किये हुए अच्छे काम को तो याद रखता है और उसकी चर्चा करता है, पर अपने किए हुए अशुभ कार्य या पाप को वह न देखता है और न उस पर दुःखी होता है। इसलिए अशोक ठीक ही कहता है कि मनुष्य के लिए आत्म-निरीक्षण करना और अपने किए हुए पाप को देखना बड़ा कठिन है।

पर वह इस भय से आत्म-निरीक्षण करने पर बल देता है कि कहीं मनुष्य स्वयं अपना पतन न कर ले। यदि ईसाइयों का आत्म-निरीक्षण यही चीज नहीं है तो यह समझना जरा मुश्किल है कि आत्म-निरीक्षण वास्तव में क्या है। वह शब्द भी ध्यान देने योग्य है जो अगोत्र-ने यहाँ 'आत्म-निरीक्षण' के लिए प्रयुक्त किया है। यह शब्द पटिवेखा है, और यदि रूप की थोड़ी अनियमितता का खयाल न करे-तो यह बिल्कुल वही है जो पच्छवेक्खन है, जिसका प्रयोग स्वयं बुद्ध ने 'अन्तःकरण का निरीक्षण' के अर्थ में किया है, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। इसलिए इसमें सदेह का अवकाश नहीं है कि अशोक ने अपनी प्रजा को 'आत्म-निरीक्षण' की शिक्षा दी थी और इसे वह आत्मिक उन्नति के लिए परमावश्यक मानता था।

अशोक के धम्म के नियमों को पढ़ने वाला उसकी शिक्षाओं के

रूप की अत्यधिक सरलता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। उसके धम्म को सब धर्मों की साक्षी सम्पत्ति कहा जा सकता है। वह हमें जो गुण और आचरण धारण करने के लिए कहता है वे ठीक वही हैं जिन्हें सब धर्म अनुकरणीय बताते हैं। इसलिए स्वभावतः यह बात मुख पर आना चाहती है कि उसकी शिक्षाओं में कोई नवीनता या मौलिकता नहीं है। शिला प्रज्ञापन १३ में वह स्वयं इतनी बात स्वीकार करता है—उसमें वह कहता है कि "यवनो को छोड़कर और कोई ऐसा देश नहीं जहाँ ब्राह्मण और श्रमण सघन हो," और किसी भी देश में ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ लोग एक न एक मत में आस्था न रखते हों" और कि, वास्तव में सर्वत्र ब्राह्मणों के, श्रमणों के, तथा अन्य, मत हैं और गृहस्थी लोग हैं, जिनमें बृद्ध-शुश्रूषा, पितृ-शुश्रूषा, गुरु-शुश्रूषा, शिष्ट व्यवहार और मित्रों,

परिचितो, साथियो और सम्बन्धियो से, तथा दासो और भृत्यो से अटल प्रेम आदि आचरण प्रचलित हैं ।” क्या इससे यह ध्वनित नहीं होता कि अशोक यह स्वीकार करता है कि उसका धम्म, जिनमे इन कर्त्तव्यो का पालन करना होता है, सब संप्रदायो मे सामान्य रूप से विद्यमान चीज है। ठीक इसी कारण एक अन्य स्थान पर (शिला प्रज्ञापन ७) वह अपनी यह उत्कट अभिलाषा व्यक्त करता है कि “(उसके राज्य मे) सब मतों के व्यक्ति सब स्थानों पर रह सके क्योंकि वे सब मत आत्म-सयम और हृदय की पवित्रता चाहते हैं। ” “परन्तु लोगो की,” वह आगे कहता है, “रुचियाँ और अनुराग भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए वे इन बातों का पूरा या थोड़ा पालन करते हैं। मनुष्य कितना भी दान करे, पर यदि उसमे सयम और भावशुद्धि नहीं तो निश्चय ही वह नीच है। अशोक का आशय यह है कि सयम और भावशुद्धि ऐसे श्रेष्ठ गुण हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने मे इनका विकास करना चाहिए। इन गुणों की शिक्षा प्रत्येक सम्प्रदाय देता है, और ये गुण ही किसी सम्प्रदाय के उपदेशों का मुख्य अंश हैं। किसी संप्रदाय का कोई सदस्य सारे उपदेश पर आचरण करेगा, यह सदिग्ध है। पर उसके लिए इन दो गुणों को अपने अन्दर पैदा करना परम आवश्यक है—इन दो गुणों के अभाव को दान, कृतज्ञता या भक्ति द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता। यही उद्बोधन अशोक ने अधिक स्पष्ट भाषा मे और अधिक विस्तार से शिला प्रज्ञापन १२ मे प्रस्तुत किया है। इस प्रज्ञापन मे विभिन्न धर्मों के प्रति उसकी सच्ची भावना का चित्रण है और इसलिए यह इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसका पूरा सारांश यहाँ देने के लिए क्षमायाचना की कोई आवश्यकता नहीं। अशोक कहता है कि मैं दान और अपने धर्म के प्रति बाहरी आदर को उतना महत्त्व नहीं देता जितना इसके सार

की वृद्धि (सारवृद्धि) को । यह सारवृद्धि अनेक प्रकार की है पर इसका मूल, वाणी का सयम है । दूसरे शब्दों में, मनुष्य को अपने धर्म के प्रति आदर-प्रदर्शन, और दूसरे के धर्म की अकारण निन्दा नहीं करनी चाहिए । इसके विपरीत एक न एक कारण से अन्य धर्मों के प्रति आदर प्रदर्शित करना चाहिए । इस तरह करके मनुष्य अपने संप्रदाय को ऊँचा उठाता है और दूसरे के संप्रदाय की सेवा करता है । ऐसा न करके वह दोनों को हानि पहुँचाता है । जो मनुष्य अपने संप्रदाय का आदर करता है और इससे अनुराग के कारण तथा उसकी उन्नति की इच्छा से दूसरे के धर्म की निन्दा करता है वह वास्तव में इसे बड़ी क्षति पहुँचाता है । तो इन परिस्थितियों में कौनसा मार्ग ग्रहण करना चाहिए ? अशोक का उत्तर यह है कि “लोग एक-दूसरे के धम्म को सुने और भविष्य में सुनने की इच्छा रखे ।” इसका क्या परिणाम होगा ? अशोक इसका इस तरह वर्णन करता है । पहले वह कहता है कि इससे सब संप्रदायों की जानकारी और ज्ञान में वृद्धि होगी (बहु-भुत) और ससार का कल्याण (कल्याण-आगम) होगा । वह यह भी कहता है कि इस प्रकार अपने संप्रदाय की उन्नति (आत्म-पासंदावृद्धि) और धम्म का प्रकाश (धम्मस दीपना) होगा । अशोक शिला प्रज्ञापन १२ में वास्तव में यही कहता है और आज के युग के लिए भी मनन का सामग्री प्रदान करता है । उसका अभिप्राय यह है कि अधिक विस्तृत ग्रंथों में प्रत्येक धर्म के दो पहलू होते हैं : (१) सैद्धान्तिक, और (२) आचार-सम्बन्धी । सैद्धान्तिक पहलू में कर्म-कांड, और धार्मिक ग्रंथों आदि का बौद्धिक विवेचन आता है । धर्म का आचार-सम्बन्धी रूप वह है जो एक समझदार, सच्ची भावना वाला आदमी स्वभावतः करेगा, और यही धर्म का सच्चा रूप है, दूसरे शब्दों में, आजकल

की शब्दावलि में कहे तो यह अन्तःकरण ही सूना है। जहां तक धर्म के सैद्धान्तिक अन्त का प्रश्न है, उनके न केवल विधानों के बारे में, बल्कि किए जाने वाले कर्म-काण्ड के बारे में भी विभिन्न आन्तरिक परस्पर-विरोधी विचार होने स्वभाविक हैं। ऐसा था-बुद्धधर्मियों-ज्योकि मानवीय बुद्धि बहुत भिन्न-भिन्न होती है। पर जहां तक धर्म के आचार-सम्बन्धी पहलू का सम्बन्ध है, उन नैतिक गुणों और नैतिक आचारों के बारे में, जो हमें अपने व्यवहार में प्रदर्शित करने चाहिए, किसी का कोई मतभेद या विरोध नहीं है, बल्कि पूर्ण सतैक्य है। ऐसा होना भी चाहिए ज्योकि अन्तःकरण, सत्य और असत्य की भावना, भिन्न-भिन्न नहीं हो सकती। इसलिए किसी धर्म का आचारीय पहलू कोई ऐसी चीज नहीं हो सकती जो उसी धर्म की विशेष चीज हो—यह तो सब धर्मों की सामान्य संपत्ति होगी। यह वास्तव में सब धर्मों का सार है और अशोक जिस धर्म की शिक्षा देता है तथा जिन पर हमने अब तक विचार किया है, वह वास्तव में यह सार ही है। दूसरी ओर, ज्योंही हम अपनी बुद्धि की लगाम ढीली करते हैं त्योंही कर्म-काण्ड और धार्मिक सिद्धान्तों से सम्बन्धित प्रश्नों पर अनन्त विवाद करने की गुंजाइश हो जाती है, और अधिकतर यह विवाद निरा शुष्क फलह होता है। इसके ही कारण लोग, उपयुक्त अवसर न होने पर भी अपने संप्रदाय की प्रशंसा करते हैं या दूसरों के संप्रदायों की प्रशंसा निंदा करते हैं—वास्तव में इस मताधता के विरुद्ध ही, जैसा कि हम देख चुके हैं, अशोक ने अपनी शक्तिशाली आवाज उठायी है। अशोक ने जिस कठोर भाषा में अपना विरोध प्रकट किया है उससे स्पष्ट है कि उसके समय में अपने धर्म को बड़ा बताने, और दूसरे के धर्म की बुराई करने की बड़ी प्रवृत्ति थी और सैद्धान्तिक प्रश्नों

पर विभिन्न संप्रदायों में प्रायः गरमागरम और कटु विवाद हुआ करते थे जिनमें धर्म के सार की उपेक्षा होती थी। इस वारे में और सुनिश्चित जानकारी मिल सकती है कि वास्तव में किस-किस जगह यह शत्रुता की भावना फैली हुई थी। क्योंकि अशोक हमें स्पष्ट रूप से बताता है कि संप्रदायों में पारस्परिक सहानुभूति और सौहार्द पैदा करने का कार्य धर्म-महामात्रों स्वध्वक्ष-महामात्रों और वच भूमिकों को सौंपा गया था। हम जानते हैं कि धर्म-महामात्र सब संप्रदायों के लिए थे, जिनमें सबसे मुख्य संप्रदाय ब्राह्मण आजीविक, निर्ग्रन्थ और बौद्ध थे। और क्योंकि इन ग्रफसरों को इस उद्देश्य-पूर्ति का आदेश दिया गया है, इसलिए यह स्पष्ट है कि इन संप्रदायों में विरोध और कटुता की भावना थी। स्वध्वक्ष-महामात्र तो निश्चित रूप से स्त्रियों के कल्याण और सुख का प्रयत्न करने के लिये थे। और क्योंकि उन्हें इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कहा गया है, इसलिए यह स्पष्ट है कि सांप्रदायिक जोश और असहिष्णुता स्त्रियों में भी दिखाई दे रही होगी। खेद है कि अभी हम यह नहीं जानते कि वचभूमिक कौन थे और वे क्या करते थे। पर इतनी बात काफी स्पष्ट है कि धार्मिक जोश में अपने संप्रदाय की प्रशंसा और दूसरे के संप्रदाय की निन्दा की प्रवृत्ति उस समय के सभी संप्रदायों में दृष्टिगोचर हो रही थी, और कि स्त्रियाँ भी, जो स्वभावतः अधिक धार्मिक भावना वाली होती हैं, इससे मुक्त नहीं थी। इसलिए जिस समय अशोक हुआ और उसने प्रचार किया उस समय धार्मिक मताधता और सांप्रदायिक भावना सब जगह व्याप्त थी। और ऐसे समय जबकि लोगों का ध्यान धर्म के सारभूत अग्रे के वजाय निःसार अग्रे पर गड़ा हो, सारभूत और निःसार में कोई भेद करने के लिए और ससार के समक्ष उसे उद्धोषित

करने के लिए एक पैगम्बर की वेधक ग्रन्तदृष्टि और धार्मिक गक्ति की आवश्यकता हुआ करती है। असल में अशोक ने यही काम किया है। सब सत्तों की तरह उसके मन की भी मौलिकता यही है कि उसने सब संप्रदायों में समान रूप से विद्यमान धर्म के सार पर अपना ध्यान केन्द्रित किया, और वह भी ऐसे समय जबकि वे संप्रदाय इस बात को भूल चुके थे। उसने जिन उपायों से जनता का ध्यान धर्म के निःसार भाग से हटाकर सारवान् भाग की ओर लगाने की कोशिश की, वे बड़े मनोरञ्जक हैं। वह लोगों से कहता है कि एक-दूसरे के धम्म को सुनो और अधिकाधिक सुनने की कामना करो—यह धम्म शब्द से उसका अभिप्राय सिर्फ आचार से नहीं है, बल्कि किसी संप्रदाय के कर्म-कांड और धार्मिक सिद्धान्तों से भी है। इस कार्य का यह परिणाम होगा कि उन्हें फौरन यह पता चल जाएगा कि यद्यपि एक संप्रदाय दूसरे से भिन्न है, पर उनमें बहुत सी बातें एक-सी हैं। इस प्रकार लोगों का ध्यान एक-सी बातों की ओर जाएगा और स्वभावतः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि यही बातें धर्म का सार हैं। जब इस तरह धर्म के सार का पता चल जाएगा और उस पर बल दिया जाएगा तब लोग इस पर आचरण करना अपना प्रथम कर्त्तव्य समझेंगे और इसके परिणामस्वरूप धर्म का प्रकाश (धम्म दीपना) होगा, और इस प्रकार वे संप्रदाय ससार के कल्याण (कल्याण-आगम) में योग दे रहे होंगे। पर एक सच्चे विचारक की तरह अशोक ने धर्म के निःसार अर्थात् कृत्यात्मक पहलू की भी उपेक्षा नहीं की जिसमें कर्म-कांड और धार्मिक सिद्धान्त होते हैं और जो नैतिक या धार्मिक भावना की अपेक्षा बुद्धि को अधिक अपील करते हैं। एक दूसरे के धम्म को सुनते हुए, जैसा कि अशोक ने चाहा था, लोगों के विभिन्न संप्रदायों के सैद्धान्तिक दृष्टिकोण भी सुनने और विचारने

का अवसर मिलता है। इस प्रकार वे अनेक संप्रदायों द्वारा परिवर्धित किए गए दर्शन, प्रकृति ज्ञान और कर्म-कांड के विभिन्न रूपों पर विचार करके ठीक-ठीक चुनाव कर सकेंगे। परिणामतः वे बहुश्रुत अर्थात् बहुत सी बातों के जानकार हो जायेंगे, और कर्म-कांड तथा धार्मिक सिद्धान्तों की कोई सतोपजनक रीति स्वयं निकाल सकेंगे। जब लोग इस तरह एक-दूसरे के धम्म को सुनते हैं, और धर्म के सार को समझते हैं, और इसके आचरण पर बल देते हैं, और विभिन्न संप्रदायों के कर्म-कांडों और धार्मिक सिद्धान्तों की विवेचना करके अपना एक अलग मत स्थिर कर लेते हैं, तब वे आत्म-पासंडा-वृद्धि या अपने संप्रदाय की उन्नति कर सकते हैं जिसका विचार अशोक के मन में सर्वोपरि था। इस प्रकार अशोक का धम्म है धर्म का सार और तीसरी सदी ई० पू० का यह राजर्षि हमें जो बात सिखाना चाहता है, वह यह है कि हमें सब धर्मों में सार देखना और इस पर आचरण करना चाहिए, तथा इन धर्मों के कर्म-कांडों और सिद्धान्तों की निष्पक्ष होकर तुलना करनी चाहिए, जिससे हम मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्ध के बारे में अपना एक निजी सिद्धान्त बना सकें। उसका यह सन्देश कितना उदात्त और विश्वासोत्पादक है और आज की दुनिया के लिए भी यह कितना अपरिहार्य है ! जरा सोचिए कि अगर हम इस परम प्रज्ञापन के शब्दों का श्रद्धा के साथ अनुसरण करें और न केवल हिन्दू धर्म और इस्लाम का, बल्कि ईसाई धर्म, जरथुष्ट्री (पारसी) धर्म और यहाँ तक कि मत्र-तन्न का भी अध्ययन करें तो ससार आत्मिक और बौद्धिक दृष्टि से कितना समृद्ध और उन्नत हो जाएगा ।

अशोक के धम्म का कोई भी विवरण तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक हम यह न जान लें कि धम्म के आचरण का अन्तिम

तथ्य क्या है ? दूसरे शब्दों में, धम्म का आचरण करने वालों को नन्त में क्या प्राप्त होगा ? क्या अग्निक परलोक में विश्वास करता था ? इस प्रश्न का उत्तर निश्चित रूप से 'हां' में है । वह प्रायः इन लोक का परलोक से वैषम्य प्रस्तुत करता है । इस प्रकार स्तम्भ प्रज्ञापन ४ में रज्जुको की चर्चा करते हुए वह कहता है कि मैं अपने अफसरो से यह आशा करता हूँ कि वे प्रान्तों की प्रजा का हित श्री पालत अर्थात् इस लोक और परलोक का सुख बढ़ाएं । इसी प्रकार ओलि और जोगडा पृथक् प्रज्ञापन १ में वह हमें बताता है कि मेरे मन में सबसे प्रबल अभिलाषा यह है कि मेरी प्रजा को हिन्द-लौकिक और पाल-लौकिक, अर्थात् इस लोक में और परलोक में श्रेय और सुख मिले । पर धम्म पालने से मनुष्य को परलोक में क्या मिलता है ? अग्निक का उत्तर है : स्वर्ग । उसके प्रज्ञापन में कम-से-कम तीन बार स्वर्ग का उल्लेख है । शिला प्रज्ञापन ६ में अग्निक कहता है कि मैं जो भी यत्न कर रहा हूँ, वह अपनी प्रजा को सुखी करने के लिए और इसलिए कर रहा हूँ कि उन्हें परलोक में स्वर्ग मिले । गौण शिला प्रज्ञापन १ में वह अपने अफसरो से आग्रह करता है कि वे कठोर यत्न करके प्रजा को स्वर्ग प्राप्त कराएं । पर शिला प्रज्ञापन ६ में वह हमें कुछ और बताता है । इसी प्रज्ञापन में उसके धम्म-मगल, अर्थात् धम्म की पूर्ति रूप मगल कार्य, का जिक्र है । इस प्रज्ञापन के दो संशोधित पाठों में वह कहता है कि धम्म पर चलने से स्वर्ग मिलता है । और यही चीज उसी प्रज्ञापन की तीन प्रतियों में वह दूसरे शब्दों में स्पष्ट करता है । “प्रत्येक सासारिक कार्य”, वह कहता है, “सदिग्ध प्रकार का है । इससे इसका उद्देश्य पूरा हो भी सकता है, और नहीं भी । पर धम्म मगल में समय की कोई शर्त नहीं है, और चाहे इसका यहाँ कोई फल न हो पर इससे अनन्त पुण्य

होता है ।” दूसरे शब्दों में, अशोक यह कहना चाहता है कि धम्म के पालन से परलोक में पुण्य होता है और इस प्रकार मनुष्य को स्वर्ग मिलता है ।

अशोक ने अपने प्रजापनों में जिस धम्म की शिक्षा दी है उसका सरल स्वरूप ऊपर से इस तथ्य का विरोधी प्रतीत होता है कि उस धम्म के प्रचार के समय वह बौद्ध था, और इसने विद्वानों को परे-गान किया है । इस प्रकार डा० फ्लीट का यह विचार था कि गिला और स्तम्भ प्रजापनों का धम्म किसी भी तरह बौद्ध धर्म नहीं था—वह तो सिर्फ राज-धर्म अर्थात् राजाओं के लिए बताया गया कर्तव्यो का संग्रह था ।^१ पर हम पहले ही दिखा चुके हैं कि इन प्रजापनों में भी निर्दिष्ट धम्म, सुशासन के लिए राजाओं तथा प्रान्तपतियों द्वारा पालनीय नियम किसी भी तरह नहीं हो सकते थे—वे तो धार्मिक जीवन बिताने के लिए सामान्य प्रजा द्वारा आचरणीय नियम थे । इसी प्रकार एक और अन्य लेखक का कथन है कि इन प्रजापनों में धम्म शब्द “बौद्ध धर्म के लिए नहीं आया—वह तो उस सरल पवित्रता के लिए है जो अशोक चाहता था कि सब धर्मों के लोग आचरण में लाएं ।”^२ स्वर्गीय डा० वी० ए० स्मिथ अपनी पुस्तक ‘अशोक’^३ में एक स्थान पर कहते हैं “उसने उपदेश की शक्ति में आश्चर्य-कारक श्रद्धा रखते हुए जिस धर्म का अनवरत प्रचार और प्रसार किया, अगर उसमें कोई विभेदसूचक विशेषताएँ थीं तो वे बहुत कम थीं । यह सिद्धान्त सारतः सब भारतीय धर्मों में विद्यमान था, चाहे एक सम्प्रदाय या पथ इसके किसी एक

१ JRAS, १९०८, पृ० ४६१—७ ।

२ जे. एम मैकफेल, अशोक, पृ० ४८ ।

३ पृ० ५६—६० ।

अश-विशेष पर बल देता हो ।” एक ओर स्थान पर डाक्टर साहब कहते हैं^१ : “प्रज्ञापनो का धर्म हिन्दू धर्म ही है—अन्तर सिर्फ इस कारण है कि उस पर बौद्ध धर्म की छाया है, या यह कहना अधिक ठीक होगा कि इसमें वे नैतिक विचार भरे पड़े हैं जिनके आधार पर बौद्ध धर्म खड़ा हुआ, पर जिसका हिन्दू धर्म में गौण स्थान है । यह एक आत्म-विरोध-सा है, क्योंकि एक जगह वह स्वीकार करते हैं कि अशोक के धम्म में कोई अलग बौद्ध अश नहीं था, और दूसरे स्थान पर वह प्रतिपादन करते हैं कि इसमें बौद्ध नैतिक विचार भरे पड़े हैं । इसी प्रकार एक जगह तो स्मिथ कहता है कि अशोक ने स्वर्ग का जो प्रलोभन प्रस्तुत किया है वह “अधिकतर पुस्तकों में उल्लिखित बौद्ध दर्शन के साथ सुसंगत नहीं ।” और दूसरी जगह वह कहता है कि बहुत सभाव्यतः अशोक निर्वाण की कामना करता था, यद्यपि उसने कभी ऐसी इच्छा प्रकट नहीं की ।” इस प्रकार फ्लीट और स्मिथ जैसे कुछ ऐसे विद्वान् हैं जो यह पूछते हैं कि जब एक ओर अशोक का धम्म ऊपर से भेदभावहीन और असाप्रदायिक दिखायी पड़ता है और दूसरी ओर, इसका प्रचार करने के समय वह बौद्ध था, तब इन दोनों बातों में सामंजस्य कैसे हो सकता है । उधर, एक और विद्वान् सेनार्ट हैं जिन्हें अशोक की शिक्षा और बौद्ध धम्मपद में समानता दिखायी देती है और जो यह मानते हैं कि अशोक के लेखों में उस समय के बौद्ध धर्म का पूर्ण और सार्वभौम चित्र है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उसके समय तक बौद्ध धर्म “एक शुद्ध नैतिक सिद्धान्त था और उसमें किन्हीं विशेष धार्मिक सिद्धान्तों या अमूर्तवादों की ओर विशेष ध्यान नहीं

१ वही, पृष्ठ २९—३० ।

२ अशोक, पृ० ६४—५ ।

दिया जाता था, न उसमें पड़ितो या भिक्षुओं का प्रावत्य था, और न अभी तक उसके सिद्धान्तों की नियमित परिभाषा ही हुई थी।”^१ परन्तु इस फ्रेंच विद्वान् को जो समानताएँ दिखायी पड़ी हैं उनमें से सिर्फ दो ही कुछ महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त, बौद्ध धम्मपद में बहुत से पाठ वही हैं जो महाभारत आदि ब्राह्मण धर्म-ग्रन्थों में हैं और धम्मपद को पूर्णतः बौद्ध ग्रन्थ माना जा सकता है या नहीं, यह सदिग्ध है। और श्री सेनार्ट के इस विचार को भी, जो सिर्फ अशोक के लेखों पर आश्रित है, किसी विद्वान् ने अभी तक स्वीकार नहीं किया प्रतीत होता कि तीसरी सदी ई० पू० के मध्य भाग तक बौद्ध धर्म का मुख्य आधार यह था कि वह कर्म-काण्ड की अपेक्षा नैतिक कर्तव्यों की पूर्ति को अधिक महत्त्व देता था। यह मानना भूल है कि अशोक के लेख उसके समय के बौद्ध धर्म का सर्वांगीण चित्र हैं। इस जमाने के धम्म के भी दो भाग थे (१) भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिए निश्चित धम्म, और (२) गृहस्थियों के लिए निश्चित धम्म। अशोक गृहस्थी था—कम से कम उस समय तो था ही जिस समय उसने अपने धम्म का प्रचार किया, और जिन लोगों को उसने सिखाया वे भी गृहस्थी थे, भिक्षु नहीं। इसलिए अगर हम यह जानना चाहते हैं कि क्या उसका धम्म बौद्ध धर्म से अनुप्राणित था, तो आवश्यक है कि हम यह निश्चय करें कि उस धर्म ने उपासको के पठन, मनन और आचरण के लिए कौनसे धार्मिक ग्रन्थ निर्दिष्ट किये हैं। बौद्ध उपासको के लिए निर्दिष्ट सब से महत्त्वपूर्ण सदर्थ सिंहालोवाद-सुत्त है जो बौद्ध धर्मग्रन्थों के दीघ-निकाय के अन्तर्गत है। यह इतना महत्त्वपूर्ण माना गया है कि इस का नाम ही गिहि-विनय या गृहस्थियों के लिए उपदेश, रखा गया

है ।^१ बुद्धघोष ने लिखा है कि “इम मुत्तमे गृहस्थी के सार्ण कर्त्तव्यों मे से कोई बात अवर्णित नहीं रह गयी है । इसनिष्ठ मुत्तात का नाम मिहि-विनय या गृहस्थियों के लिए उपदेश, रखा गया है । अतएव, यदि कोई व्यक्ति इनको श्रवण करे, और जो कुछ कर्त्तव्य उसमें बताए गये ह उनका पालन करे तो उसकी उन्नति की ही आशा है, अवनति की नहीं ।” इस मुत्त को नि.सदेह उपासको की दृष्टि से ही इतना अधिक महत्त्व दिया गया है । इसका सारांश यह है एक बार बुद्ध राजगृह के पास बामो के वन में ठहरे थे । उन्होंने अपनी दैनिक भिक्षा के लिए जाते हुए एक गृहस्थी के पुत्र सिगाल को देखा जिसके बाल और कपड़े भीगे हुए थे और जो अजतिबद्ध हाथ ऊपर उठाकर, भूमि और आकाश के कई दिक्पालों की पूजा कर रहा था । बुद्ध के कारण पूछने पर सिगाल ने कहा कि मैं अपने पिता के आदेश का पालन कर रहा हूँ । इन परबुद्ध उत्तर देता है कि आर्य के धर्म में छ दिक्पालों की पूजा इस तरह नहीं करनी चाहिए । और यह पूछे जाने पर कि उनकी कैसे पूजा की जानी चाहिए, बुद्ध बड़े विस्तार से बताता है कि दिक्पालों की पूजा की सबसे उत्तम रीति मनुष्य को लाभ पहुँचाना है, और सारी बात को संक्षेप में कुछ गाथाओं में रख देता है, जिनमें से पहली गाथा यहाँ उद्धृत की जाती है ।^२

माता और पिता पूर्वी दिक्पाल हैं ।

और गुरु दक्षिण के दिक्पाल ह ।

और पत्नी तथा सतान पश्चिमी दिक्पाल हैं ।

१. JRAS, १९१५, पृ० ८०६ ।

२. टी० डब्लू० राइस डेविड्स, बुद्धिज्म, पृ० १४३—४; SBB जिल्द ४, पृ० १७३ तथा आगे ।

और मित्र तथा सबधी उत्तरी दिक्पाल हैं ।

भृत्य और मजदूर लोग अधोदिक्पाल हैं ।

और ब्राह्मण तथा सत् ऊर्ध्वदिक्पाल हैं ।

मनुष्य को—जो पचास वर्ष तक अपने कुटुम्ब में गृहस्थी रहता है—इन दिक्पालों की पूजा करनी चाहिए ।

इस गाथा को सरसरी तौर से देखने वाले को भी फौरन पता चल जाएगा कि इसमें वही आचरण गिनाये गये हैं जिन्हें अशोक अपनी प्रजा को सिखाना चाहता था । माता-पिता की सेवा, गुरुओं का आदर, मित्रों, सबधियों और परिचितों से तथा ब्राह्मण और श्रमण साधुओं से उदारता तथा सभ्य व्यवहार और दासों तथा भूत्यों से उचित व्यवहार—धम्म के इन्हीं आचरणों पर अशोक बल देता है, और ये बिल्कुल वही हैं जिन पर, सिंगाल को अच्छा धार्मिक गृहस्थी बनाने के लिए बुद्ध ने जोर दिया है । अशोक जिन कर्त्तव्यों पर बल देता है उनमें जैन, आजीविक आदि अन्य धार्मिक संप्रदायों द्वारा अनुमोदित चाहे एक भी न हो, परन्तु सिंगालोवाद-सुत्त^१ में, जो बौद्ध धर्म का उपासको के पढ़ने के लिए बनाया गया ग्रन्थ है, इनमें से अधिकतर कर्त्तव्य एकत्र संगृहीत हैं । और इस निष्कर्ष से वचना असंभव है कि यह धर्म ही अशोक के धम्म का आधार और प्रेरणा-स्रोत है । यदि अब भी और किसी प्रमाण की आवश्यकता है तो यह एक और सुत्त में मिलता है जो इस सिलसिले में अवश्य ध्यान देने योग्य है । उपासको के आचरण के बारे में, सिंगालोवाद-सुत्त के बाद महत्त्वपूर्ण बौद्ध सुत्त महामगल-सुत्त है जो सुत्त निपात के अन्तर्गत है । इसमें कुछ कर्त्तव्य बताये गये हैं जिनका आचरण

१. कुछ और भी बौद्ध सुत्त हैं जिनमें ऐसे ही नैतिक, आचरण गिनाये गये हैं, उदाहरणार्थ, अंगुत्तर-निकाय, III, ७६—८ ।

उपासक का महान्तम मगल है। धर्म-युक्त आचरण के लिए मगल शब्द के इस प्रयोग को देखकर धम्ममगल शब्द का ध्यान आ जाता है जो अशोक ने शिला प्रज्ञापन ११ में “धम्म का पालन अधिकतम फलोत्पादक मगल के समान है” इस अर्थ में किया है। और अब इस बात में कोई सदेह नहीं रहता कि यह विचार और पदावलि उसने उपर्युक्त बौद्ध धर्मग्रन्थ में ली है। आचारो की गिनती में भी, महामगल-सुत्त और अशोक के शिला प्रज्ञापनों में, कई समानताएँ हैं। सुत्त ने “माता-पिता की सेवा, पत्नी और वच्चो की रक्षा, दान, रिश्तेदारों की सहायता, पाप-त्याग, थमणों के साथ सलाप और उचित ऋतुओं में धार्मिक वात्सलाप”^१ को सबसे बड़ा मगल बताया है। यहाँ भी अशोक द्वारा धम्म के अन्दर निर्दिष्ट गुणों और आचरणों में से अधिकतर गिनाये गये हैं। यह भी देखने योग्य बात है कि जैसे अशोक ने सामान्य मगल और धम्ममगल की तुलना की है, वैसे ही उसने दान और धम्मदान की तुलना की है, और धम्मदान की साधारण दान से निश्चित श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। धम्मदान शब्द का प्रयोग अशोक को, जैसा कि श्री सेनार्ट ने बताया है,^२ धम्मपद के इस श्लोकाग से सूझा होगा “सव्वदानं धम्मदानं जिनाति” धम्म का दान सब दानों से बढकर है। पर इसमें महामगल-सुत्त में उल्लिखित गुणों और आचरणों का जिक्र नहीं है।

यदि एक बार यह समझ लिया जाए कि अशोक स्वयं बौद्ध धर्म का उपासक था और गृहस्थियों को उपदेश देता था, और कि उसकी शिक्षा उन कर्त्तव्यों पर आधारित थी जो धर्म ने उपासकों के लिए बताये थे तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वह अपने

१. SBE., जित्द १० (भाग २), पृ० ४३।

२. IA, १८६१, पृ० २६२।

प्रज्ञापनो मे निर्वाण या अष्टाग-मार्गिक का कोई उल्लेख नहीं करता बल्कि इसके विपरीत, स्वर्ग की चर्चा करता है, और इसे ही धम्म का पारलौकिक फल बताता है। बौद्ध धर्म के अनुसार स्वर्ग और नरक का सिद्धान्त विशेषकर उपासक का धर्म है और ऊँची सिद्धियाँ और निर्वाण का ध्येय सिर्फ भिक्षुओं के लिए है। यही बुद्ध का विचार था और उसने एकाधिक बार ध्वनित किया है कि धार्मिक गृहस्थी परलोक में देवता बनकर जन्म लेता है।^१ इसलिए यदि अशोक ससार में धर्मयुक्त जीवन बिताने के लिए स्वर्ग को अन्तिम साध्य मानता है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। स्वर्ग सम्बन्धी विचार अकेले बौद्ध धर्म का विचार नहीं है बल्कि अनेक धार्मिक संप्रदायों में पाया जाता है। और जो प्रश्न वास्तव में पैदा होता है वह यह है कि क्या अशोक बौद्ध ग्रंथों में वर्णित स्वर्ग को मानता था या नहीं। शिला प्रज्ञापन ४ में अशोक कहता है “पर अब देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी के धम्म पर चलने के परिणामस्वरूप, तब से ढोल का शब्द धम्म का शब्द बन गया है जबसे उसने प्रजा को विमान, हस्तिन्, अग्निस्कंध और अन्य दिव्य स्वरूप दिखाये हैं।” उसका आशय यह है कि उसके लिए ढोल धम्म का उद्घोषक बन गया है। युद्ध, सार्वजनिक घोषणा, या सार्वजनिक प्रदर्शन से पहले सदा ढोल बजता है। पर जबसे उसने धम्म का जीवन ग्रहण किया है तब से यह युद्ध का सूचक नहीं रहा है, पर लोगों को कुछ दृश्य देखने आने को निमन्त्रित करता है, और क्योंकि ये दृश्य ऐसे हैं जो धम्म को उत्पन्न और परिवर्द्धित करते हैं इसलिए ढोल धम्म का उद्घोषक बन गया है। पर अशोक अपनी प्रजा को क्या दृश्य दिखाता था? स्पष्ट है कि वे विमान, हस्तिन्, अग्निस्कंध आदि थे।

इन शब्दों का वास्तविक अर्थ पालि साहित्य के विमानवत्थु नामक ग्रंथ में स्पष्ट किया गया है। इसमें उन अनेक पुरस्कारों का वर्णन है जो धर्मयुक्त व्यक्ति को अगले जन्म में मिलेंगे जब वह अपने गुण की श्रेष्ठता के अनुसार एक न एक प्रकार का देव बन जाएगा। इनमें से एक पुरस्कार विमान या स्तम्भो पर टिका हुआ प्रासाद है जो परम आध्यात्मिक सुख का केन्द्र है और जो अपने दिव्य स्वामी की इच्छा के अनुसार चल सकता है। एक और प्रकार का पुरस्कार हस्तिन् या सुसज्जित श्वेत दिव्य हाथी है। विमानवत्थु में बताया गया है कि अधिकतर देवताओं का स्वरूप विद्युत्, नक्षत्र या अग्नि के समान उज्ज्वल है, और इसलिए जब अशाक कहता है कि मैंने प्रजा को अग्निस्कन्ध और ज्योतिःस्कन्ध दिखाये, तब वह यह दिखाता होगा कि अगले जन्म में देवता बन जाने पर धार्मिक व्यक्तियों के शरीरों से किस तरह की चमक निकलती है। अब की तरह तब भी हिन्दू लोग यह मानते होंगे कि स्वर्ग में देवों के जीवन सीमित होते हैं और वे उनके शुभ कर्मों से उत्पन्न पुण्य पर निर्भर हैं। पर विमानवत्थु बौद्ध विचार के अनुसार सिर्फ यह वर्णन कर देता है कि धार्मिक व्यक्तियों को कौन-कौनसे दिव्य निवास और यान मिलते हैं, और उन पर विशेष बल देता है ताकि पाठकों और श्रोताओं को भूलोक में अच्छा निष्कलक जीवन बिताने की तथा धार्मिक कर्तव्यों के पालन में उत्साही बने रहने की प्रेरणा मिले। स्पष्ट है कि प्रशोक ने न केवल विमानों, बल्कि हस्तियों और अग्नि या ज्योतिः स्कन्धों को प्रजा में धर्म की वृद्धि का जो कारण बताया है वह इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि स्वर्ग की जिस पद्धति को वह मानता था और जिसका उसने अपने बारहवें वर्ष में उल्लेख किया है, वह बौद्ध धर्म में उद्भूत पद्धति है।

उपर्युक्त वर्णन से किसी को भी यह निश्चय हो जाएगा कि जब अशोक ने अपने शिला और स्तम्भ लेखों में प्रस्तुत धम्म का विचार किया तब वह बौद्ध था और इस बात के स्पष्ट चिन्ह हैं कि इस धम्म का मूल प्रेरक और स्रोत बौद्ध धर्म था। पर अब यह पूछा जा सकता है कि क्या यह सारे का सारा धम्म सिर्फ बौद्ध धर्म से लिया गया था। क्या उसने किसी अन्य धर्म से भी कुछ ग्रहण किया? अशोक ने स्वयं अपनी प्रजा को परामर्श दिया है कि वह एक-दूसरे के धम्म को मुने, जिससे उनके अपने धर्म की उन्नति हो और वे बहुश्रुत हो जाएँ। जो कुछ उसने दूसरों से करने के लिए कहा है, वह स्वयं भी अवश्य किया होगा। क्या उसके धम्म में या अपने आचरण में कोई ऐसे तत्त्व हैं जो अन्य धर्मों में से ग्रहण किए गये थे? उसके धम्म के निपेधात्मक पहलू पर ध्यान से विचार करने वाले का ध्यान एक विचित्र शब्द आसिनव पर, और उन दुर्विकारों पर, जिन्हें वह उसकी उत्पत्ति में सहायक बताता है, जाना अनिवार्य है। यह आसिनव शब्द क्या है? उसकी व्युत्पत्ति कैसे की जा सकती है? स्तम्भ प्रज्ञापन तीन में आसिनव का उल्लेख पाप के साथ किया गया है, और शिला प्रज्ञापन १० में, अपुण्य के अर्थ में पलिसवे शब्द मिलता है। इसलिए पहले-पहल यह प्रतीत होता है कि अशोक का आसिनव वही है जो बौद्ध धर्म में आसव (आस्रव) कहलाता है और जिसका ठीक वही अर्थ है। पर बौद्ध तीन प्रकार के आसव मानते हैं (१) कामासव, या काम-सुख, (२) भावासव, जीवन का मोह, और (३) अविज्ज-आसव, अविद्या दोष। कभी-कभी वे इनमें एक चौथा रिट्ठ-आसव अर्थात् नास्तिकता, भी जोड़ देते हैं। पर अशोक पाँच आसिनवों का उल्लेख करता है, जो सर्वथा भिन्न प्रकार के हैं। वे, जैसा कि हम

देख चुके हैं, चडिये, 'प्रचडता' निठुलिये, 'निष्ठुरता', कोधे, 'क्रोध', माने, 'अभिमान' और इस्या, 'ईर्ष्या' हैं। यह निष्कर्ष स्पष्ट है कि अशोक ने बौद्ध होते हुए भी बौद्ध धर्म के आसव स्वीकार नहीं किये, यद्यपि आसव वही प्रतीत होता है जो आसिनव है। तो उसने अपने ये आसिनव कहाँ से ग्रहण किए। बूलर कहता है कि "जैनों में एक शब्द ग्रहया है जो आसिनव का वितकुल संवादी है, और आसिनव की ही तरह 'आस्नु' से बना है।" वह आगे कहता है कि "पियदसी का आसिनव का विचार बौद्धों के तीन या चार आसवों से तो मेल नहीं खाता, पर जैन ग्रहया के अधिक निकट है जिसमें प्राणि-हानि, असत्य, चोरी, अन्नह्यचर्य और परिग्रह या सासारिक वस्तुओं से अनुराग हैं।" बूलर का यह कथन तो सही प्रतीत होता है कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अशोक का आसिनव शब्द बौद्ध आसव की अपेक्षा जैन ग्रहया के अधिक निकट है, पर यह जरा स्पष्ट नहीं होता कि राजा द्वारा वर्णित आसिनव बूलर द्वारा निर्दिष्ट जैनी ग्रहया के किस तरह निकट है, पर यह न समझना चाहिए कि बूलर का निष्कर्ष गतत है, यद्यपि जो साक्ष्य उसने प्रस्तुत किया है उससे इसकी पुष्टि नहीं होती। यहाँ हमें जिस बात पर ध्यान देना है, वह यह है कि स्तम्भ प्रज्ञापन ३ में अशोक आसिनव के साथ-साथ पाप का भी उल्लेख करता है और हमें दोनों से बचने के लिए कहता है। जहाँ तक मुझे ज्ञान है, बौद्ध मनोदर्शन पाप और आसिनव (=आसव) को न तो साथ-साथ रखता है और न उनमें विभेद करता है। पर जैन धर्म का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि जैन दर्शन में यह विभेद किया जाता है। इस प्रकार जैन धर्म अद्वारह प्रकार के पाप और बयालिस प्रकार के आसव गिनाता

है ।^१ इन दोनों सूचियों में चार दुर्विकार एक से हैं, जो कपाय कहलाये हैं । इनमें से दो हैं क्रोध और मान ।^२—ठीक वही दो विकार जिनका अशोक ने उल्लेख किया है । अशोक की इस्त्रा जैनो की पाप की सूचि में ईर्ष्या या द्वेष के नाम से मौजूद है । सिर्फ चडिये और निठुलिये का पता नहीं चलता, यद्यपि यह दोनों आस्रवों में परिगणित हिंसा दुर्विकार में आ जाते हैं । इस प्रकार पाप और आसिनव (आस्रव) में विभेद को, और जैन सूची में कम से कम तीन विकारों के समावेश को देखकर किसी को भी यह निश्चय हो जाएगा कि बहुत सभाव्यतः अशोक ने यहाँ जैन दर्शन की कुछ धारणाओं को अपना लिया है । फिर, यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि पुराने जैन-ग्रन्थों में अकेला ग्रहया शब्द नहीं आता बल्कि आसव और परिस्सव^३ शब्द भी आते हैं, और सबके सब एक ही अर्थ में आते हैं । यह बात इस तथ्य से भी मेल खाती है कि अशोक न केवल आसिनव का, जो ग्रहया का सवादी और प्राचीन रूप है, वक्तिक परिस्सव का भी प्रयोग करता है जो परिस्सव ही है । इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि अशोक बौद्ध धर्म का उत्साही अनुयायी है, पर उसमें अभी इतनी उदारता थी कि जैन आदि अन्य

१ श्रीमती स्टिवेन्सन, हार्ट ऑफ जैनिज्म, पृ० ३०२ और आगे तथा पृष्ठ ३०५ और आगे । पाप और आसव की इस तरह की तुलनात्मक गणना बौद्ध धर्म-ग्रन्थों में नहीं पाई जाती ।

२. इनमें से कुछ दुर्विकारों का बौद्धों ने उल्लेख अवश्य किया है, पर उन्हें 'किलेस' में नहीं गिनाया है, आसव या पाप में नहीं ।

३. ये दो शब्द बौद्ध ग्रन्थों में मिलते हैं । पर इनमें, जैन ग्रहया की तरह कोई ऐसा शब्द नहीं है, जो अशोक के आसिनव का सवादी हो । क्या बौद्ध शब्द 'आदीनव' आसिनव का गलत रूप है ।

धर्मों का भी अध्ययन करे, और उनकी ऐसी विशेषताएँ अपना ले उसे पसन्द आ जाएँ। यही निष्कर्ष उस शब्दावलि से भी निकलता है जो वह विभिन्न प्रकार के जीवनो का वर्णन करते हुए प्रयुक्त करता है। वह जीव पाण, भूत और जात जैसे शब्दों का प्रयोग करता है। क्या इससे हमें 'पाणा भूया जीवा सत्ता' शब्दावलि का स्मरण नहीं हो आता जो, उदाहरण के लिए, जैनो के आचारग सुत्त में प्रयुक्त की गयी है।^१ यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि उसने इन सब शब्दों का कहीं इकट्ठा प्रयोग नहीं किया और इसलिए उसका आशय इन्तरे में विभेद करने का न होगा पर इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि जहाँ अशोक ने अपने नैतिक आचरण गिनाये हैं वहाँ भूत और प्राण में वैषम्य किया है जैसे देखिए—अनारभो प्राणान्ता, अविहिंसा भूतानाम्। बौद्ध साहित्य कहीं भी प्राण और भूत में भेद नहीं करता, पर जैन ग्रन्थ न केवल इन दोनों में विभेद करते हैं, बल्कि इन दोनों का, जीव और सत्ता से भी विभेद करते हैं।

इससे यह प्रश्न पैदा होता है : अन्य धार्मिक संप्रदायों के प्रति अशोक का क्या रुख था ? हम देख चुके हैं कि शिला प्रज्ञापन ७ में वह स्वीकार करता है कि सब संप्रदायों का लक्ष्य आत्म-संयम और हृदय की पवित्रता है, और यह अभिलाषा रखता है कि उसके साम्राज्य के सब भागों में सब संप्रदाय रह सकें। शिला प्रज्ञापन १३ में उसने इस बात को और अधिक स्पष्ट कर दिया है और कहा है कि धम्म के जिन आचरणों का उपदेश मैं कर रहा हूँ वे प्रायः वही हैं जिनकी शिक्षा ये संप्रदाय देते हैं। और शिला प्रज्ञापन १२ में वह हमें एक कदम और आगे ले जाता है जहाँ वह कहता है कि सब लोगों को

एक-दूसरे के धम्म के श्रवण में प्रीति रखनी चाहिए और इस प्रकार धम्म के सार की वृद्धि करनी चाहिए। अशोक ने जो कुछ कहा है, वह हृदय से भी वही मानता था, यह बात इस तथ्य से विलकुल स्पष्ट है कि उसके धम्म में, जो मुख्यतः बौद्ध धर्म हैं, जैन आदि अन्य धर्मों के तत्त्वों का भी समावेश है, जैसा कि हम अभी देख चुके हैं। जब विभिन्न सम्प्रदायों के प्रति उसका मानसिक झुकाव ऐसा था, तब हम उसकी इस बात पर आसानी से विश्वास कर सकते हैं कि वह सब सम्प्रदायों के व्यक्तियों को, बिना भेदभाव के, चाहे वे सन्यासी हो चाहे गृहस्थी, मूल्यवान् उपहार और सम्मान प्रदान किया करता था। हमारा यह विश्वास तब और भी दृढ़ हो जाता है जब हम देखते हैं कि वह ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति आदर और उदारता को, अर्थात् न केवल बौद्धेतर अ-ब्राह्मण सम्प्रदायों के प्रति बल्कि ब्राह्मण सम्प्रदाय के प्रति भी आदर और उदारता को, धम्म का एक उपादान मानता है। धर्म-महामात्रों को भी सब सम्प्रदायों के—केवल बौद्ध सघ के ही नहीं, बल्कि निर्ग्रन्थों, ब्राह्मण आजीविकों आदि के भी—सासारिक और आध्यात्मिक कल्याण की वृद्धि करने का आदेश दिया गया है।

उसका एक मात्र कार्य, जो उसकी सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता की वृत्ति से असंगत प्रतीत होता है, वह है जीव बलि का निषेध, जिसका निर्देश उसने शिला प्रज्ञापन १ में किया है। कहा जाता है कि यह ब्राह्मणों के विरुद्ध था और गौण शिला प्रज्ञापन १ में आए एक अंश से इस आरोप की पुष्टि होती है। पर अब कोई भी उच्चकोटि का विद्वान् इस अंश का ऐसा अर्थ नहीं करता जिससे ब्राह्मणवाद के प्रति अशोक की शत्रुता प्रकट होती हो। और शिला प्रज्ञापन १ के बारे में, यह तो स्वीकार किया जाता है कि इसमें अशोक बलि-निषेध का उल्लेख करता है, पर यह स्पष्ट नहीं है कि

यह निषेध सार्वत्रिक था, और सिर्फ उसके राजमहल तक सीमित नहीं था । और यदि थोड़ी देर के लिए यह भी मान लिया जाए कि उसने अपने सारे राज्य में बलि-निषेध कर दिया था, तो भी इसका यह अभिप्राय होना आवश्यक नहीं कि वह ब्राह्मणवाद का विरोधी था क्योंकि कुछ उपनिषदों में^१ भी, जो ब्राह्मण के लिए श्रुति हैं, असदिग्ध शब्दों में जीव बलि का विरोध और अहिंसा का प्रतिपादन है ।

१. JASB, १९२०, पृ० ३०७ ।

अध्याय ५

अशोक धर्म-प्रचारक के रूप में

हम देख चुके हैं कि अशोक एक बौद्ध के रूप में क्या था, और यह भी जान चुके हैं कि वह जिस धम्म का प्रचार करता था, वह सब धर्मों में सामान्य रूप से विद्यमान साधारण कर्तव्यों का संग्रह न था, बल्कि बौद्ध धर्म द्वारा उपासक के लिए निर्धारित धार्मिक कर्तव्यों का संग्रह था। अब हमें यह देखना है कि उसने धम्म की वृद्धि और प्रचार के लिए कौनसे साधन अपनाये। हम यह विचार भी करेंगे कि धार्मिक प्रचारक के रूप में उसने क्या और कितना काम किया।

हम पहले देख चुके हैं कि अशोक ने अपने अभिषेक के आठवें वर्ष में बौद्ध धर्म ग्रहण किया। तब वह उपासक था। द्वाइ वर्ष तक वह उपासक रहा और इस अवधि में, जैसा कि वह स्वयं बताता है, उसने विशेष उत्साह नहीं प्रदर्शित किया। पर उसके बाद उसमें परिवर्तन आया और वह अपने अभिषेक के दसवें वर्ष भिक्षु-गतिक बन गया। इस तरह उसके जीवन का एक बिल्कुल नया प्रव्याय शुरू हुआ। उसने फौरन अपना धार्मिक प्रचार का कार्य बढ़ा लिया और इतना अधिक उद्योग किया कि भिक्षु-गतिक बनने के एक वर्ष के भीतर ही उसे इस प्रचार का प्रशसापूर्ण वर्णन करना उचित जंचने लगा। यह वर्णन उसने दो स्थानों पर, एक बार गौण शिला प्रज्ञापन-१ में और दूसरी बार शिला प्रज्ञापन-४ में किया है। इनमें

से पहले अभिलेख में, जो उसके अफसरों के नाम हैं, अशोक कहता है. “इस अवधि (अर्थात् उसके भिक्षु-गतिक होने की अवधि) में, सारे जवुद्धीप में, मनुष्यों को, जो विना मिले थे, देवों के साथ मिलाया। यह उद्योग का ही फल है। यह कार्य सिर्फ बड़े अफसर के करने का नहीं है। आधीनस्थ अफसर भी अगर उद्योग करे तो प्रजा को अत्यन्त स्वर्गीय सुख प्राप्त करा सकता है।” इस प्रज्ञापन में अशोक ने अपने प्रचार-कार्य का दो तरह से वर्णन किया है— एक तो यह कहकर कि मैंने मनुष्यों और देवों को एक-दूसरे का सहयोगी बना दिया है, और दूसरे यह कहकर कि इससे प्रजा को अत्यधिक स्वर्गीय सुख प्राप्त होगा। बौद्ध सम्राट् का आशय सभाव्यत यह है कि उसके धर्म-प्रचार के परिणामस्वरूप बहुत से लोग इतने पवित्र और धार्मिक हो गये हैं कि उनमें से कुछ देवों के रूप में पैदा हुए हैं और अपनी मृत्यु के बाद उनके साथ मिल गये हैं, और अन्य लोग, जो जीवित हैं, अपने अगले जीवन में देवों के साथ मिल जाएँगे। अब यह पूछा जा सकता है कि किन कार्यों द्वारा अशोक एक साल की छोटी-सी अवधि में इतना बड़ा कार्य कर सका। इसका उत्तर शिला प्रज्ञापन ४ में मिलता है जिसमें फिर राजा अपने प्रयत्न की सफलता का उज्ज्वल विवरण देता है। जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, इस अभिलेख में अशोक हमें बताता है कि उसने विमानों, हस्तियों और अग्नि या ज्योति-स्कंधों के दृश्य दिखाकर प्रजा में धम्म का प्रचार किया है। ये वे स्वर्गीय सुख थे जो धार्मिक व्यक्तियों को अगले जन्म में देवता बनने पर मिलते थे। इस प्रकार हमें इस महत्त्वपूर्ण उपाय को लक्ष्य करना है जो अशोक ने अपने धम्म की वृद्धि के लिए अपनाया। वह प्रजा को विभिन्न प्रकार के देवों के और उन्हें मिलने वाले सुखों के दृश्य

दिखाता था। पिछले अध्याय में यह सुझाया गया है कि वह ये दृश्य समाजों में—उन समाजों या दावतों में नहीं जिनमें लोगों को मांस और शराब दिये जाते थे और जिनकी अशोक निन्दा करता था, बल्कि उन समाजों या नाटकघरों में जहाँ जनता को नाटक, संगीत और नृत्य का रसास्वादन कराया जाता था और जिन्हें वह अच्छा समझता था—दिखाता था। तो अशोक ने धर्म-प्रचार के लिए जो सबसे पहला कार्य किया वह शायद यह था कि वह देवों के विभिन्न सधों के, उनके देदीप्यमान स्वरूपों के, उनके स्वर्गीय प्रासादों के, दिव्य हाथियों आदि के दृश्य, जो उनकी समृद्धि और ऐश्वर्य के सूचक थे, दिखाता था। हम नहीं जानते कि वह कितने समय ऐसे दृश्य दिखाता रहा। सम्भाव्यतः वह अपने सारे राज्य-काल में ये दृश्य दिखाता रहा क्योंकि इससे दो प्रयोजनों की पूर्ति बड़ी अच्छी तरह होती थी, अर्थात् एक तो प्रजा का मनोरंजन होता था और दूसरे उन्हें पवित्रता का जीवन बिताने की प्रेरणा मिलती थी। पर इतना तो निश्चित है कि अपने भिक्षुगतिक रहने के एक वर्ष से अधिक समय में वह यह करता रहा, और यद्यपि यह अवधि कुछ बड़ी नहीं थी, पर अशोक का विचार था कि इस उपाय से धम्म की बहुत अधिक वृद्धि हुई—यह उतनी अधिक हुई जितनी पहले कभी नहीं हुई थी।

हम पहले देख चुके हैं कि अशोक ने जिन स्वर्गीय सुखों का निर्देश किया है उनका विमानवत्थु नामक पालि-ग्रंथ में बड़ा सजीव वर्णन है। इस ग्रंथ में, बड़े विचारपूर्वक उनके वर्णन पर बल दिया गया है, जिसका स्पष्टतः यह उद्देश्य है कि प्रजा को पवित्र और धार्मिक जीवन बिताने की प्रेरणा मिले। इस प्रसंग में उस कथा पर विचार करना उचित होगा जो बौद्ध ग्रंथों में बुद्ध के प्रमुख शिष्य

और अनुपम प्रचारक मोग्गलान के बारे में दी गयी है ।^१ उसे बौद्ध धर्म की ओर इतने अधिक लोगों को खींचने में सफलता हुई कि अन्य धर्मों के प्रचारक उससे ईर्ष्या करने लगे, और उन्होंने उसे मारने के लिए हत्यारो से रुपये ठहराये । पर उसके प्रचार-कार्य का रहस्य क्या था ? उसमें बताया गया है कि अपनी अतिमानवीय (Supper-natural) शक्तियों द्वारा वह स्वर्ग जाया करता था, देवों से मिला करता था और उनमें से प्रत्येक से पूछा करता था कि आपने देवत्व कैसे प्राप्त किया । और वे उसे बताया करते थे कि उन्हें किन कार्यों से किस तरह का देवत्व मिला । इसी प्रकार वह नरक-लोक जाया करता था और वहाँ के अभागों निवासियों से उनकी कष्ट-कथा पूछा करता था । इसके बाद मोग्गलान पृथ्वी पर लौट आता था और लोगों को बताता था । इसका लोगों के मन पर इतना गहरा प्रभाव हुआ कि वे बड़ी सख्या में उसके पास आने लगे और बौद्ध बनने लगे । बहुत सभाव्यतः मोग्गलान की यह कथा अशोक को ज्ञात थी । पर यदि जरा देर के लिए यह भी मान ले कि यह उसे ज्ञात नहीं थी तो भी अशोक जैसे विचारवान् और उत्साही प्रचारक के लिए, विमानवत्थु जैसे ग्रंथों में किये अनेक प्रकार के स्वर्गीय सुख के सजीव वर्णनों को क्रियात्मक रूप दे देना और विमानों, हस्तियों आदि को वास्तविक रूप में पेश करके उन्हें समाजों आदि के अवसरोपर, जब प्रजा स्वभावतः बड़ी सख्या में एकत्र होती होगी, दिखाना कोई बड़ी बात नहीं थी । और यदि मोग्गलान के जबानी यह बताने से कि किस पुण्य से कौनसा स्वर्ग मिलता है, और किस पाप से कौनसा नरक मिलता है, बहुत अधिक लोग उसके अनुयायी हो गये थे । तो जब प्रजा

१. कमेटरिज आन दि बम्मपद, III. ६५ (P. T. S.), जात० की भूमिका, पृ० ५२२ ।

के सागने स्वर्गों और स्वर्गीय सुखों के न केवल मौखिक बल्कि वास्तविक निरूपण प्रस्तुत किये गये होंगे तब अशोक के अनुयायी बनने के लिए लोगों की कितनी भीड़ जमा रहती होगी । यदि एक वर्ष जैसी छोटी अवधि में, एक ऐसे सम्यग्विचारित, सम्यगायोजित और सम्यक्-पूरित प्रचार-कार्य से, जैसे कि अशोक से आशा की जाती है, ऐसा आश्चर्यजनक—आशातीत तथा आश्चर्यजनक परिणाम हुआ तो इसमें जरा भी ताज्जुब की बात नहीं ।

अशोक ने अपने ध्येय की पूर्ति के लिए और भी कार्य किये । हम देख चुके हैं कि जिस समय उसने भिक्षु-गतिक जीवन का आरम्भ किया उसी समय उसने एक और योजना बनायी और उस पर चलना आरम्भ किया । शिला प्रज्ञापन ८ में कहा है :

“दीर्घकाल से राजा लोग विहार-यात्राओं पर जाते रहे हैं । इसमें शिकार और ऐसे ही अन्य विनोद होते थे । अब अपने-बौद्ध होने के दस वर्ष बाद देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी सबोधि (बोधि वृक्ष) गया । इस प्रकार इस धम्मयात्रा का आरम्भ हुआ । इसमें ब्राह्मण और श्रमण साधुओं का दर्शन और उन्हें उपहार-दान, वृद्धों का दर्शन और उन्हें स्वर्ण-वितरण तथा जनपद के लोगों से मिलना, उन्हें धर्म सम्बन्धी उपदेश देना और उनसे धर्म सम्बन्धी प्रश्न करना होता है ।”

इसमें अशोक हमें बताता है कि अपने अभिप्रेत के दसवें वर्ष तक, वह पुराने राजाओं की तरह, विहार-यात्राओं का आनन्द लिया करता था जिनमें वह शिकार तथा अन्य मनोविनोद करता था । उस वर्ष उसने विहार-यात्रा का विचार सदा के लिए छोड़ दिया, और उसके स्थान पर धर्मयात्रा आरम्भ कर दी और अब उसे इसी में आनन्द मिलता है । धर्मयात्रा से उसका वह ध्येय भी पूरा होता था

जो उसके मन में सर्वोपरि था, अर्थात् धम्म की वृद्धि । वह ब्राह्मण और श्रमण दोनों संप्रदायों के साधुओं से मिलकर और उन्हें दान देकर अपने अन्दर धर्म की वृद्धि करता था । इन यात्राओं में उसने प्रत्येक संप्रदाय के धम्म को सुना होगा और उसका अध्ययन किया होगा और इसकी सारभूत विशेषताओं को अपने अन्दर ग्रहण किया होगा और इस तरह अपने-आपको बहुश्रुत बनाया होगा । जहाँ तक प्रजा का सम्बन्ध था, वह उनके वैयक्तिक सम्पर्क में आकर, उनके धार्मिकता का उपदेश करके और उनकी आध्यात्मिक उन्नति के बारे में प्रश्न पूछकर, उनमें धर्म का प्रचार करता था । दूसरे शब्दों में, अशोक सच्चे अर्थों में धर्म-प्रचारक बन गया । पर यह बटना कब और कैसे हुई ? यह उसके अभिषेक के दसवें वर्ष उसकी बोधिवृक्ष की यात्रा के समय हुई । वस्तुतः जैसा कि हम देख चुके हैं, उसकी बोधिवृक्ष की यात्रा पहली धर्म-यात्रा थी । और क्योंकि वह उसी समय भिक्षु-गतिक हुआ था, इसलिए बलात् यह अनुमान निकलता है कि उसने अपने भिक्षु-गतिक जीवन के आरम्भ में भिक्षुओं के एक स्रष्टा के साथ महाबोधि की यात्रा की और कि इससे उसे तथा उसकी प्रजा को जो अनेक प्रकार के आध्यात्मिक लाभ हुए, उनके कारण उसने इसे अपने प्रचार-कार्यक्रम का एक स्थायी अंग बना लिया । इसलिए हम निश्चय कह सकते हैं कि स्वर्गों और स्वर्गीय सुखों के प्रदर्शनों के साथ-साथ अशोक ने अपनी प्रजा को स्वयं उपदेश देना शुरू किया— इसमें भी उसका असली उद्देश्य धम्म का प्रचार ही था ।

राजा के स्वयं उपदेश करने से प्रजा के मन पर निश्चित ही बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा होगा और इससे चारों ओर धम्म के प्रचार में बड़ी तीव्रता आयी होगी । पर आखिर सम्राट् एक ही व्यक्ति तो था और उसका सब प्रजा के पास पहुँचना शक्य नहीं था । इस

लिए अशोक ने अपने प्रतिनिधियों, अपने अफसरो, को यह आदेश देना आवश्यक समझा कि सब लोग उसका अनुकरण करें और जो कार्य उसने व्यक्तिगत रूप से शुरू किया है, उसे पूरा करने में मदद करें। यह उस बात से भी स्पष्ट है जो उसने स्तम्भ प्रज्ञापन ७ में कही है—यह प्रज्ञापन उस सब कार्य का संक्षेप है जो उसने अपने अभिषेक के सत्ताईसवें वर्ष तक किया था, और इसमें स्वभावतः उन विविध उपायों का उल्लेख है जो उसने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए सोचे और अपनाये। प्रज्ञापन के प्रारम्भ ही में उसने, अपनी प्रजा में धम्म के प्रचार के लिए, अपनी अत्यधिक और हार्दिक चिन्ता प्रकट की है। जिन शब्दों का उसने प्रयोग किया है वे इतने मार्मिक हैं कि उनको उद्धृत किये बिना नहीं रहा जाता :

“मेरे मन में यह विचार आया :—पहले भी राजाओं ने यह चाहा था कि लोगो में धर्म बढे जिससे उनकी उन्नति हो। पर लोगो की इस प्रकार उन्नति नहीं हुई। तो किस प्रकार मनुष्यों में धर्माचरण बढ सकता है ? किस प्रकार धर्म द्वारा उनकी उन्नति हो सकती है ? किस प्रकार उनमें धार्मिक भावनाओं की अभिवृद्धि कर उनका उत्थान कर सकता हूँ ? इस विषय में मेरा विचार है कि मैं धम्म की प्रज्ञप्ति (धम्म-सावन) कराऊँ और लोगो में धर्मसम्बन्धी शिक्षा (धम्म-आनुसथि) देने की आज्ञा कराऊँ। उसको सुनकर मनुष्य उसका पालन करेंगे और इस धार्मिक उन्नति से उनका उत्थान और अभिवृद्धि होगी।”

उपर्युक्त वाक्यावलि से स्पष्ट है कि धम्म के प्रचार का प्रश्न बहुत समय से गम्भीरतापूर्वक और बड़े विचारपूर्वक अशोक के मन में घूम रहा था। पर उसने यह भी साफ तौर से स्वीकार कर लिया है कि धम्म के प्रचार की बात पहले राजाओं ने भी सोची थी।

किन्तु उन राजाओं को अपने प्रयत्नों में कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं हुई थी ? पर प्रतीत होता है कि उसने इस समस्या पर बड़ा विचार किया और अन्त में उसे एक कार्य-प्रणाली सूझी, तथा उसने अपने उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए उस पर चलने का सकल्प किया । और उसने इस तरह जो उपाय अपनाये, उनमें से अधिकांश का उसने अपने प्रज्ञापन में उल्लेख किया है । इनमें से पहला है धम्म आनुसयि, 'धम्म की शिक्षा' और वह हमें यह भी बताता है कि उसके व्युष्ट और रज्जुक नामक अफसरो को, जो लाखों आदिमियों पर शासन करते हैं, प्रजा को उपदेश देने का आदेश दिया गया है । पर शिला प्रज्ञापन ३ में वह कुछ अधिक विस्तृत सूचना देता है । उसमें वह बताता है कि अपने अभिषेक के बारहवें वर्ष उसने न केवल रज्जुको को, बल्कि प्रादेशिकों और युक्तों को भी आदेश दिया कि वे, प्रजा को धम्म की शिक्षा देने के लिए तथा अपने राजकीय कार्यों की पूर्ति के लिए, प्रति पाँचवें वर्ष दोरे पर जाएँ । और, धम्म की जो शिक्षाएँ इन्होंने प्रजा को देनी ह, वे क्या हैं ? वे ही नैतिक आचरण हैं जो उसके धम्म के अंग हैं, और इनके ही वारे में उन्होंने प्रजा को उपदेश देना है । हम ऊपर देख चुके हैं कि रज्जुक, प्रादेशिक और युक्त, ये सब ऊँचे दर्जे के जिला अधिकारी थे और उन पर ऐसे कार्य-भार थे जिनकी पूर्ति के लिए उन्हें दौरों पर जाना पड़ता था । अपने समय-समय पर किये गये दौरों में किये जाने वाले इस राजकार्य के अतिरिक्त, अशोक ने उन्हें धर्म-प्रचारक के रूप में कार्य करने और जनपदों में धर्म का प्रचार करने का भार भी सौंपा । इस प्रकार उसके उच्च जिला अधिकारी न केवल अधिकारी थे, बल्कि शिक्षक भी थे । निःसंदेह अशोक ने धम्म प्रचार की एक नयी और सफल रीति निकाली । निश्चित रूप से यह उसका मौलिक

विचार था । जहाँ तक ज्ञात है, उससे पहले किसी राजा ने यह रीति नहीं अपनायी, और बाद में भी यह सिद्धान्त भारत में पुर्तगीज शासन की समृद्धि के दिनों में ही अमल में आया जबकि कम-से-कम सबसे ऊँचे अफसर अपने सामान्य कर्तव्यों के साथ-साथ धर्म-प्रचारक का काम भी करते थे ।

पर अशोक ने अपने धम्म के विस्तार के लिए सिर्फ धम्म-प्रानुसथि को ही नहीं अपनाया । जिन व्युष्ट नामक अधिकारियों से, स्तम्भ प्रज्ञापन ७ में, रज्जुओं के साथ-साथ धम्म-प्रानुसथि का मालन करने के लिए कहा गया है, उनसे धम्म-सावन अर्थात् धम्म-विपर्यय उद्घोषणाएँ भी करने के लिए कहा गया है । प्रतीत होता है कि ये सावन या उद्घोषणाएँ दो प्रकार की थी—एक तो जिलों के अधिकारियों के लिए होती थी और दूसरी प्रजा के लिए । सावन नि सदेह राजा की इच्छा और सकल्प को प्रकट करती थी । पहले प्रकार का उदाहरण गौण शिला प्रज्ञापन १ में है । इसमें, जैसा कि हम देख चुके हैं, राजा हमें बताता है कि अपने भिक्षु-गतिक रहने के दिनों में उसने देवों और मनुष्यों को मिलाने की भरसक कोशिश की ताकि मनुष्यों को स्वर्ग मिल सके । इस दिशा में अपने प्रयत्नों की अत्यधिक सफलता देखकर उसे यह इच्छा हुई कि न केवल मेरे अधिकारी बल्कि मेरे स्वतन्त्र पड़ोसी भी मेरा अनुसरण करें । इस-लिए उसने अपने व्युष्ट अधिकारियों द्वारा उस आशय के सावन उद्घोषित किये । इसी प्रकार, शिला प्रज्ञापन १२ में, जो विभिन्न संप्रदायों को सहिष्णुता की भावना की शिक्षा देता है, अशोक कहता है . “और जो लोग एक या दूसरे संप्रदाय से अनुराग करते हैं, उन्हें सूचित किया जाए : ‘देवताओं का प्रिय धन या पूजा को उतना

अच्छा नहीं समझता जितना इस बात को कि सब धार्मिक संप्रदायों में सारतत्व की वृद्धि हो और (पारस्परिक) समादर हो ! राजा की इस इच्छा की सूचना प्रजा को कैसे दी गयी ? यह सावनो द्वारा ही दी गयी ? सावन के जो उदाहरण अभी दिये गये हैं उनका उद्देश्य धम्म की वृद्धि है । इसलिए उन्हें धम्म-सावन कहना उचित है । परिणामतः अशोक ने धम्म-प्रचार का एक और साधन धम्म-सावनो को बनाया, जैसा कि वह स्तम्भ प्रज्ञापन ७ में कहता है ।

धम्म की वृद्धि के लिए अशोक ने जो तीसरा कार्य किया वह था धर्म-महामात्रों की नियुक्ति । हम देख चुके हैं कि ये अवसर जनता की आत्मिक और सासारिक भलाई की देखभाल करते थे । वे प्रजा की सासारिक भलाई की देखभाल कैसे करते थे, यह हम अध्याय २ में दिखा चुके हैं । यहाँ हमें यह देखना है कि अशोक ने उनसे धर्म की वृद्धि का कार्य कैसे कराया । पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि उसके समय में विभिन्न संप्रदायों में परस्पर सद्भावना और सौहार्द नहीं था । सब संप्रदायों की सारभूत शिक्षा तो एक ही थी, पर सिद्धान्तों-सबकी प्रश्न पर बड़ा भेद था । वे समानता-सूचक बातों की परवाह न करते थे, यद्यपि वे धर्म का सार थी, और मतभेद-सूचक बातों पर एक-दूसरे के साथ झगड़ते थे, यद्यपि वे बातें धर्म का गौण अंश थी । इसलिए बिल्कुल आवश्यक था कि उनका ध्यान धर्म के सारतत्व की ओर खींचा जाए और सब तरह की कटुता और विद्वेष को समाप्त कर दिया जाय । यह कार्य उसने धर्म-महामात्रों को सौंपा, जो उसके विस्तृत साम्राज्य के सब संप्रदायों की, विशेष रूप से बौद्धों, ग्राजीविकों और निर्ग्रन्थों की, देखभाल करते थे । अशोक आशा करता था कि इसके द्वारा प्रत्येक संप्रदाय अपनी उन्नति करेगा और धम्म और अधिक चमकेगा ।

धर्म-महामात्रों को धम्म के सिलसिले में सौंपे गये कार्यों में यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य था। उनको एक और भी कार्य सौंपा गया था। यह दान के संगठन के संबंध में था। पर इस कर्त्तव्य के स्वरूप को हम तब तक अच्छी तरह नहीं पहचान सकते जब तक हम अशोक द्वारा धम्म की उन्नति के लिए अपनाये गये चौथे उपाय पर विचार न कर लें।

जिन लोगों ने अशोक के लेखों का अध्ययन किया है वे इस तथ्य से अपरिचित नहीं हो सकते कि उसे अपने गुरु किये गये उदारता के कार्यों को गिनाने का बड़ा शौक है। पर उसका आशय आत्म-प्रशंसा या आत्म-विज्ञापन नहीं है। यह बात स्तम्भ-प्रज्ञापन ७ के निम्न अंग से स्पष्ट है

“मार्गों पर मैंने वरगद के पेड़ लगवा दिये हैं। उनसे मनुष्यों और पशुओं को छाया मिलेगी। मैंने आमों के बाग लगवाये हैं। प्रत्येक आठ कोस पर मैंने कुएँ खुदवाए हैं और विश्रामघर बनवाये हैं। मनुष्यों और पशुओं के मुख के लिए मैंने विभिन्न स्थानों पर प्याऊ लगवाये हैं। पर सुख की यह व्यवस्था बिल्कुल नगण्य है, क्योंकि मेरी ही तरह पूर्ववर्त्ती राजाओं ने भी मनुष्यों के लिए अनेक सुखकारक कार्य किये थे। पर मैंने यह इस अभिप्राय से किया है कि लोग धर्म के आचरण करें।” इस प्रकार अशोक सरल भाव से स्वीकार करता है कि उसने मनुष्यों और पशुओं के लिए जिन विभिन्न प्रकार के सुखों की व्यवस्था की है, वह कोई ऐसी व्यवस्था नहीं जो अकेले उसने ही की हो, बल्कि वह कार्य पूर्ववर्त्ती राजाओं ने भी किया था। तो फिर पूछा जा सकता है कि वह अपने इन धर्म-कार्यों का बखान क्यों करता है? वह स्वयं इसका उत्तर देता है। वह कहता है कि मैंने इसलिए ऐसा किया है कि अन्य लोग मेरा अनुसरण

करे। इसमें कोई सदेह नहीं कि अशोक का वास्तविक आशय यही था। क्योंकि इसी प्रज्ञापन में और जरा आगे वह ठीक यही बात कहता है। “मैंने जितने भी अच्छे काम किये हैं, उनका मनुष्यों ने अनुसरण किया है, और वे (भविष्य में भी) इन कार्यों को करेंगे।” पर अशोक यही आकर नहीं रुक गया। वह चाहता था कि धार्मिक दान के कार्यों में राज-परिवार के सदस्य भी उसके साथ हिस्सा बटाएँ और हृदय से सहयोग करें। इसलिए उसने धर्म-महामात्रों तथा अन्य उच्च अधिकारियों को आदेश दिया कि वे राज-परिवार के सदस्यों से मिलकर उनसे धार्मिक कार्यों के लिए दान माँगे। “ये (अर्थात् धर्म-महामात्र) और अन्य अनेक मुख्य कर्मचारी मेरे तथा रानियों द्वारा किये गये दान का ठीक-ठीक प्रबन्ध करते हैं, और यहाँ (अर्थात् पाटलिपुत्र में) और जनपदों में, मेरे अन्तःपुरों में वे विविध सतोषजनक कार्य कर रहे हैं। और मैंने व्यवस्था की है कि वे मेरे पुत्रों तथा रानियों के दानों का प्रबन्ध भी करें।” इस प्रकार हम देखते हैं कि अशोक सिर्फ अपने दान-कार्य से सतुष्ट न हुआ और उसने अपने धर्म-महामात्रों तथा अन्य उच्च अधिकारियों के द्वारा अपने सम्बन्धियों को अपना अनुकरण करने के लिए प्रेरित करने का यत्न किया। ये ‘अन्य उच्च अधिकारी’ कौन थे, यह हम नहीं जानते। पर यह निश्चित है कि धर्म-महामात्रों को अशोक के सम्बन्धियों तथा अन्य लोगों को दान करने के लिए प्रेरित करने का काम सौंपा गया था। राज-परिवार के लोगों के विषय में धर्म-महामात्रों का जो कर्तव्य स्तम्भ प्रज्ञापन ७ में बताया गया है, उसे शिला प्रज्ञापन ५ में न केवल दोहराया गया है, बल्कि यह और जोड़ दिया गया है कि वे “धम्म की ओर प्रवृत्ति वाले, धम्म का आश्रय पाने के इच्छुक और दान आदि देने की कामना वाले” लोगों को सहायता

देने के लिए नियुक्त हैं। यह जरा विचित्र मालूम होता है कि अशोक सब लोगों के—चाहे वे धनी हो या निर्धन, बड़े हो या छोटे—दान करने पर इतना बल दे। निःसंदेह राजा के रूप में उसका कर्तव्य था कि वह सार्वजनिक सुख और लाभ के कार्य कराये। पर वह सर्वत्र हमें यह स्मरण कराता है कि मैंने ये काम इसलिए किए जिससे लोग मेरे उदाहरण पर चले। उसे यह चिन्ता भी है कि उसके सबधी इसी तरह दान-धर्म के कार्य करे—इसमें उसका उद्देश्य सिर्फ यह नहीं है कि उन्हें आध्यात्मिक पुण्य प्राप्त हो बल्कि यह भी है कि वे जनसाधारण के सामने आदर्श प्रस्तुत करें। इसलिए यह विचित्र-सा लगता है कि अशोक दान-कार्यों को इतना अधिक महत्त्व दे। और स्वभावतः यह पूछा जा सकता है कि क्या बौद्ध धर्म उस प्रकार के सार्वजनिक लाभ के कार्यों को, जिनका अशोक ने निर्देश किया है, कोई महत्त्व देता है? सयुक्त-निकाय^१ का निम्न पद्य इस बात को स्पष्ट कर देगा :

बाग लगाने वाले

भला बताओ कैसे नर का
पुण्य निरंतर बढ़ता जाता ?
धर्म-सुकृत के बल से, बोलो,
कौन स्वर्ग इस भू से जाता ?

फल वाले तरु, बाग लगाता,
पुल बनवाता बाँध बँधाता,
कुएँ खुदाता, प्याउ लगाता,
वेधर का जो आश्रयदाता—

१. १, ५, ७, श्रीमती राइस डेविड्स कृत अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ४५-४६ का हिन्दी रूपांतर।

ऐसे ही नर-वर का निशि-दिन

पुण्य निरन्तर बढ़ता जाता ।

धर्म-सुकृत के बल से वह ही

स्वर्गलोक इस भू से जाता ।

धर्म की उन्नति और प्रचार के लिए अशोक ने एक और उपाय भी अपनाया । स्तम्भ प्रज्ञापन ७ में वह धम्म-सावनी और धर्म-महामात्रो के साथ-साथ धम्म-थभो या धर्मस्तभो का उल्लेख करता है । स्पष्ट है कि धम्म-थभों या धर्मस्तम्भो का मतलब उन पर उत्कीर्ण धम्मलिपियो से है । और इनके साथ वे लेख भी हैं जो शिलाओ पर उत्कीर्ण थे—ये स्तम्भ-प्रज्ञापनो से बाद में उत्कीर्ण कराये गये थे, इसलिए स्तम्भ प्रज्ञापनो पर इनका उल्लेख नहीं हो सकता था । वास्तव में इसका मतलब अशोक द्वारा उत्कीर्ण करायी गयीं सब धम्मलिपियो से है । पर यह पूछा जा सकता है कि धम्मलिपियो के उत्कीर्ण कराने से धम्म की वास्तव में कितनी उन्नति हुई । कुछ विद्वानों की सम्मति है कि अशोक ने ये लिपियाँ अपना नाम अमर करने के लिए खुदवायी । दूसरे शब्दों में, उनके विचार के अनुसार अशोक के मन में यह भ्रम था कि मैं बहुत बड़ा राजा हूँ । पर इससे अधिक गलत विचार हो नहीं सकता । अपने शिला और स्तम्भ प्रज्ञापनो में अनेक बार वह स्पष्ट रूप से कहता है कि पत्थरों पर धम्मलिपियाँ खुदवाने में उसका एक उद्देश्य यह है कि वे चिरस्थायी रहे और उसका दूसरा तथा मुख्य उद्देश्य यह है कि उसके वंशज प्रजा के सासारिक और आध्यात्मिक लाभ के लिए उसका अनुसरण करें । शिला प्रज्ञापन ४, ५ और ६ तथा स्तम्भ प्रज्ञापन ७ के अन्तिम अंशों को ध्यान से पढ़ने वाले व्यक्ति को अवश्य निश्चय हो जायगा कि अशोक का पत्थर पर धम्मलिपियाँ खुदवाने का वास्त-

विक उद्देश्य क्या था। सुनिश्चित रूप से, अशोक का उद्देश्य यह था, जैसा कि उसने बताया है, कि यदि वे चिरस्थायी रही तो उसके उत्तराधिकारी, राजकीय अभिलेखों के बिना ही, इन प्रस्तरीय अभिलेखों से यह देख सकेंगे कि उसने धम्म की उन्नति के लिए क्या किया और धम्म की उन्नति के महान् कार्य में उसे मात भी नहीं देगे तो कम से कम उससे स्पृद्धा तो करेंगे। दूसरे शब्दों में, वह धम्म पर इतने आसाधारण रूप से अनुरक्त था कि उसने अपने वंशजों को अपना कार्य जतलाने के लिए, और उन्हें भी यह कार्य करने को प्रेरित करने के लिए जो सर्वोत्तम उपाय समझा, वह किया।

धर्म-प्रचारक के रूप में अशोक के कार्य की ठीक-ठीक धारणा हम तब तक नहीं बना सकते जब तक हम यह न देखे कि उसने प्राणिजगत के सुख और कल्याण के लिए क्या किया। यह ध्यान देने योग्य बात है कि राजा के रूप में वह यह समझता था कि मेरा कर्त्तव्य सिर्फ मनुष्यों के प्रति ही नहीं है, बल्कि प्राणिमात्र के प्रति है और इसलिए यह देखना आवश्यक है कि उसने प्राणियों के जीवन की रक्षा और सुख की वृद्धि के लिए क्या उपाय किये। उसके इस सबध में किये गये कार्य को दो भागों में बाँटा जा सकता है (१) वे उपाय जो उसने प्राणियों को होने वाली हानि तथा उनके वध को रोकने के लिए किये, और (२) वे कार्य जो उसने उनके शारीरिक सुख की वृद्धि के लिये किये। पहली बात के विषय में स्तम्भ प्रज्ञापन ५ से हमें बहुत जानकारी मिलती है। उसमें अशोक हमें बताता है कि मैंने प्राणियों को क्षति पहुँचाने और मारने पर क्या-क्या रोक लगा दी है। पहले तो वह ऐसे सब प्राणियों का वध रोक देता है जो न तो भोजन के काम आते हैं और न सजावट या औपधि के काम आते हैं। दूसरे शब्दों में, वह जीवन के निर्द्वन्द्व विनाश पर

रोक लगा देता है और यहाँ तक आदेश दे देता है कि जीवन-युक्त चारे को भी न जलाया जाए। भोजन के, अथवा घरेलू या अन्य कार्यों में ग्राने वाले प्राणियों के लिए वह यह नियम बनाता है कि उन्हें कुछ, विशिष्ट, शुभ दिनों पर न तो मारा जाएगा और न दागा या खस्सी किया जाएगा। पहले-पहल यह प्रतीत होता है कि ये पावन्दियाँ अशोक की मौलिक सूक्त थी। पर कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी ये पावन्दियाँ लगाने के लिए कहा गया है। इस प्रकार, इसके अध्याय ४३ में^१ कहा गया है कि सब विहार या क्रीडा के पक्षियों और सब शुभ प्राणियों की, चाहे वे पशु हो चाहे पक्षी, विनाश या छेड़-छाड़ से रक्षा की जाएगी। वहाँ दी गयी उद्यान-पक्षियों की सूची में कम से कम चार वे हैं जिन्हें अशोक ने अवध्य बताया है। फिर, इस ग्रन्थ के अध्याय १७२^२ में कहा गया है कि राजा कुछ शुभ दिनों में प्राणिवध का निषेध करे और खस्सी और भ्रूणनाश करने पर रोक लगाये—ये दिन वही हैं जिनका अशोक ने उल्लेख किया है। इस लिए ये निषेध उसकी अपनी सूक्त नहीं थे—उसने तो अर्थशास्त्र में बताये गये निषेधों को कार्यान्वित किया था। और इस विषय में हम सिर्फ इतना ही कह सकते हैं कि उसने उनको ठीक तरह कार्यान्वित करने के लिए भरसक कोशिश की होगी। पर उसने उन निषेधों को कितनी भी अच्छी तरह कार्यान्वित किया हो, उनका बहुत अधिक लाभ न हुआ होगा। अशोक स्तम्भ प्रज्ञापन ७ में स्वयं यह स्वीकार करता है। वह कहता है कि इस तरह की पावन्दियाँ लगाने से और कुछ प्राणियों को अवध्य घोषित करने से कोई विशेष लाभ नहीं, पर कि निभक्ति, अर्थात् आम पशु-हत्या को रोकने से उसका

१ अर्थशास्त्र, पृ० १२२।

२ वही, पृ० ४०७।

ध्येय सिद्ध हुआ है। इस ध्येय को लक्ष्य में रखकर उसने अपने धर्म-प्रचारक अधिकारियों को आदेश दिया कि वे जनता में धर्म का प्रचार करते समय 'अनारंभो प्राणाना' और 'अविहिंसा भूताना' की आवश्यकता पर बल दें। अब अशोक एक कदम आगे बढ़ गया है, क्योंकि अब वह जीवन की क्षति और हत्या को न सिर्फ कम करना चाहता है बल्कि यदि संभव हो तो उसे सर्वथा रोक देना चाहता है। और, जैसी कि उससे आशा की जानी चाहिए, वह इस दिशा में जनता के सामने आदर्श प्रस्तुत करता है। पहले अध्याय में उन कार्यों का उल्लेख किया गया है जो अशोक, पूर्ववर्ती राजाओं की तरह, अपने-आपको प्रजा का प्रिय बनाने के लिए करता था। हम जानते हैं कि वह समाज मनाता था, जिनमें से कुछ में नाटक, संगीत और नृत्य के मनोरंजन प्रस्तुत किये जाते थे, और कुछ में मांस और मद्य उड़ते थे। दूसरे प्रकार के समाजों में निमंत्रितों की विशाल संख्या को मांस खिलाने के लिए बहुत सारे प्राणी मारे जाते होंगे। हम यह भी देख चुके हैं कि अशोक अपने प्रासाद में प्रतिदिन भिक्षा में प्रजा को मांस देने की परम्परागत प्रथा को भी जारी रखे हुए था और वह हमें बताता है कि उसके लिए राजा के रसोईघर में प्रतिदिन लाखों प्राणियों का वध होता था। समाजों के लिए या भिक्षा में देने के लिए अपेक्षित जीव निःसंदेह खाने के काम के लिए मारे जाते थे और स्तम्भ प्रज्ञापन ५ में उल्लिखित किसी पावन्दी द्वारा उनका वध नहीं रोका जा सकता था। पर वह यही पर नहीं रुका। क्योंकि उसने अपने ऊपर भी दया न दिखायी, और हम देख चुके हैं कि उसने अपने लिए परीसे जाने वाले भोजन पर भी कई पावन्दियाँ लगायी और किस तरह अंत में उसने मांस-भक्षण सर्वथा त्याग दिया—यहाँ तक कि मोर का मांस भी छोड़ दिया जो मध्य-

देश के लोगो में इतना स्वादिष्ट माना जाता था । पर हमें यह स्मरण रहना चाहिए कि इन कार्यों का उद्देश्य सामान्य तौर से प्राणियों को हानि और हत्या से बचाना था और इनका आशय उनके शरीरिक सुख की वृद्धि करना नहीं था । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने और उपाय अपनाये । और हम जानते हैं कि ये उपाय क्या थे । ये वे उपाय थे जो उसने न केवल मनुष्यों के बल्कि पशुओं के जीवन को भी सुखी बनाने के लिए अपनाये और ये राजा द्वारा किये गये पूर्ण कार्य थे । इनका वर्णन स्तम्भ प्रज्ञापन ७ में किया गया है और हम देख चुके हैं कि ये क्या थे । लगभग वे ही लोकोपकारी कार्य शिला प्रज्ञापन २ में गिनाये गये हैं । पर इस शिला प्रज्ञापन में एक कार्य ऐसा है जो बहुत महत्वपूर्ण है पर जिसका स्तम्भ प्रज्ञापन ७ में उल्लेख नहीं है । इसमें अशोक कहता है कि मैंने दो प्रकार की चिकित्सा की व्यवस्था की है, एक मनुष्यों के लिए और एक पशुओं के लिए । उसने इस उद्देश्य को जिस तरह पूरा किया उसका निम्नलिखित वर्णन किया है . “जहाँ मनुष्यों और पशुओं के लिए उपयोगी वनस्पतियाँ नहीं मिलती, वहाँ सब जगह वे बाहर से ले जाकर लगायी गयी हैं ।” राजा के लिए अत्यधिक प्रशंसनीय बात यह है कि उसने यह कार्य न केवल अपने राज्य के अन्दर, बल्कि पड़ोसी राजाओं के राज्यों में भी किया, जो करीब-करीब वही हैं, जिनका उल्लेख शिला प्रज्ञापन १३ में किया गया है, और हम देख चुके हैं कि वे राजा कौन थे ।

अशोक के धर्म-प्रचार कार्य की प्रतिक्रिया कहाँ तक हुई ? यह सिर्फ उसके अपने विस्तृत साम्राज्य में ही नहीं हुई—अशोक का दावा है कि मैंने अपने पड़ोसी स्वतन्त्र राजाओं के राज्यों में भी धम्म का प्रसार किया । शिला प्रज्ञापन १३ में जहाँ वह अपने पुत्रों

और पौत्रों को सवोधित करता है, बौद्ध सम्राट् कहता है : “पर जो धम्म द्वारा विजय है, उसे देवानाप्रिय सबसे मुख्य विजय मानता है। और देवानाप्रिय ने वह विजय न केवल यहाँ और सीमावर्ती राज्यों में बल्कि छः सौ योजन तक प्राप्त की है।” इस तरह अशोक हमें स्पष्ट बताता है कि उसने धम्म-विजय न केवल अपने साम्राज्य में बल्कि पड़ोस के राज्यों में भी प्राप्त की है। अपने साम्राज्य के बारे में वह उन सीमान्त देशों का विशिष्ट उल्लेख करता है जो उसके राज्य के अन्तर्गत थे और जिनमें उसका प्रचार-कार्य हो रहा था। सीमावर्ती राज्यों में वह न केवल भारत के धुर दक्षिण के स्वतन्त्र प्रदेशों का, बल्कि पाँच ग्रीक राजाओं का भी, जिक्र करता है। इस प्रकार हमें वह विस्तृत प्रदेश दृष्टिगोचर होता है जिसमें अशोक कहता है कि मेरा धम्म फैल गया है। यह न केवल सारे भारत और श्रीलंका में प्रचारित हो गया था, बल्कि सीरिया, मिस्र, मैसिडोनिया, एपिरस और सिरीन के उन भागों में भी फैल गया था जो ग्रीक शासकों के अधीन थे। पर इतने ही पर अन्त नहीं था। क्योंकि उसी प्रज्ञापन में सम्राट् आगे बताता है : “जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं पहुँच सके वहाँ के लोग भी धर्मानुशासन, धर्मविधान और धर्माचरण की प्रसिद्धि सुनकर उनका अनुसरण करते हैं, और करेंगे।” चीन और बर्मा में उसका जो धार्मिक प्रचार हो रहा था, यह उसका निर्देश हो सकता है :

यदि हम अशोक के सम्यगायोजित कार्यक्रम पर, और उसे क्रियान्वित करने के लिए अशोक ने जो व्यवस्थित उद्योग किया, उस पर विचार करें तो उसके धर्म-प्रचार कार्यों के विस्तार के बारे में शिला प्रज्ञापन १३ में कही गयी बात किसी भी तरह अविश्वसनीय नहीं प्रतीत होती। पर कुछ विद्वान् उन्हें सदेह की दृष्टि से

देखते हैं और यह मानते हैं कि अशोक के समय में बौद्ध धर्म भारत की सीमाओं से बाहर नहीं गया था। इनमें सबसे प्रमुख हैं प्रो० टी० डब्लू० राइस-डेविड्स। अशोक ने इस प्रज्ञापन में धम्म-प्रचार के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उस पर यह पालि विद्वान कहता है “यह कहना कठिन है कि इसमें से कितना अंश सिर्फ राजकीय डींग है। प्रतीत होता है कि ग्रीक राजाओं का उल्लेख, सिर्फ गिनती बढ़ाने के लिए कर दिया गया है; और कि वास्तव में वहाँ कोई दूत भेजा ही नहीं गया था। यदि वहाँ दूत भेजे भी गये होंगे तो भी आत्म-संतुष्ट ग्रीकों ने उनकी ओर कोई विशेष ध्यान न दिया होगा। अशोक ने अपनी सफलता का जो अनुमान किया है उससे उसके अपने अहंकार का ही अधिक पता चलता है, ग्रीकों की वश्यता का नहीं। हम यह तो सोच सकते हैं कि ग्रीकों ने इस वेहूदगी पर बड़ी दिल्लगी की होगी कि एक “जगली उन्हें उनका कर्तव्य सिखाये, पर हम यह नहीं सोच सकते कि एक विदेशी राजा के कहने पर उन्होंने अपने देवताओं और अन्धविश्वासों को छोड़ दिया होगा।”^१ यहाँ प्रो० राइस-डेविड्स ने यह मान लिया है कि अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए ग्रीक राजाओं के पास दूत भेजे होंगे। पर यह एक निरी कल्पना है। शिला प्रज्ञापन १३ से जो कुछ हम समझ सकते हैं वह यह है कि बहुत सभाव्यतः, अशोक ग्रीक राजाओं के यहाँ पहले ही दूत भेजा करता था, पर अब उसने अपने इन अफसरों के द्वारा ग्रीक राज्यों में उसी तरह अपने धर्म का प्रचार शुरू कर दिया जैसे वह अपने साम्राज्य के भीतर अफसरों द्वारा धर्म-प्रचार करता था। हम जानते हैं कि सेल्युकीयन राजतन्त्र ने मौर्य दरबार में बारी-बारी दो राजदूत भेजे थे। मिस्र के शासक टालेमी

फिलाडेल्फोस ने भी इस भारतीय दरबार में एक दूत भेजा था । यदि ये बातें सही हैं तो यह बिलकुल समझ में आने वाली बात है कि मौर्य राजतन्त्र भी, चन्द्रगुप्त के समय से, बदले में अपने राजदूत ग्रीक दरबारों में भेजता होगा । और क्योंकि बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अशोक द्वारा अपनाया गया एक बहुत अधिक सफल तरीका यह था कि उसने उस धर्म के प्रचार के लिए ऊँचे अफसरों को नियुक्त किया था, इसलिए स्वभावतः यह आशा होती है कि ग्रीक राज्यों के बारे में भी, जहाँ उसके अफसर दूतों के रूप में कार्य कर रहे थे, उसने ठीक यही रीति अपनायी होगी । प्रो० राइस-डेविड्स का यह भी विचार है कि अगर क्षण भर के लिए यह मान भी लिया जाए कि अशोक के राजदूत धर्म-प्रचार का कार्य भी करते थे, तो भी वे ग्रीक लोगों में से बहुत अधिक बौद्ध नहीं बना सके होंगे क्योंकि ग्रीक लोग इतने आत्मसंतुष्ट थे कि वे न तो “जगलियो” के उपदेश सुनने वाले थे और न अपने देवताओं और अन्धविश्वासों को छोड़ने वाले थे । यहाँ भी प्रोफेसर महोदय ने यह धारणा बना ली है कि अशोक ने बहुत से ग्रीकों को बौद्ध बनाया । बौद्ध सम्राट् ने तो सिर्फ यह कहा है कि मैंने ग्रीक राज्यों में अपने धर्म का प्रचार किया । इसका यह अर्थ होना आवश्यक नहीं कि उसे ग्रीकों को बौद्ध बनाने में सफलता मिली, बल्कि वह सिर्फ उन राज्यों के लोगों को बौद्ध बनाने में सफल हुआ जिनमें बहुत से ग्रीकेतर होंगे । फिर ग्रीक लोग दूसरों के धर्म को स्वीकार करने में इतने असमर्थ क्यों थे ? सभ्यता में अपने से हीन ‘जगलियो’ के धर्मों के प्रति उनका रुख बेशक समझ में न आने योग्य है । पर आप यह क्यों मान बैठते हैं कि वे बौद्धिक दृष्टि से दुराग्रही थे और एक ऐसी जाति के धार्मिक प्रभावों से अप्रभाव्य थे जो संस्कृति में उनसे किसी भी तरह हीन

नहीं थी। उदाहरण के लिए, क्या हम नहीं जानते कि ग्रीक या यवन, जो भारतीय सभ्यता के सम्पर्क में आए, बौद्ध तथा अन्य भारतीय मतों के अनुयायी हो गये।^१ साहित्य और शिलालेखों में उनका अनेक जगह उल्लेख है। फिर, मिस्र के टालेमी फिलाडेल्फोस ने सिकन्दरिया के पुस्तकालय की स्थापना या विस्तार किया था, और एपिफेनिअस के लेख से हमें ज्ञात है कि उसका पुस्तकाव्यस हिन्दुओं की पुस्तकों के अनुवाद के लिए उत्सुक था। निश्चित रूप से, ग्रीक ऐसे सांस्कृतिक दुराग्रही नहीं थे, जैसा उनके कुछ आधुनिक प्रशंसक उन्हें समझते हैं।

प्रो० राइस-डेविड्स का विचार है कि अशोक के समय में बौद्ध धर्म का जो प्रसार हुआ उसकी कथा अशोक के प्रज्ञापनों की अपेक्षा सिंहल के इतिहास-ग्रंथों में अधिक सरक्षित है। इन ग्रंथों में मोग्गली के पुत्र तिस्स द्वारा भारत के विविध भागों में भेजे गये प्रचारक-मंडलों का विवरण दिया गया है। प्रत्येक मंडल में एक नेता और उसके चार सहायक थे। प्रोफेसर साहब कहते हैं कि "जब हम देखते हैं कि उनके अनुसार, प्रचारक-मंडल अशोक ने नहीं भेजे थे बल्कि सघ के नेताओं ने भेजे थे, और कि उनमें पश्चिम की ओर ग्रीक राज्यों में ऐसे मंडल भेजने का कोई उल्लेख नहीं है, तब यह, कम-से-कम सभाव्य तो है ही कि इन दृष्टियों से उनका विचार, सरकारी उद्घोषणाओं की अपेक्षा अधिक सही है।"^२ दूसरे शब्दों में प्रो० राइस-डेविड्स यह कहना चाहते हैं कि ग्रीक लोगों में आत्म-संतुष्टि और आत्म-विकल्थना इतनी अधिक थी कि बौद्ध धर्म ग्रीक राज्यों तक नहीं फैल सकता था, और कि क्योंकि सिंहली इतिहास-ग्रंथों में

१. IA, १९११, पृ० ११-३।

२ बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० ३०१-२।

यह वर्णन है कि अशोक के समय बौद्ध धर्म का प्रचार सिर्फ भारत के सीमावर्ती प्रदेशों में हुआ था, इसलिए यह ही अधिक सम्भाव्य और सही माना जाना चाहिए। और फिर, क्योंकि इन ग्रंथों के अनुसार, धर्म-प्रचारक बौद्ध सघ के नेता ने भेजे थे, अशोक ने नहीं, इसलिए अशोक का यह दावा कि उसने ग्रीक राज्यों में बौद्ध धर्म का प्रचार किया, या कि उसे भारत में बौद्ध धर्म का प्रसार करने में सफलता मिली, शुद्ध राजकीय डींग है और उसके अपने अहंकार की निदर्शक है। सिंहली इतिहास-ग्रंथों में, जो श्रीलंका के भिक्षु लिखकर छोड़ गये हैं, कहीं-कहीं सच्चे इतिहास के अंश सुरक्षित होने के कारण, उनमें अपने अटल विश्वास को वे उचित समझते हैं। और प्रो० राइस-डेविड्स यह दिखाने का यत्न करते हैं कि उन्होंने इन धर्म-प्रचारक मंडलों के बारे में जो इतिहास ग्रथित किया है विशेष-कर उसके बारे में यह कथन कहाँ तक सही है। वह कहते हैं कि धर्म के प्रचार के लिए जो तीन प्रचारक हिमालय प्रदेश में भेजे गये थे, वे मज्झिम, कस्सप-गोत्त और दुन्दुभिस्सर थे। स्वभावतः यह समझा जाता कि यह बात निरी कपोल-कल्पना है। परन्तु कनिंघहम ने साची में जो स्तूप खोले उनमें उसे कुछ भस्म-पात्र मिले जिन पर ये नाम खुदे हुए थे, और उनमें यह बताया गया था कि इनमें से पिछले दो भिक्षु प्रचार के लिए हिमालय की ओर गये थे। प्रोफेसर साहव का विचार है कि यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि सिंहली भिक्षुओं ने अशोक के समय बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए किये गये कार्य का सही विवरण हम तक पहुँचाया है। पर, दीपवंश में पाँच नाम दिये गये हैं जिनमें से एक मज्झिम है, लेकिन महावंश में कहा है कि मज्झिम इस मंडल का नेता था। साची के भस्म-पात्रों के लेखों में मज्झिम का नाम अवश्य है पर जिस व्यक्ति को

हिमालय के देशों का आचार्य बताया गया है, वह मज्झिम नहीं, बल्कि गोतीपुत कसप-गोत है। फिर, इन लेखों में हिमालय के आचार्य कसप-गोत के साथ कम से कम नौ भिक्षु बताये गये हैं, जिनमें से सिर्फ दो दीपवंश के नामों से मिलते हैं। साची के लेखों में दीपवंश द्वारा निर्दिष्ट दो और नाम क्यों नहीं हैं, प्रथवा दीपवंश साची के लेखों में आये शेष सात नामों की चर्चा क्यों नहीं करता। इसलिए जहाँ तक प्रचारक-मंडल के इस विवरण का प्रश्न है, वहाँ तक दीपवंश को ऐतिहासिक दृष्टि से विश्वसनीय और सही कैसे माना जा सकता है, यह हमारी समझ में नहीं आता। सिंहली इतिहास-ग्रंथों के अनुसार, जो चार आचार्य भेजे गये थे वे रक्खित, धम्म-रक्खित, महाधम्मरक्खित, और महारक्खित थे। क्या चार व्यक्तियों के नामों की यह समरूपता इस विवरण पर प्रबल संदेह पैदा करने के लिए काफी नहीं है? नामों की यही समरूपता दो भिक्षुओं, मज्झिम और मज्झिमातिक में मिलती है। फिर, दो व्यक्तियों, सोन और उत्तर को, जो प्रचार के लिए स्वर्गभूमि गये थे, विद्वान् लोग वास्तव में एक ही व्यक्ति मानते हैं। इस प्रकार यह ठीक ही सोचा गया है कि ऐतिहासिक लेखों के रूप में, इस विवरण का उपयोग करते हुए बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है। इस अवस्था में यह कहना कि सिंहली इतिहास-ग्रंथों में प्रचार मंडलों का अशोक को प्रज्ञापनों की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय विवरण है, "एक प्रमान्य अटकल" है।

अशोक ने ग्रीक राजाओं के राज्यों का उल्लेख सिर्फ एक बार नहीं किया। और न यह बात है कि सुदूर देशों में अपने धार्मिक प्रचार के विवरण में ही उसने उनकी चर्चा की हो। एक और स्थान

पर भी इन राजाओं का उल्लेख हुआ है। शिला प्रज्ञापन २ में वह मनुष्यों और पशुओं के लिए की गयी अपनी चिकित्सा-व्यवस्था की, और जहाँ औषधियाँ नहीं होती थी वहाँ उन्हें भेजने और रोपने की, चर्चा करता है। वह कहता है कि यह लोकोपकारी कार्य न केवल मेरे राज्य में बल्कि ग्रीक राज्यों में भी किया गया। तो इसलिए क्या हम यह मान ले कि अशोक की दोनों बातें सही नहीं हैं ? यह तो उस पर सीधी मिथ्या रचना का आरोप लगाना होगा, जिसे कोई भी समझदार आदमी उचित नहीं बता सकता। यह तो संभव है कि अशोक ने वास्तविक परिणामों को अतिरजित करके कहा हो। पर उसके इस कथन पर कोई निष्पक्ष व्यक्ति तर्कसंगत सदेह नहीं कर सकता कि वह अपना धर्म-प्रचार अपने अफसरों द्वारा करता था, और कि यह प्रचार वह सिर्फ अपने ही राज्य में नहीं, बल्कि विदेशी राज्यों में भी करता था। पर यह पूछा जा सकता है और पूछना उचित होगा कि क्या उसके प्रचारक कार्यों का उन देशों में कोई स्थायी प्रभाव हुआ ? इसलिए हमें यहाँ यह विचार करना है कि ग्रीक प्रदेशों में अशोक का प्रचार कहाँ तक सफल हुआ।

यह एक स्मरणीय तथ्य है कि बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म में बहुत सी विशेषताएँ एक जैसी हैं, और कि उनका सादृश्य आकस्मिक नहीं कहा जा सकता। यहाँ सबसे अच्छा यह होगा कि हम एफ० मैक्स-मूलर द्वारा पच्चीस वर्ष पूर्व दिये गये एक ज्ञानवर्द्धक व्याख्यान का सारांश प्रस्तुत कर दें। आपने कहा था कि दो रोमन कैथोलिक पादरियों को, अपनी तिब्बत यात्रा में, यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उनका और बौद्ध भिक्षुओं का कर्मकांड बिलकुल मिलता था। उन्होंने इस मेल का कारण शैतान को बताया। पर यदि प्राकृतिक कारणों से यह मेल हो सकता तो और कोई कारण खोजने

की आवश्यकता नहीं। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि चीन में सातवीं सदी के मध्य भाग से आठवीं सदी के अंत तक ईसाई मिशनरियों की हलचलें जोरों पर थीं। तो इस तरह इस मेल की बड़ी सतोषजनक रीति से व्याख्या हो जाती है। परन्तु बौद्ध और ईसाई धर्मों में कुछ और भी मेल दिखायी देते हैं जो बौद्ध धर्म के प्राचीन काल से सबब रखते हैं। इनके अतर्गत पाप-स्वीकृति, उपवास, भिक्षुओं का ब्रह्मचारी रहना, और मालाएँ भी हैं, और क्योंकि वे ईसाई युग के आरंभ होने से पहले भी भारत में विद्यमान थी, इसलिए यही मानना होगा कि वे ईसाइयों ने भारत वालों से सीखी। यदि कोई यह कहे कि हम सब एक ही प्रकार के मनुष्य हैं और इसलिए यह मेल दिखायी देता है, तो उसे इस तरह के और उदाहरण प्रस्तुत करने होंगे। यदि उन्हें सिर्फ आकस्मिक घटना कहा जाए तो ऐसी आकस्मिक घटनाओं के ही और उदाहरण देने चाहिए। मैक्समूलर की अपनी सम्मति यह थी कि वे मेल मेली में इतने अधिक और इतने जटिल हैं कि उन्हें आकस्मिक घटना नहीं माना जा सकता। पूछा जा सकता है कि फिर इन चीजों का ज्ञान कैसे फैला? वस्तुतः ईसाई की कहानियों और बाइबिल के कुछ भागों में भारतीय प्रभाव होने का संदेह बहुत पहले से किया जाता था। जब स्मरणातीत काल से पश्चिम और पूर्व के बीच विचारों का विनिमय हो रहा था तब भला यह कैसे माना जा सकता है कि बुद्ध के धर्म के मुख्य विचार ही पश्चिम वालों को अज्ञात रहे होंगे। पर बौद्ध ग्रंथों में कहीं यह उल्लेख नहीं कि भिक्षुओं ने उन प्रदेशों में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। दूसरी ओर, हम जानते हैं, जैसे कि अशोक हमें स्पष्ट रूप से बताता है, कि उसने अपने समकालीन ग्रीक राजाओं के यहाँ भेजे गये सरकारी

दूतों को बुद्ध के धर्म का प्रचार करने के लिए तथा जीव-दया के अन्य कार्य करने के लिए नियुक्त किया था। क्या इसमें जरा भी संदेह हो सकता है कि पश्चिमी एशिया में बौद्ध धर्म का प्रसार अशोक के प्रचार के परिणामस्वरूप हुआ ? ईसाइयत पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा, इसका आवश्यक रूप से यह अर्थ नहीं कि ईसाई धर्म बौद्ध धर्म का प्रक्षीण रूप मात्र है। इससे यह आशय कदापि नहीं निकलता कि ईसाई धर्म में मौलिकता, सत्य और सौन्दर्य नहीं है। जैसे कि डा० पॉल केरस हमें बताते हैं, “ईसाई धर्म का एक भी मूल तत्त्व मूलतः नया नहीं है, पर तो भी सारा विशिष्ट सम्मिलन निश्चित रूप से मौलिक है और एक ऐसे युग का श्रीगणेश है जो, कम से कम पश्चिम में, पहले सब युगों से सर्वथा भिन्न था।”^१

पर पश्चिमी एशिया में बौद्ध धर्म से निर्विवाद रूप से प्रभावित धर्म शायद एक ईसाई धर्म ही न था। और भी अनेक धार्मिक संप्रदाय इसी प्रकार प्रभावित हुए होंगे। इस तरह का एक संप्रदाय ऐसनस था, जिसके पंडित-पुरोहितों ने एक छोटा-सा यहूदी सघ बना लिया था—ये लोग विचित्र, कुछ-कुछ साधुओं के से आचरण करते थे और मृत सागर के तट पर रहते थे। और विद्वान् लोग बहुत समय से यह स्वीकार करते हैं कि उनकी कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ बौद्ध धर्म से ली गयी थी।^२ यह भी स्वीकार किया गया है कि ऐसनस लोगों का अस्तित्व ईसाई धर्म के उदय से भी पहले विद्यमान था। इसी तरह का एक और धार्मिक सघ थे राप्पूटी थे—इसके अनुयायी सिकन्दरिया के निकट रहते थे और ईसाइयत से पहले के यहूदी-धर्म में एक संगठन के रूप में विद्यमान थे। उनके उपदेशों और जीवन की रीतियों पर

१. बुद्धिज्म एण्ड इट्स क्रिश्चियन क्रिटिक्स, पृ० २१५-६।

२. E. R. E. V. ४०१।

बौद्ध धर्म का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है ।^१ इस प्रकार पश्चिमी एशिया की धार्मिक स्थिति पर बौद्ध धर्म का प्रभाव प्रथम शताब्दी ई० प० तक मिलता है और निःसंदेह अशोक के धर्म प्रचार के उत्साह और उन प्रदेशों में किये गये कार्य के कारण ही पैदा हुआ होगा ।

जब हम कहते हैं कि अशोक ने अपने अफसरो द्वारा अपने साम्राज्य में और उससे बाहर, भारत और पश्चिमी एशिया दोनों में, धम्म का प्रचार किया, तब इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि बौद्ध भिक्षुओं ने स्वयं अपने धर्म के लिए कुछ नहीं किया । दीपवश और महावश हमें बताते हैं कि मोग्गलिपुत्त तिस्स ने भारत के विभिन्न भागों में प्रचारक भिक्षु भेजे जिससे हमें यह मानना पड़ता है कि अशोक के समय में भी बौद्ध धर्माधिकारियों ने अपने धर्म के प्रचार के लिए अपने निजी तरीके अपनाये । पर, जैसे कि हम देख चुके हैं, हमें उनके विवरण का उपयोग करते हुए सतर्क रहना है । प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्माधिकारियों ने कम-से-कम दो दल भेजे, एक हिमालय प्रदेश में और दूसरा पश्चिमी भारत में । पहले दल का नेता मज्झिम नहीं था, गोतीपुत्त कसप-गोत था । और इन हिमालय प्रदेशों के अंतर्गत कश्मीर और गंधार भी थे । इस तरह मज्झन्तिक, जिसको पृथक् रूप से इन प्रदेशों में भेजा गया कहा जाता है, और मज्झिम एक ही व्यक्ति सिद्ध होता है । सम्भाव्यतः हुआ यह होगा कि गोतीपुत्त कसप-गोत के नेतृत्व में गये दल में मज्झिम भी होगा और कि गोतीपुत्त कसप-गोत ने मज्झिम को प्रचार-कार्य के लिए इन दो प्रान्तों का भार सौंप दिया होगा । इसी प्रकार, रक्खित, धम्मरक्खित, महाधम्मरक्खित और महारक्खित चार अलग-अलग नाम नहीं हैं, जैसा सिंहली इतिहास-ग्रंथों से अनुमान होता है । वे

सभाव्यतः एक ही व्यक्ति का निर्देश करते हैं जो पश्चिमी भारत भेजा गया था जिसके अन्तर्गत वनवासी, अपरान्त, महारट्ठ और योनालोक थे । दो और मिशन इसी प्रकार भेजे गये प्रतीत होते हैं— एक सुवर्णभूमि और दूसरा लका । ये मिशन शायद मोग्गलिपुत्त तिस्स ने भेजे होंगे पर उनका उन कार्यों से कोई सबध नहीं था जो अशोक ने इसी उद्देश्य से किए । अशोक के पास अपने धर्म के प्रचार के लिए अपने राज्य-शासन का सारा तन्त्र और वित्त मौजूद थे, और जब, जैसा कि हम देखते हैं, उसे सब अफसरों को अपना प्रचारक बनाने का नया, पर प्रभावी, तरीका सूझा, तब स्वभावतः अधिक वास्तविक, द्रुत और विस्तृत परिणाम निकलने की आशा करनी चाहिए । और अगर हम यह ध्यान रखें कि बौद्ध सघ के अधिकारियों ने भी थोड़ी-बहुत लगन के साथ उसी दिशा में कार्य जारी रखा, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि दोनों के सम्मिलित प्रयत्नों के परिणामस्वरूप धर्म के प्रचार में अत्यधिक सफलता हुई हो । क्योंकि क्या हम यह नहीं देखते कि तीसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य भाग के बाद से बौद्ध धर्म एकाएक बड़े विस्तृत क्षेत्र में फैलता चला गया और भारत तथा अफगानिस्तान के विविध भागों में स्तूपों, विहारों और गुफाओं आदि धार्मिक निर्माण-कार्यों की बाढ़-सी आ गयी । इस काल में बौद्ध धर्म की ऐसी प्रधानता रही है कि और सब धर्म पिछड़ गये और साहित्य तथा वास्तुकला में उनके बहुत कम अवशेष मिलते हैं । पर इसका अधिकतर श्रेय तीसरी शताब्दी ई० पू० के राजर्षि इस बौद्ध सम्राट को मिलना चाहिए ।

अध्याय ६

अशोक-कालीन स्मारकों के आधार पर सामाजिक और धार्मिक जीवन

यदि हम अशोक के कार्य करने के समय की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों पर विचार न करे तो उसकी, तथा उसकी सफलताओं की पूरी तस्वीर हमारे सामने नहीं आ सकती। यहाँ भी यह ध्यान रखना चाहिए कि इस अध्याय में उसकी पूरी तस्वीर नहीं आ सकती। हमारा उद्देश्य तो सिर्फ यह दिखाना है कि अशोक के प्रस्तर-अभिलेखों से इस पर क्या प्रकाश पड़ता है, और जहाँ अत्यधिक आवश्यक होगा वही हम इस चित्र को बाहरी सान्नी की सहायता से अधिक स्पष्ट और उजला करेंगे।

सबसे पहले हम यह जानने का यत्न करेंगे कि भारत के धार्मिक जीवन के बारे में हमें क्या जानकारी मिल सकती है। हम देख चुके हैं कि अशोक प्रजा को जो धम्म का आचरण सिखाता है उसमें वह “ब्राह्मणों और श्रमणों” से उचित व्यवहार की बात कहता है। इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट रूप से समझा नहीं गया। इसका यही अस्पष्ट-सा अर्थ समझ लिया गया है कि “ब्राह्मण और तपस्वी” या “ब्राह्मण और सन्यासी।” यही पदावलि पालि साहित्य में, उदाहरण के लिए परिनिब्बानसुत्त में, भी आती है, जहाँ प्रोफेसर राइस-डेविड्स इसका यह अर्थ करते हैं कि “साधु-जीवन के कारण

ब्राह्मण ।”^१ पर यह द्वन्द्व समास है; कर्मधारय नहीं, और इसका अर्थ “ब्राह्मण तथा श्रमण” ही किया जाना चाहिए। बौद्धों के पालि ग्रन्थों में जहाँ कहीं भी ब्राह्मणों और श्रमणों का एक साथ उल्लेख हुआ है वहाँ दोनों को अधिकतम, परन्तु समान, पावनता और आदर का पात्र माना गया है ।^२ इसलिए वे दो परस्पर-विरोधी प्रकार के धर्मों का निर्देश करते हैं। ब्राह्मण वे सन्यासी और साधु प्रतीत होते हैं जिनके विचार और आचार वेदों के अनुसार थे, और श्रमण वे जिनके सिद्धान्त और आचरण ब्राह्मण-शास्त्रों के विपरीत थे। दोनों धर्मों के व्यक्ति, अपने भिन्न सिद्धान्तों और आचारों के बावजूद, एक-सा पवित्र जीवन बिताते होंगे और इस तरह आम जनता की दृष्टि में बराबर आदर के अधिकारी होते होंगे। यही कारण है कि ब्राह्मण सन्यासियों का भी, बुद्ध के समय में, श्रमणों के समान आदर किया जाता था, और यही कारण है कि अशोक स्वयं भी दोनों के लिए समान आदर प्रदर्शित करता है और जनता से भी ऐसा ही करने का अनुरोध करता है।

(७) स्तम्भ प्रज्ञापन ७ में तीन धार्मिक संप्रदायों का नामोल्लेख है, अर्थात् सध, ब्राह्मण आजीविक और जिंगथ-। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि अशोक कहता है कि इनके अलावा और भी सम्प्रदाय हैं, पर क्योंकि वह उनका नाम न लेकर सिर्फ इन तीन का नाम लेता है, अतः स्पष्ट है कि उसके समय में ये तीन सम्प्रदाय ही सबसे मुख्य थे। इन तीन में से सध शब्द निश्चित ही बौद्ध सम्प्रदाय के लिए है और क्योंकि अशोक स्वयं इस संप्रदाय का अनुयायी था, इसलिए वह उसका सबसे पहले और इस नाम से उल्लेख करता है।

१ S B E XI, १०५, टि० १।

२ IA १८६१, पृ० २६३।

अशोक के समय में जो बौद्ध धर्म प्रचलित था उसके सिर्फ एक विशेष रूप का हमें पता है। यह विशेष रूप निगलीव स्तम्भ लेख में उल्लिखित कोना-कमन बुद्ध है। इस अभिलेख में अशोक कहता है कि मैंने अपने अभिषेक के बीसवें वर्ष में, दूसरी बार स्वयं यहाँ आने पर, इस बुद्ध के स्तूप को बड़ा कराया। इससे यह स्पष्ट है कि अशोक के समय से पहले ही गौतम के धर्म पर पूर्ववर्ती बुद्धों का धर्म थोपा जाने लगा था। निगथ निग्रथ निर्ग्रन्थ या महावीर के अनुयायी अर्थात् जैनी हैं। इस प्रकार आजीविक^१ रह गये और विचित्र बात है कि उन्हें ब्राह्मण कहा गया है। हम नहीं जानते कि इसका ठीक-ठीक क्या अर्थ है। पर यह प्रतीत होता है कि आजीविकों के दो संप्रदाय थे—एक ब्राह्मण आजीविक, और दूसरा अ-ब्राह्मण आजीविक। अ-ब्राह्मण आजीविक सभाव्यतः वे थे जिनका जैनो से संबंध था और दूसरे संप्रदाय में सभाव्यतः मस्करी या परिव्राजक थे जिनका पाणिनि और पतञ्जलि ने उल्लेख किया है। यह जाँच बड़ी मनोरंजक हो सकती है कि आजीविकों के ये दो समुदाय अपने सिद्धान्तों और आचारों के आधार पर, जो इस समय बिल्कुल मिल गये प्रतीत होते हैं, पृथक्-पृथक् किये जा सकते हैं या नहीं। उदाहरण के लिए, एक बौद्ध लेखक कहता है कि आजीविक मछली खाते थे, एक दूसरा बौद्ध ग्रंथ उन्हें जीवों के प्रति अत्यधिक दयालु बताता है और ये दोनों बातें परस्पर मेल नहीं खाती। फिर, कुछ बौद्ध सुत्त कहते हैं कि वे धम्म की फलप्रदता में विश्वास नहीं करते थे—तो

१ JDL, II १-८० में डा० बेनीमाधव बरुआ का आजीविकों पर एक विद्वत्तापूर्ण लेख है जिसमें वह सब जानकारी है जो विविध स्रोतों से उनके बारे में प्राप्त होती है। पर यह अनुमान कि आजीविकों के कम से कम दो सम्प्रदाय थे, सर्वथा मेरा है।

फिर वे अत्यन्त कठोर धार्मिक तप क्यो करते थे, जैसा कि कुछ और बौद्ध सुत्त हमें बताते हैं। प्रतीत होता है कि यहाँ परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों और आचारों का निराशाजनक घुटाला है जो तभी स्पष्ट हो सकता है जब उनको पृथक्-पृथक् आजीविक संप्रदायों से संबंधित करने का यत्न किया जाए। जिस बात पर यहाँ हमें ध्यान देना है वह यह है कि यदि आजीविक संप्रदाय दो थे तो उनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण आजीविक थे और ये सभाव्यतः वही थे जिनके लिए अशोक ने बराबर में पहाड़ी गुफाएँ खुदवायीं। ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ अशोक हमें स्वयं बता रहा है कि उपर्युक्त ब्राह्मण-श्रमण शब्द से उसका क्या आशय है। अशोक का सघ और निर्ग्रन्थ तो श्रमण-धर्मी होते थे और आजीविक ब्राह्मण-धर्मी।

अशोक ने इन संप्रदायों को निर्दिष्ट करने के लिए जिस शब्द का प्रयोग किया है वह है पासड। इसे सस्कृत पाषण्ड का पर्यायवाचक माना गया है जिसका अशोक के समय में भी 'नास्तिक' अर्थ होता था, जैसा कि कौटिल्य अर्थशास्त्र से स्पष्ट है। परन्तु अशोक ने इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग नहीं किया क्योंकि वह अपने सघ को भी पासड कहता है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जिन शिला प्रज्ञापनों में यह शब्द आया है, उनमें से शाहवाजगढी और मानशेरा के पाठों में प्रायः सर्वत्र, अन्य प्रतियों के पासड शब्द के स्थान पर प्रषड शब्द का प्रयोग हुआ है। इससे मालूम होता है कि यह सस्कृत के पाषण्ड शब्द का तद्भव रूप न होकर, पार्षद, अर्थात् पर्षद का सदस्य, का तद्भव रूप है। पर प्राचीन सस्कृत में 'पर्षद' शब्द 'धार्मिक सभा' का भी वाचक है। यह अशोक के पासड शब्द के निकट तो अवश्य है, पर उसके सही अर्थ को व्यक्त नहीं करता। यह सर्वथा सम्भव है कि अशोक के समय से यह सस्कृत शब्द ठीक

यही अर्थ व्यक्त करता हो । प्रत्येक पासड या धार्मिक समुदाय दो भागो मे विभक्त था—(१) प्रव्रजित या सन्यासी, और (२) गृहस्थ । अशोक इन विभागो का दो बार उल्लेख करता है, एक बार शिला प्रज्ञापन १२ मे और दूसरी बार स्तम्भ प्रज्ञापन ७ मे ।

पासडो के साथ संबद्ध एक शब्द धम्म है । हम देख चुके हैं कि अशोक धम्म से क्या समझता था । उसकी दृष्टि मे धम्म का अर्थ था कुछ नैतिक कर्त्तव्य, और क्योंकि वह गृहस्थी बौद्ध, यानी उपासक, था, इसलिए स्वभावतः उसके धर्म के अन्तर्गत वे कर्त्तव्य थे जो बौद्ध धर्म के उपासको के लिए निर्धारित किये गये हैं । पर यह ध्यान रखना चाहिए कि वह इस बात से अपरिचित न था कि अन्य पासड भी प्रायः उन्ही कर्त्तव्यों की शिक्षा देते थे । ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि शिला प्रज्ञापन १३ मे अशोक यह स्वीकार करता है कि धम्म के नाम से मैं जो नैतिक कर्त्तव्य करने के लिए आग्रह करता हूँ, वे कर्त्तव्य हैं जिनकी शिक्षा सब पासड, चाहे वे ब्राह्मण संप्रदायों के हो चाहे श्रमण संप्रदायों के, देते हैं । दूसरे शब्दों मे, वह कहता है कि सब सम्प्रदायों का धम्म प्रायः एक ही है । और यही कारण है कि शिला प्रज्ञापन ७ मे वह कहता है कि “(मेरे राज्य मे) सब स्थानों पर सब संप्रदाय रह सके क्योंकि उन सबका ध्येय आत्म-संयम और हृदय की पवित्रता है,” और शिला प्रज्ञापन १२ मे कहता है कि लोगों को एक दूसरे के मुख से धम्म का श्रवण करना चाहिए ताकि इसके सार की वृद्धि हो । यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि सब ही संप्रदाय कुछ धार्मिक गुणों और आचारों का उपदेश करते थे और उनके अनुसार वही धम्म था । प्रो० राइस-डेविडस के शब्द इस प्रसंग मे उद्धृत करने योग्य हैं । “धम्म शब्द का (अंग्रेजी) अनुवाद लॉ (विधि या कानून) किया गया है । पर अंग्रेजी के लॉ शब्द के

जो विविध अर्थ हैं उनमें से एक का भी वाचक यह नहीं है। बल्कि इस प्रसंग में जब यह प्रयुक्त होता है, तब इसका अर्थ होता है वह कार्य, जिसे रूढ़ि के अनुसार करना 'शुभ विधि' है। इस प्रकार इसका ठीक-ठीक अर्थ धर्म कभी नहीं होता, बल्कि वह कार्य होता है जिसे करने में सत्य-भावना वाले व्यक्ति की शोभा है—दूसरी ओर, जो कार्य समझदार आदमी स्वभावतः करेगा। यह कर्मकांड या धार्मिक सिद्धान्तों से सर्वथा पृथक् वस्तु है।^१ इसी कारण गौण शिला प्रज्ञापन २ में, जहाँ अशोक और जगह की तरह अपने नैतिक कर्तव्यों का उल्लेख करता है, वहाँ अन्त में कहता है कि वे 'पोराणा' पकिति दिघावुसे' अर्थात् (मनुष्य की) प्राचीन और चिरस्थायी प्रकृति के उत्पादन हैं। इससे एक कदम और आगे बढ़कर, प्रो० जौली कहते हैं कि "सारे संस्कृत साहित्य में धर्म शब्द एक अत्यधिक व्यापक और महत्त्वपूर्ण शब्द है। भारतीय टीकाकारों ने इसकी व्याख्या उस कार्य के रूप में की है जिसमें आत्मा का अपूर्व नामक गुण पैदा हो और जो स्वर्गीय आनन्द और अन्तिम मुक्ति का मूल हो।"^२ इस प्रकार धम्म का अर्थ है रूढ़ि के अनुसार किया गया वह कोई भी कार्य जो सत्य भावना-वाला आदमी स्वतः करेगा और, साथ ही, जो स्वर्गीय सुख का देने वाला हो। अशोक भी इसी अर्थ को व्यक्त करना चाहता है, क्योंकि शिला प्रज्ञापन ९ में वह स्पष्ट कहता है : "सर्व सासारिक धर्म-कर्म सदिग्ध प्रकार के हैं। हो सकता है कि इनका ध्येय पूर्ण हो जाये और हो सकता है कि न हो। पर धम्म मगल समय द्वारा प्रतिवन्धित नहीं है, और चाहे इससे

१. बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० २६२।

२. E. R. E, IV, ७०२।

यहाँ कोई कार्य सिद्ध हो या न हो, पर पग्लोक में उनसे अनन्त पुण्य मिलता है।”

धम्म शब्द के उपर्युक्त अर्थ से एक बड़ा प्रश्न पैदा हो जाता है। क्योंकि इसका यह अर्थ है कि धर्मयुक्त कार्य स्वयं फलप्रद है और बीच में किसी ईश्वर के हस्तक्षेप के बिना ही स्वर्गीय सुख प्रदान करने में समर्थ है। उसी कारण म्मिय ने अशोक की पद्धति को बिना ईश्वर का धार्मिक सम्प्रदाय कहा है।^१ पर उनमें जो कुछ कहा है वह न केवल अशोक के धम्म के बारे में, बल्कि उनके समय के अधिकतर पासों के धम्म के बारे में ठीक बैठता है। अशोक के समय तक कर्म का सिद्धान्त सर्वत्र माना जाता था। साधारण जनता धर्मयुक्त कार्य करके ही सन्तुष्ट थी और वह आशा करती थी कि अपने कर्म के परिणामस्वरूप, इस सत्सार में किये हुए धार्मिक कार्यों के पुरस्कार के रूप में, हम अगली बार कोई न कोई देवता बनकर पैदा होंगे। कर्म का और उसके परिणामस्वरूप होने वाले पुनर्जन्म का, नाश करने का यत्न सिर्फ सन्यासी और साधु करते थे, और उन्हें ही इसमें सफलता होती थी—चाहे वे ब्राह्मण हो या श्रमण। और इसलिए एक चेतन, पृथक् ईश्वर में विश्वास की कोई आवश्यकता नहीं थी। पाचवी सदी ई० पू० से अशोक के समय तक व्यक्तिगत आत्मा की मुक्ति के बारे में प्रपना-प्रपना अलग सिद्धान्त लिये हुए, एक के बाद दूसरा विचारक और एक के बाद दूसरा सम्प्रदाय सामने आया। लेकिन एक या दो को छोड़कर और सब कर्म के मोहक सिद्धान्त में उलझ गये और यह मानने लगे कि सिर्फ कर्म से व्यक्ति का कल्याण होता है। क्या बौद्ध, क्या आजीविक, क्या जैन और क्या अन्य सम्प्रदाय, सबके सब यही मानते

थे—सिर्फ एक भक्तिमार्ग ऐसा था जो कर्म के सिद्धान्त को अधिक दूर तक नहीं मानता था और यह प्रतिपादन करता था कि परमात्मा के प्रति आत्मार्पण से ही मुक्ति मिल सकती है। पर इस समय तक जो भक्ति-मार्ग विशेष प्रचलित नहीं हुआ था, वह अशोक के बाद शीघ्र ही प्रमुखता प्राप्त करने लगा। और सच्चाई यह है कि तब तक इतना अधिक व्याप्त हो गया कि उसी बौद्ध धर्म पर, जो इतना अधिक और इतने काल से प्रतिष्ठित था, भक्ति की छाप पड़ी।

प्रचलित विश्वास के एक और भी अंश का अशोक ने अपने शिला-प्रज्ञापनों में उल्लेख किया है। यह सत्य है कि हिन्दू समाज कर्म के सिद्धान्त से इतना अधिक अभिभूत था कि कर्म करने को ही सबसे महत्वपूर्ण और फलप्रद माना जाता था, और कि एक चैयक्तिक ईश्वर की पूजा और उपासना को विचारणीय नहीं समझा जाता था। पर यह सिर्फ वहाँ तक सत्य था जहाँ तक भविष्य-जीवन का सम्बन्ध था। पर इस जीवन के बारे में क्या हो? यह बात सर्वथा अग्राह्य है कि प्राचीन भारत के लोग ऐसे दार्शनिक और अ-सासारिक थे कि उन्हें सासारिक सुखों से कोई वास्ता ही न था। शिला प्रज्ञापन ६ में अशोक कहता है : “लोग रोगों में, विवाहों में, पुत्रों के जन्म और यात्रा पर विविध (सौभाग्यप्रद) धर्म-कार्य करते हैं। इन, तथा ऐसे अन्य, अवसरों पर, लोग अनेक धार्मिक कृत्य करते हैं। परन्तु इन प्रसंगों पर स्त्रियाँ बहुत, अनेक तरह के (पर) क्षुद्र, निरर्थक कृत्य किया करती हैं।” इससे अशोक के समय के लोक-विश्वासों के एक और अंश पर प्रकाश पड़ता है, और यक्षों, चैत्यों, गधवों, नागों आदि की पूजा के, जिसके बारे में बौद्ध पालि साहित्य में इतनी अधिक सामग्री मिलती है, प्रचलित होने का पता चलता है। और इन बौद्ध लेखों से यह सिद्ध कर

देना भी असंभव नहीं है कि अशोक का यह कथन सत्य था कि स्त्रियाँ ऐसे शुभावह कृत्य करने में विशेष रूप से अग्रसर थीं। लोक-विश्वास की इस प्रवृत्ति की ओर अशोक का रुख कदापि शत्रुतापूर्ण नहीं था। “सौभाग्यप्रद कृत्य”, वह कहता है, “अवश्य किए जाने चाहिए। पर इस प्रकार के कृत्य का बहुत थोड़ा फल होता है”, और इस सिलसिले में वह ऐसे कृत्यों की धम्म-मंगल से तुलना करता है, और कहता है कि जहाँ उन कृत्यों की फलप्रदता सदिग्ध है, वहाँ धम्म-मंगल पर समय की कोई शर्त नहीं है और वह कम-से-कम परलोक में निःश्रान्त रूप से अनन्त पुण्य प्रदान करता है।

सामाजिक जीवन के बारे में भी अशोक के लेखों से बड़ी मनोरंजक झलकियाँ मिलती हैं। हिन्दू सामाजिक जीवन के साथ सम्बन्धित एक बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण बात शास्त्र द्वारा निषिद्ध या अनुमोदित भोजन का विचार है। हम जानते हैं कि स्तम्भ प्रज्ञापन ५ में अशोक कुछ प्रकार के पशुओं, पक्षियों और मछलियों का नामोल्लेख करता है जिनका वध निषिद्ध है। उसके कहे हुए कुछ प्राणी पहचाने नहीं जा सकते पर बहुत सारे हमें ज्ञात हैं। उनके बारे में अशोक स्पष्ट रूप से कहता है कि वे प्राणी न खाये जाते हैं और न किसी और उपयोग में आते हैं। अपने कथन के पिछले अंश से उसका वास्तव में क्या अभिप्राय है, यह पूरी तरह स्पष्ट नहीं। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि यहाँ वह उन प्राणियों की चर्चा कर रहा है जो भोजन में तो काम नहीं आते पर तब भी औषधि या सजावट में उपयोग के लिए मारे जाते हैं। अब यदि अशोक द्वारा उल्लिखित ऐसे प्राणियों की सूची की तुलना उन प्राणियों की सूची से करे जिन्हें धर्मसूत्रों या धर्मसहिताओं ने भोजन या वध के लिए

अनुमोदित या निषिद्ध किया है, तो हमें बड़े विचित्र परिणाम प्राप्त होते हैं। इनमें कुछ तो ऐसे हैं जिन्हें अशोक और धर्म-शास्त्र दोनों ने निषिद्ध कहा है। इनमें गुक (तोता), सारिका (मैना), चक्रवाक (चकवा) और हंस हैं।^१ पर कुछ और प्राणी अशोक के समय में निषिद्ध थे, लेकिन स्मृतिकारों ने उनके वध की अनुज्ञा दे दी थी। यहाँ भी हमें उनके दो विभाग करने पड़ते हैं—एक वे प्राणी जिनके वध की अनुज्ञा सब स्मृतिकारों ने दे दी है और दूसरे वे जिनके वध की अनुज्ञा कुछ ने दे दी है। पहले विभाग में कपट और दुडि अथवा नर और स्त्री कलुग्रा तथा सयक या सेह हैं जिनको स्मृतिकारों ने अनुज्ञात किया है, पर अशोक ने निषिद्ध किया है। दूसरे विभाग का सिर्फ एक उदाहरण अर्थात् पलसते या गेडा, मिलता है जिसको अशोक ने निषिद्ध किया है, पर याज्ञवल्क्य, गौतम, मनु और आपस्तव ने अनुज्ञात किया है और वसिष्ठ तथा बौधायन ने निषिद्ध किया है। हम यहाँ बहुत सूक्ष्म ब्योरे में नहीं जा रहे—उसकी विस्तृत चर्चा और कही की जा सकती है। पर इस प्रसंग में हम एक मनोरंजक बात को नहीं भुला सकते। अब तक हमने जिन प्राणियों पर विचार किया है वे हैं जिन्हें अशोक ने तो सर्वथा अवध्य घोषित किया है और स्मृतियों ने अशत या पूर्णतः भोज्य बताया है। पर एक प्राणी ऐसा है जिसे अधिकतर स्मृतियों ने निषिद्ध किया है, पर जो अशोक के समय में भोज्य-वस्तु के रूप में उपयोग में लाया जाता था। यह है मोर, जिसका मास मध्य देश के लोग बड़े चाव से खाते थे और जो अशोक का प्राणिरक्षा का कार्यक्रम अमल में आने के बाद भी राजा के भोजन के

१. इस प्रसंग में मनमोहन चक्रवर्ती का अत्यधिक विद्वत्तापूर्ण लेख 'एनिमल्स इन दि इन्स्क्रिप्शन्स आफ पियदसी' (MASB), जिल्द १, सत्या १७ देखिए।

लिए मारा जाता रहा था ।^१ पर एक को छोड़कर और सब धर्म-शास्त्रों ने मोर मारने पर प्रायश्चित्त का विधान किया है ।

इस अध्याय का उद्देश्य विभिन्न धर्मशास्त्रों के काल या वर्त्तमान स्वरूप के बारे में कोई विचार करना नहीं है । पर क्योंकि अशोक के वे सब स्तम्भ, जिन पर यह प्रज्ञापन है, मध्यदेश में मिले हैं, इसलिए यह परिणाम निकलता है कि विहित या निषिद्ध भोजन के जो पदार्थ इसमें उल्लिखित हैं, वे उस देश पर लागू होते हैं । धर्मसूत्रों में बौधायन और वसिष्ठ आर्यावर्त्त या मध्यदेश के आचारों के सकलनकर्त्ता माने जाते हैं । परन्तु बौधायन तो यह कहता है कि उत्तर के आचार उत्तर भारत में और दक्षिण के आचार दक्षिण भारत में अनुसरण किये जाने चाहिए, और गौतम कहता है कि आर्यावर्त्त में प्रचलित आचार सर्वत्र प्रामाणिक माना जाता है । यह बात इस तथ्य के साथ मेल खाती है कि मोर का मांस सब स्मृतियों द्वारा निषिद्ध है, पर बौधायन तथा गौतम द्वारा निषिद्ध नहीं है, और वे मध्यदेश के थे । अब, हमें भारत के बारे में जिस बात पर ध्यान देना है, वह यह है कि बौद्ध और जैन धर्मों के निरन्तर बढ़ते हुए प्रभाव के कारण निरामिष भोजन की प्रवृत्ति बढ़ती जाती थी और कि जो भोजन पहले अनुज्ञात थे वे बाद के काल में निषिद्ध हो गये होंगे, पर जो पहले निषिद्ध थे, वे बाद में अनुज्ञात नहीं हो सकते । बौधायन और गौतम दोनों ने पाँच पादागुलि वाले प्राणियों, सेह और कबुआ, के खाने को अनुज्ञात किया है, पर वे कहते हैं कि गंडे के बारे में कुछ सदेह है । परन्तु अशोक के समय में न केवल गेडा, बल्कि सेह और कबुआ भी निषिद्ध हैं । जहाँ तक कम से कम इन आधारों का सम्बन्ध है, हमें मानना होगा कि धर्मसूत्रों का

निर्माण अशोक के राज्य से पहले हुआ था ।

सामाजिक जीवन से सम्बन्धित एक और मनोरंजक बात है स्त्रियों की स्थिति । आम तौर पर यह समझा जाता है कि प्राचीन भारत में स्त्रियाँ पर्दे में नहीं रहती थी और कि पर्दे की प्रथा भारत में मुसलमानों के साथ आयी । पर इससे अधिक गलत धारणा और हो नहीं सकती । भास और कालिदास के नाटकों के पढ़ने से इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि उनके समय में पर्दा प्रचलित था । वात्स्यायन के, जो तीसरी शताब्दी ई० प० में हुआ, कामसूत्र से इसकी पर्याप्त पुष्टि हो जाती है ।^१ पर ईसा से बहुत समय पहले तक इस प्रथा का पता चलता है । हम देख चुके हैं कि अशोक अपने अवरोधन की चर्चा करता है, जिसका अर्थ है महिलाओं के रहने का भीतरी बंद कक्ष । और इसके अनुरूप ही, अर्थशास्त्र में अन्तः-पुर का उल्लेख है,^२ जिसके बारे में वहाँ न केवल उसके निर्माण की रीति बतायी गयी है, बल्कि बाहरी व्यक्तियों से उसकी रक्षा का उपाय भी बताया गया है । रामायण में भी स्त्रियों को पर्दे में रखने की प्रथा का कई जगह जिक्र है । पर इसका प्राचीनतम उल्लेख पाणिनि ३२ ३६ में है, जिसमें असूर्यपश्या शब्द दिया गया है, और जिसकी व्याख्या करते हुए काशिका में लिखा है असूर्यपश्या राजदारा (=वे जो सूर्य नहीं देखती, अर्थात् राजा की पत्नियाँ) । अगर काशिका में यह परम्परागत उदाहरण के रूप में दिया गया है तो इसका यह अर्थ है कि पाणिनि के समय में राजा की रानियाँ इतनी कड़ाई से अन्त पुर में बंद रहती थी कि उन्हें कभी सूर्य देखने का अवसर भी न मिलता था ।

१ SAMSJ, जिल्द २, भाग १, पृ० ३३७ और ३५६-६० ।

२. पृ० ४० और आगे ।

फिर, शिला प्रज्ञापन ६ में, जिसमें अशोक रोग, विवाह, पुन-जन्म, यात्रा आदि में किये जाने वाले मंगल-कृत्यों की चर्चा करता है, वह कहता है कि “स्त्रियाँ बहुत, अनेक प्रकार के, (पर) क्षुद्र, निरर्थक मंगल-कृत्य करती हैं।” वह प्रवृत्ति सनातनी हिन्दू स्त्रियों में आज तक प्रायः वैसी ही चली आती है और हमें वेथम का यह कथन स्मरण करा देती है कि “स्त्री का धर्म अधिक सरलता से ग्रंथविश्वास की ओर, अर्थात् सूक्ष्म क्रियाकलाप की ओर, भुक्त जाता है।”

हम नहीं जानते कि अशोक के समय में समाज का ठीक-ठीक ढाँचा कैसा था। पर उसके प्रज्ञापनों की दो-तीन उक्तियों से उसकी कुछ आशिक भाँकियाँ मिलती हैं। इस प्रकार शिला प्रज्ञापन ५ में कहा गया है कि धर्म-महामात्रों को उन ब्राह्मणों और इभ्यों की देख-भाल के लिए नियुक्त किया गया है जो धन के लिए सेवा करते थे। यहाँ ब्राह्मण से अभिप्राय सासारिक ब्राह्मणों से है, ससार-त्यागी ब्राह्मण सन्यासियों और साधुओं से नहीं, जो श्रमणों के साथ आये हैं। इभ्य शब्द विचित्र है। यह एक बार उपनिषदों में आता है, और पालि साहित्य में भी उसका प्रयोग मिलता है। उदाहरण के लिए, यह महानारद कस्सप जातक में प्रयुक्त हुआ है, जहाँ टीकाकार ने इसकी व्याख्या गृहपति (गृहपति) की है। गृहपति शब्द साधारण-तया ब्राह्मण-व्यवस्था के तीसरे वर्ण, वैश्य का सूचक माना गया है। पर पालि ग्रंथों में वेस्स (वैश्य) शब्द सिर्फ सिद्धान्त-विवेचन के सिलसिले में पाया जाता है, लेकिन उनमें कोई ऐसा संकेत नहीं है कि वैश्य एक पृथक् जाति या वर्ण थे।^१ इसके विपरीत, इभ्य या

१. थियोरी आफ लेजिस्लेशन (पेटरनोस्टर लाइब्रेरी), पृष्ठ ३६।

२. फिक का सोशल आर्गेनाइजेशन, आदि, पृ० २५१।

गृहपति एक सुनिश्चित सामाजिक समुदाय, एक उच्च धनिक वर्ग, या जो सदा क्षत्रियो और ब्राह्मणों के बाद आता था। यह कुछ विचित्र प्रतीत हो सकता है कि अशोक के लेखों में क्षत्रियों का एक बार भी उल्लेख नहीं। पर हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वैश्यों की तरह क्षत्रियों का भी, योद्धा जाति के अर्थ में, अलग अस्तित्व नहीं था। उस समय क्षत्रिय शासक वर्ग के सूचक थे, जिसमें अशोक के समय उसके सम्बन्धी, उसके अधीन सामन्त और दक्षिण में अन्तर्ग्रा सीमावर्ती राजा थे। और हम जानते हैं कि इनका अगोक ने अपने प्रज्ञापनों में उल्लेख किया है। क्षत्रियों या योद्धा वर्ग की तरह बूढ़ों की भी सिद्धान्त-विवेचन में ही चर्चा होती थी, पर एक पृथक् वर्ग या वर्ग के रूप में उनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं था, और अशोक के समय में समाज के निचले स्तरों में भूतक या किराये के मजदूर और दास थे जिनके प्रति दया रखने के लिए राजा विशेष रूप से शिक्षा देता है, और उसके अनुसार धम्म के अन्तर्गत जो नैतिक कर्तव्य आते हैं उनमें एक यह भी है। उस समय जब आज के ढंग की वर्ण-व्यवस्था नहीं पैदा हुई थी, भूतक और दास, सारत पृथक् सामाजिक समुदाय थे। भारत में दासता की प्रथा उस समय नहीं थी और यद्यपि किराये के मजदूर होते थे पर वे विभिन्न वर्णों के होते थे, और आजकल के सामाजिक तन्त्र की लाक्षणिक विशेषता वर्ण है, वर्ग नहीं।

अगोककालीन भारत के सामाजिक जीवन से सम्बन्धित एक और बात उसके गिला प्रज्ञापन २ से ध्वनित होती है। उसमें राजा हमें बताता है कि अपने और अपने पड़ोसी राजाओं के राज्यों में उसने दो प्रकार की चिकित्सा का प्रबन्ध किया—एक मनुष्यों के लिए और एक पशुओं के लिए। और वह यह भी बताता है कि

औषधीय वनस्पतियाँ, मूल और फल, जहाँ नहीं होते वहाँ सर्वत्र बाहर से पहुँचाये गये और बोये गये। इस अभिलेख से हम यही समझ सकते कि अशोक ने मनुष्यों के लिए औषधालय और पशुओं के लिए पिंजरापोल खोले। यह कहना कठिन है कि भारत के किसी और भाग में धर्मार्थ सस्थाएँ स्थापित करने का चलन था या नहीं, पर यह निश्चित है कि बम्बई प्रदेश में यह चलन मौजूद था। इस प्रकार, अट्टारहवीं शताब्दी के अभिलेखों से यह सर्वथा स्पष्ट है कि महाराष्ट्र और गुजरात, दोनों में राजा और सामन्त गरीबों और असमर्थों के लिए मुफ्त चिकित्सा की व्यवस्था प्रायः किया करते थे, कि इसके निमित्त चिकित्सकों को माफी भूमि या गाँव पुरस्कार में मिलते थे, और कि कुछ अवस्थाओं में, इन पुरस्कारों का प्रयोजन स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि वे उन भूमियों पर चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ उगा सकें।^१ पिंजरापोल या पशु चिकित्सालय तो पश्चिमी भारत में आज तक पाये जाते हैं। पिंजरापोल का प्राचीनतम वर्णन वह है जो हैमिल्टन ने प्रकाशित किया है और यह अट्टारहवीं शताब्दी के पिछले दिनों में सूरत में कायम पिंजरापोल का वर्णन है।^२ टूटे अंग वाला या अन्य प्रकार से असमर्थ पशु, उसके मालिक के वर्ण या जाति का विचार बिना किये उसमें भर्ती किया जाता था। यह बात बहुत उपयुक्त जँचती है। क्योंकि जब अशोक कहता है कि मैंने मनुष्यों और पशुओं, दोनों के लिए

१. सैलेक्गन्स फ्राम दि सतारा राजाज एंड दि पेशवाज डायरीज, जिल्द ८, पृ० २२१-३, एस० एच० होडीवाला की 'स्टडीज इन पारसी हिस्ट्री' पृ० १८६-८। इन निर्देशों के लिए मैं डा० सुरेन्द्रनाथ सेन का ऋणी हूँ।

२. हेमिल्टन की 'डिस्क्रिप्शन आफ हिंदोस्तान' (१८२०), पृ० ७१८, नवार्टो सस्करण।

चिकित्सा का प्रबन्ध किया है तब उसका आशय यही है कि उसने मनुष्यों के लिए तो धर्मार्थ औपधालय बनाये हैं और पशुओं के लिए पिजरापोल जैसी चीज बनायी है। फिर जब वह कहता है कि जहाँ औपधीय वनस्पतियाँ, मूल और फल पहले नहीं होते थे, वहाँ वे बाहर से पहुँचाये गये और बोये गये हैं, तब इसका यही अर्थ है कि इन सस्थाओं के साथ कुछ कृषि-क्षेत्र बनाये गये थे जिससे सब वनस्पतियाँ हर समय उपयोग के लिए तैयार मिल सके। यह सचमुच बड़ी विलक्षण बात है कि रोगी मनुष्य और पशु की मुफ्त चिकित्सा की प्रथा, जो पश्चिमी भारत में अठारहवीं शताब्दी में प्रचलित थी, तीसरी शताब्दी ई० पू० में भी विद्यमान थी। और एक दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि अशोक के इस लोकोपकारी कार्य द्वारा उस समय ज्ञात सब औपधियाँ ससार को उपलब्ध हो गयी।^१

इस काल के सामाजिक जीवन का कोई विवरण तब तक पूर्ण नहीं कहा जा सकता जब तक इसके सांस्कृतिक पहलू पर विचार न कर लिया जाए। अब हम यथासम्भव संक्षेप में इस पर विचार करने का यत्न करेंगे। इसमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अशोक के लेख उस काल की सांस्कृतिक उन्नति की सीधी चर्चा बहुत कम करते हैं। पर उनसे संस्कृति के वाहनो, अर्थात् लेखन या वर्ण-माला और भाषा पर बहुत प्रकाश पड़ता है। अशोक के लेख दो लिपियों में उत्कीर्ण हुए हैं, (१) ब्राह्मी और (२) खरोष्ठी। खरोष्ठी में उत्कीर्ण लेख शाहवाजगढी और मानशेरा में पाये गये चौदह शिला प्रज्ञापन हैं। उसके और सब लेख ब्राह्मी में हैं। बूलर

१ इस विषय का सावधानी से अनुसंधान करने की आवश्यकता है, पर, तब तक देखिए, दि सर्जिकल इस्ट्रुमेण्ट्स आफ दि हिन्दूज, लेखक—जी० एन० मुखोपाध्याय, जिल्द १, पृष्ठ ३४ और आगे, तथा पृ० ४८ और आगे।

ने, एक चीनी लेखक के आधार पर, इस शब्द का सही रूप खरोष्ठी बताया है और इसे खरोष्ठ (गधे का ग्रोठ) शब्द से व्युत्पादित किया है जो इसके आविष्कर्ता ऋषि का नाम था। पर सिलवेन लेवी, एक और चीनी लेखक के आधार पर, उसका सही रूप खरोष्ट्री बताता है और इसे खरोष्ट्र शब्द से बना हुआ मानता है जो भारत के पास, उससे बाहर, एक देश था। दूसरी लिपि को ब्राह्मी कहा गया है क्योंकि यह ब्रह्मा देवता से प्रादुर्भूत मानी जाती है। खरोष्ठी लिपि फारसी, अरबी और उर्दू की तरह, दायी ओर से बायी ओर को लिखी जाती थी और ब्राह्मी, आजकल की सब हिन्दू लिपियों की तरह, बायी ओर से दायी ओर को लिखी जाती थी। खरोष्ठी भारत के उत्तर पश्चिमी भाग में चीनी तुर्किस्तान तक चलती थी और ब्राह्मी सारे भारत में, जिसमें खरोष्ठी का प्रयोग करने वाले प्रदेश भी शामिल थे, प्रचलित थी। खरोष्ठी पाँचवीं शताब्दी ई० प० के आस-पास स्वयं अपनी मौत मर गयी, जबकि ब्राह्मी को न केवल भारत की, बल्कि श्रीलंका, बर्मा और तिब्बत की भी, सब लिपियों की जननी माना गया है। खरोष्ठी की दायी ओर से बायी ओर लिखे जाने से मालूम होता है कि यह सामी (सैमिटिक) देश से चली थी। यह आरामेइक लिपि से निकली मानी जाती है जो एकिमिनियनो के शासन-काल में मिस्र से ईरान तक सर्वत्र फैली हुई थी। अब यह बात तक्षशिला में हाल में मिले एक आरामेइक शिलालेख से सिद्ध हो चुकी है कि वे, गांधार जीतने के बाद, शासन के लिए आरामियन लोगों को वहाँ लाये : और इस तरह उन्होंने भारत के लोगों को आरामेइक भाषा और वर्णमाला से परिचित कराया। हम पहले देख चुके हैं कि मौर्य प्रशासन के राजनयिक आचार और राज-दरबार पर ईरानी प्रभाव पड़ा था,

और हमने बताया है कि यह उत्तर-पश्चिमी भारत पर, एकिमिनियन आधिपत्य के कारण था ।^१ ब्राह्मी लिपि के उद्गम के बारे में अनेक और विभिन्न विचार हैं । पर वे सब अतः दो वादों के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं । इनमें से पहला ब्राह्मी को इसी देश में उत्पन्न मानता है । पहले लासेन ने यह सुझाव रखा था और बाद में कनिगहम ने इसका समर्थन किया । दूसरे वाद के अनुसार, इसका उद्गम सामी (सैमिटिक) है । यह वाद दो प्रकार का है, और इनमें से जिस विचार को भारतीय प्राचीन लिपिशास्त्र के सब यूरोपीय विद्वान अब स्वीकार करते हैं वह वेबर और वूलर का है जिनकी यह मान्यता है कि ब्राह्मी लिपि उत्तरी सामियों की लिपि से निकली है जो इस समय ज्ञात प्राचीनतम फीनिशियन वर्णमाला है और लगभग ८५० ई० पू० की मानी जाती है । कनिगहम ने इसके सामी उद्गम का खंडन करने में जिस तर्क को सबसे प्रबल बताया था वह यह था कि ब्राह्मी बायें से दायी चलती है, न कि अन्य सामी लिपियों की तरह दायें से बायें । पर वूलर ने निश्चित रूप से यह सिद्ध कर दिया है कि गुरु में ब्राह्मी भी दायें से बायें लिखी जाती थी । इस प्रकार के चलन का स्मरण कराने वाले उदाहरण अशोक के लेखों में मिल सकते हैं । इस तरह का एक उदाहरण ध, त, ओ आदि असंयुक्त अक्षरों का व्युत्क्रम यानी उल्टा रूप है जो इन अभिलेखों में मिलता है । संयुक्त व्यंजन भी इन लेखों में कहीं-कहीं व्युत्क्रम रीति से लिखे हुए हैं । इस प्रकार त्प, स्त,

१ वूलर का इंडियन पैलियोग्राफी (अनु.) पृ० २४ तथा आगे, IA, १९०४, पृ० ७९ और आगे, वही १९०५, पृ० २१ और आगे, और पृष्ठ ४१ और आगे, वही, १९०६, पृष्ठ ४ और आगे, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जिल्द १, पृ० ६२ और ६५७ ।

और व्य इस तरह खुदे हुए हैं जैसे वे प्त, त्स, और य्व हो। यह उदाहरण भी यही बात स्मरण कराता है कि ब्राह्मी गुरु में दायें और बायें लिखी जाती थी। इस प्रकार सामी वाद पूरी तरह विजयी हो ही चुका था कि छः वर्ष पूर्व निजाम राज्य में प्रागैतिहासिक टीलों की खुदाई हुई और उनमें मिले मृद्भांडों पर बने हुए चिन्हों का अध्ययन किया गया। इन चिन्हों में से कम-से-कम पाँच वही हैं जो अशोक-कालीन वर्णमाला में हैं। फिर, एक नवपाषाण (Neolith) भारतीय संग्रहालय (इंडियन म्यूजियम) में जिस पर तीन निकटस्थ चिह्न हैं जो एक लिखावट प्रतीत होते हैं, और वे अशोक के तीन अक्षरों से काफी सादृश्य रखते हैं। इस प्रकार ब्राह्मी वर्णमाला के उद्गम की विवेचना ऐतिहासिक से प्रागैतिहासिक क्षेत्र में पहुँच गयी। और ऐसा होता भी क्यों नहीं, क्योंकि यूरोप में भी सब सामी और अन्य वर्णमालाओं का उद्गम अब प्रागैतिहासिक काल में बताया जा रहा है, और यह विचार बल पकड़ता जा रहा है कि वर्णमाला प्रागैतिहासिक मनुष्य के साथ ही पैदा हुई। और परिणामतः जब प्रागैतिहासिक कलाकृतियों पर बने हुए कम-से-कम आठ प्रतीक अशोक काल के वर्णों के सवादी हैं तब यह मानना अधिक तर्कसंगत है कि ब्राह्मी प्रागैतिहासिक होती हुई भी इसी देश में उत्पन्न हुई है, न कि यह ८०० ई० पू० की एक सामी वर्णमाला से निकली है।

अब हमें जिस प्रश्न पर विचार करना है वह यह है : अशोक के समय में भाषा की क्या अवस्था थी ? इस समस्या पर विचार आरम्भ करने से पहले हमें इन लेखों में दिखायी देने वाली दो वर्ण-विन्यास सम्बन्धी (Orthographic) विशेषताओं पर ध्यान देना चाहिए, अन्यथा सम्भव है कि उन्हें बोली सम्बन्धी विशेषताएँ समझ

लिया जाये। पहली बात तो यह है कि अशोक के अभिलेखों में सजातीय व्यंजनो का द्वित्व नहीं दिखाई देता। इस प्रकार अथि (संस्कृत अस्ति) और सब्ब (संस्कृत सर्व) के स्थान पर हमें सादे अथि और सब शब्द मिलते हैं। पर यह इन्हीं लेखों की विशेषता नहीं है। क्योंकि चौथी शताब्दी ई० पू० तक, स्मारकीय प्राकृत में लिखा हुआ शायद ही कोई शिलालेख हो जिसमें अन्तर्भाव के कारण होने वाले व्यंजनो के द्वित्व को लिखने में दिखाया गया हो। दूसरे, शाहबाजगढ़ी और मानशेरा वाले चौदह शिला प्रज्ञापनों में हम देखते हैं कि दीर्घ और ह्रस्व स्वर लिखने में भेद नहीं किया गया। वर्णविन्यास सम्बन्धी यह विशेषता भी सिर्फ अशोकीय अभिलेखों में ही नहीं पाई जाती, बल्कि परवर्ती काल के सब खरोष्ठी लेखों में भी पायी जाती है। सिर्फ ये दो बातें हैं जिन्हें वर्ण-विन्यास की रीति-विशेष बताकर व्याख्या कर लेना उचित है, पर और सब मामलों में ये लेख वास्तविक उच्चारण के अभिव्यजक माने जा सकते हैं।

अब, हमारे अभिलेखों से बोलियों सम्बन्धी कौनसी विशेषताएँ प्रकट होती हैं? क्या अशोक के समय में बोलियों के अस्तित्व का कोई प्रमाण मिलता है? इस प्रश्न पर अब हमें विचार करना है। यदि हम इस राजा के सात स्तम्भ प्रज्ञापनों को ले तो यह बात ध्यान में आये बिना नहीं रह सकती कि वे सब एक बोली में हैं, और उन सब में कुछ स्पष्ट समानताएँ एक जैसी दिखाई देती हैं। इनका श्री सेनार्ट ने 'बड़ी खूबी से वर्णन किया है। इसमें न तो 'ण' है, और न 'ञ', बल्कि सर्वत्र 'न' है। आदि का 'य' लुप्त है, जिसके परिणामस्वरूप, उदाहरण के लिए, यथा की जगह अथा मिलता है। र के स्थान पर ल का प्रयोग है (राजा के स्थान पर लाजा)। पुल्लिङ्ग

का, और प्रायः नपु सकलिंग का भी, प्रथमा का एक वचन 'एकारान्त' है, जैसे समाज के लिए समाजे, दानम् के लिए दाने । आम तौर से, अनादि 'य' वाले सयुक्त व्यजन मे 'य' से पहले 'इ' लगाकर अन्त-र्भाव नहीं होने दिया गया है—जैसे अवध्यानी के लिए अवधियानी । फिर, अनादि 'र' सर्वत्र लुप्त है, जैसे प्रिय के लिए 'पिय' । क्योंकि सात स्तम्भ प्रज्ञापनो वाले सारे स्तम्भ मध्यदेश मे पाये गये हैं, इसलिए हम कह सकते हैं कि ये सब विशेषताएँ उस प्रदेश की बोली की लाक्षणिक विशेषताएँ हैं । पर जब हम चौदह शिला प्रज्ञापनों पर आते हैं तब हमारे सामने एक और समस्या आती है । पहले तो, हम देखते हैं कि मध्यदेश की ये बोली-सम्बन्धी विशेषताएँ धौलि और जौगडा प्रतिलिपियो में पूरी तरह, और कालसी वाली प्रतिलिपि मे प्रायः पूरी तरह दिखायी पडती है । और इसके बाद जब हम शेष प्रतिलिपियो पर विचार करते हैं तो देखते हैं कि शाह-बाजगढी, मानशेरा और गिरनार प्रज्ञापनो मे, मध्यदेश की बोली की कुछ विशेषताओ के साथ-साथ कुछ अपनी निजी विशेषताएँ दिखायी देती हैं, जो बोलीसम्बन्धी अतरो की सूचक हैं, और यदि हम आगे अनुसंधान करे तो हम देखते हैं कि वे दो पृथक् बोलियाँ हैं, जिनमे से एक शाहबाजगढी और मानशेरावाली प्रतियो से, और दूसरी गिरनार प्रति से निरूपित होती है । जब पाटलिपुत्र के सचिवालय से एक आदेश जारी किया गया होगा तब एक मसविदे की प्रतियाँ प्रत्येक प्रान्तीय सरकार को भेजी गयी होगी । पर जब यह मसविदा उत्कीर्ण किया गया होगा तब उस स्थान पर तो यह बिलकुल मूल के अनुरूप उत्कीर्ण होने की आशा की जा सकती है जहाँ की भाषा वही थी जो पाटलिपुत्र की थी । इसी कारण स्तम्भ प्रज्ञापनो मे, यद्यपि वे छ विभिन्न स्थानो पर खोदे गये थे, लगभग

एक ही मसविदा मिलता है। ये स्तम्भ शुरू में जिन स्थानों पर खड़े किये गये थे वे सब मध्यदेश में थे, और परिणामतः पाटलिपुत्र से जो मसविदा जारी किया गया था, और जो उसी प्रान्त की बोली में था, वह यथासंभव मूल के अनुरूप उत्कीर्ण हुआ। पर शिला प्रज्ञापनों के मामले में स्थिति भिन्न थी। जहाँ तक कालसी, धौलि और जौगडा की प्रतियों का सम्बन्ध है, इन स्थानों के मध्यदेश के अन्तर्गत या सीमावर्ती होने के कारण, उनमें प्रायः एक ही मसविदा है और वह प्रायः सारा स्तम्भ प्रज्ञापनों की बोली में है परन्तु शाहवाजगढी और मानशेरा उत्तरापथ के, तथा गिरनार दक्षिणापथ के अन्तर्गत थे।^१ उनकी अपनी बोलियाँ थी और परिणाम यह था कि यद्यपि मध्यदेश के मसविदे को ठीक-ठीक नकल करने का पूरा यत्न किया गया परन्तु फिर भी बोली सम्बन्धी प्रान्तीय विशेषताएँ उनमें आ ही गयी। उत्तरापथ की बोली की, और दक्षिणापथ की बोली की क्या-क्या विशेषताएँ थी? ये बोलियाँ मध्यदेश की बोली से भिन्न थी, यह तो इसी बात से सूचित होता है कि इनमें मध्यदेश की बोली की सब विशेषताओं का सर्वथा अभाव है। इस प्रकार उनमें न केवल 'न' है, बल्कि 'ञ' और 'ण' भी हैं। पुल्लिङ्ग का प्रथमा एकवचन रूप ओकारान्त है, एकारान्त नहीं। 'र' के स्थान पर 'ल' का प्रयोग नहीं है, इत्यादि। अब हमें यह देखना है कि उत्तरापथ और दक्षिणापथ की बोलियाँ परस्पर किस दृष्टि से भिन्न थी। दोनों में अधि-करण (सप्तमी) का एकवचन कभी-कभी अवश्य एकारान्त है, पर प्रायः दक्षिणापथ की बोली में इसके अन्त में 'म्हि' आता है और उत्तरापथ की बोली में 'सि', जो मध्यदेश की बोली में भी आता है। उत्तरापथ की बोली में तीन ऊँच वर्ण, श, ष और स, हैं, पर

दक्षिणापथ की बोली में सिर्फ स है, जैसे कि मध्यदेश की बोली में है। दक्षिणापथ की बोली में 'व्य' साधारणतया इसी रूप में है, पर उत्तरापथ की बोली में यह अन्तर्भाव होकर 'व्व' बन जाता है। फिर, इसमें 'य' और 'इ' प्रायः एक-दूसरे से बदल जाते हैं और वर्ण का तीसरा वर्ण पहला बन जाता है। दक्षिणापथ की बोली में संयुक्त स्वर 'ऐ' विद्यमान है, और हमेशा 'ष्ठ' के, तथा कभी-कभी 'स्त' के स्थान पर 'स्ट' हो जाता है।

भारतीय भाषाशास्त्र के बारे में एक और बात पर भी अशोक के लेखों से प्रकाश पड़ता है। कुछ भाषाशास्त्री, बिना किसी स्पष्ट धारणा के, यह कहा करते हैं कि पालि और प्राकृत में ध्वनि-सबधी ह्रास हो गया, और कि इससे पता चलता है कि ये परवर्ती काल की हैं।^१ उनका कहना है कि अन्तर्भाव, विच्छेद (अलग-अलग करके बोलना या लिखना), मूर्धन्य और महाप्राण वर्णों की प्रचुरता आदि से ध्वनि-सबधी ह्रास सूचित होता है। पर क्या जिन बोलियों में ये विशेषताएँ दिखायी पड़ती हैं, वे आवश्यक रूप से उन बोलियों से परवर्ती काल की हैं जिनमें वे विशेषताएँ नहीं हैं? क्या यह बात नहीं है कि वे उच्चारण की एक रीति-विशेष को सूचित करती हैं जो किसी वर्ण, जाति या देश के लोगों में प्रचलित है, और दूसरे में नहीं है? आइए, हम देखें कि क्या अशोक के अभिलेखों से हम किसी परिणाम पर पहुँच सकते हैं? यदि हम, उदाहरण के लिए, गिरनार वाली प्रति की, कालसी वाली प्रति से तुलना करें तो स्पष्ट दिखायी देगा कि कालसी वाली प्रति में गिरनार वाली प्रति की अपेक्षा अधिक ध्वनि-ह्रास दिखायी देता है। हम पहले ही देख

१ आर० जी० भडारकर के विल्सन फाइलोलॉजिकल लैक्चर्स, पृ० ८ और आगे; पृ० ३४ और आगे।

चुके हैं कि सयुक्त व्यजनों का मूल 'र' गिरनार वाली प्रति में आम-तौर से मौजूद है, पर कालसी वाली में सर्वत्र अनुपस्थित है। इस प्रकार गिरनार वाली प्रति में हमें "सर्वत्र" शब्द मिलता है, पर कालसी वाली में सब जगह 'सवत' (सव्वत्त) मिलता है। फिर गिरनार वाली में हस्ति है, और कालसी वाली में हथि (हत्थि) है। गिरनार वाली प्रति की तुलना करने पर कालसी वाली प्रति की भाषा में पाये जाने वाले अतर्भाव के अनेक उदाहरणों में से ये दो-चार यहाँ दिये गये हैं। फिर मूर्धन्य वर्णों की प्रचुरता की बात को लीजिए। संस्कृत के कृत और भृत शब्दों के लिए गिरनार वाली में कृत और भत हैं, पर कालसी वाली में सर्वत्र कट और भट हैं। इसी प्रकार गिरनार के द्वादस या ऐदिस के स्थान पर कालसी में दुवा-उस और हेडिस हैं। हेडिस शब्द और हेत तथा हिद आदि शब्द भी कालसी वाली प्रति में महाप्राण की प्रवृत्ति को सूचित करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पालि और प्राकृत के सामान्य नियमों के अनुसार कालसी वाली बोली में गिरनार वाली की अपेक्षा अधिक ध्वनि-ह्रास दिखायी देता है। पर क्या इससे कोई भाषाशास्त्री यह निष्कर्ष निकालने का साहस करेगा कि कालसी वाली बोली गिरनार वाली बोली से परवर्ती काल की है? निश्चित है कि कोई भी ऐसा साहस नहीं कर सकता, क्योंकि गिरनार वाली और कालसी वाली बोलियाँ अशोक के राज्य-काल में साथ-साथ विद्यमान थी, और इसलिए एक को दूसरी से परवर्ती काल की नहीं कहा जा सकता। तो भी, इन भाषाशास्त्रियों के सिद्धान्तों के अनुसार, कालसी वाली बोली में गिरनार वाली बोली की अपेक्षा अधिक ध्वनि-ह्रास दृष्टिगोचर होता है, और इसलिए इसे अवश्य परवर्ती काल की मानना चाहिए। सच बात यह है कि जिन्हें हम पालि और प्राकृत भाषा के नियम

कहते हैं, उनसे ध्वनि-ह्रास का जरा भी संकेत नहीं मिलता और न उनके परवर्ती होने का संकेत मिलता है जैसी उनकी मान्यता है, वे तो एक वर्ग, जाति या देश विशेष की उच्चारण की रीति को सूचित करते हैं जो सब कालों में प्रचलित थी। उदाहरण के लिए, वैदिक भाषा को लीजिए।^१ वैदिक भाषा में, अंतर्भाव होने पर व्यंजनों का द्वित्व होता है, यह बात इस तथ्य से स्पष्ट है कि विविट्यै के साथ-साथ हमें विविट्यै रूप भी मिलता है। मूर्धन्य वर्णों की प्रचुरता के उदाहरण के रूप में हमें, वैदिक भाषा में कुट, पड्भि. और विदड्ढता भी मिलते हैं, और साथ ही कृत, पद्भिः और विदग्धता भी। और क्या आज भी हम नहीं देखते कि कुछ बंगाली पंडित भी, संस्कृत संदर्भों को पढ़ते हुए, उदाहरण के लिए, स्मृति और लक्ष्मी शब्दों को, ऐसे बोलते हैं जैसे ये स्मृति और लक्ष्मी हो। सचार्थ यह है कि ऐसा कोई साक्ष्य नहीं जिससे यह सिद्ध होता हो कि ये ध्वनिगत परिवर्तन वस्तुतः ध्वनि-ह्रास हैं, और कि इनसे निश्चित रूप से पश्चाद्वर्तिता सूचित होती है, जैसा कुछ भाषाशास्त्रियों का दावा है। इसके विपरीत वे प्रयोग उच्चारण की एक भिन्न आदत के सूचक हो सकते हैं, जो किसी भी काल, या वर्ग या प्रांत में, शुद्ध और परिमार्जित गैली के साथ-साथ विद्यमान हो सकते हैं।

इस प्रसंग में भारत के नाट्यशास्त्र^२ के सत्रहवें अध्याय में कहे गये शब्द याद रखने योग्य हैं। यह स्पष्टरूप से हमें बताता है कि संस्कृत और प्राकृत दो भाषाएँ नहीं हैं, बल्कि भाषा की, अर्थात्, उच्चारण और शब्दों (पाठ्य) की, दो रीतियाँ हैं। उसने सिर्फ चार भाषाएँ मानी हैं, अर्थात् अभिलाषा—देवो की भाषा, आर्यभाषा—

१. इंडीस्क स्टडीज, II ८७, टिप्पणी।

२. ५, २५ और आगे।

राजाओं की भाषा, जाति भाषा—विभिन्न वर्णों और आदिम-जातियों की भाषा, और जात्यतरी—पक्षियों तथा पशुओं की भाषा । पहली दो में सदा सस्कृत-पाठ्य अर्थात् परिमार्जित वाक्यावलि होती है, पर तीसरी में सस्कृत, अर्थात् परिमार्जित और प्राकृत, अर्थात् गंवारू शैली, दोनों होती हैं । इन शब्दों के अस्पष्टार्थक प्रयोग से, और इस विचार से कि, उच्चहरण के लिए, पालि में दिखायी देने वाले ध्वनिगत परिवर्तन ध्वनि-ह्रास के सूचक हैं और इसलिए इसके परवर्ती काल का होने की कसौटी हैं, बड़ा विभ्रम पैदा हुआ है । यदि हम कुछ भाषाशास्त्रियों द्वारा पैदा किये गये और फैलाये गये विभ्रम और धारणाओं को सावधानी से अपने मन से दूर कर दे तो हम देखेंगे कि जिस भाषा में मौर्य सम्राट् अशोक के प्रज्ञापन लिखे गये हैं वह ठीक वही भाषा है जिसका व्याकरण पाणिनि, कात्यायन और पतंजलिने बनाया था, पर कि प्रज्ञापनों में उस भाषा का प्राकृत रूप है, और इन व्याकरणों ने उस भाषा के सस्कृत रूप का व्याकरण बनाया है । हम यहाँ गिरनार प्रति के शिला प्रज्ञापन ६ से एक नमूने का सदर्थ लेते हैं—

देवान-पियो प्रियदसि राजा एव आह् (:) अस्ति जनो उचावच-मगल करोते आवाधेसु वा आवाहविवाहेसु वा पुत्रलाभेसु वा प्रवासम्हि वा । एतम्ही च अञ्जम्हि च जनो उचावच मगल करोते ।

अब, यदि हम कुछ ध्वनिगत विशेषताओं की छूट दे दें तो यह कहना कठिन है कि इस प्रज्ञापन की भाषा उस भाषा से भिन्न है जिसका व्याकरण पाणिनि और पतंजलि ने लिखा था । आज के एक पंडित की और कोई भारतीय भाषा बोलने वाले एक व्यक्ति की बोली में इससे कहीं अधिक अंतर होगा । डा० एफ० डब्लू० टॉमस जैसे एक निष्पक्ष विद्वान् ने पहले ही कहा है कि “इन प्रज्ञापनों की भाषा आदर्श से इतनी दूर नहीं जितनी दूर आजकल की लिखित और बोल-चाल

की अंग्रेजी हैं।”^१ अशोक के समय में मध्यदेश, उत्तरापथ और दक्षिणापथ के अनुसार, ध्वनिगत विवेकताएँ भी तीन ही प्रकार की थी, और ये तीनों उस समय की तीन मुख्य बोलियाँ थी। पर यदि हम एक बार यह स्वीकार कर ले कि इन बोलियों के विभेद, उच्चारण और शब्दावलि की विभिन्न रीतियाँ मात्र थे, तो अनिवार्यतः यह निष्कर्ष निकलता है कि इन बोलियों का आदर्श रूप वह भाषा होनी चाहिए जिस पर व्याकरणों ने लिखा है। इससे हमें पतञ्जलि का यह कथन स्मरण हो आता है कि पाणिनि ने जिस भाषा के लिए लिखा है, वह, वह भाषा है जिसे शिष्ट, अर्थात् सुसंस्कृत ब्राह्मण, स्वभावतः व्याकरण का बिना अध्ययन किये बोलते हैं।^२ ध्यान देने की बात है कि पतञ्जलि ने जिन शिष्टों की चर्चा की है वे हैं जो अष्टाध्यायी नहीं पढ़ते पर फिर भी वैसे बोलते हैं जैसे इसमें बताया है। इससे प्रकट होता है कि पतञ्जलि के समय लगभग १५० ई० पू० तक वही भाषा आर्यावर्त के सुसंस्कृत ब्राह्मणों की भाषा थी जिसका व्याकरण अष्टाध्यायी है ?

यह माना जा सकता है कि अशोक काल की बोलियाँ उस भाषा की शैलियाँ मात्र हैं जो अधिकतर अ-संस्कृत वर्ग में प्रचलित थी। पर यह पूछा जा सकता है कि फिर शिष्ट ब्राह्मणों की भाषा में कोई शिलालेख क्यों नहीं है ? क्योंकि, क्या प्रसिद्ध शिलालेखज्ञ डा० फ्लीट ने बहुत निश्चय से हमें नहीं बताया है कि पश्चिमी क्षेत्रों के रुद्रदामन के काल, १५० ई० पू०, से पहले का एक भी शिलालेख संस्कृत में नहीं मिलता जिससे स्पष्ट है कि उस समय

१. JRAS, १९०४, पृ० ४६२।

२. आर० जी० भंडारकर के विलसन फाइलोलॉजिकल लेक्चर्स, पृष्ठ २९५-६।

साधारण जनता सस्कृत नहीं समझती थी और इसलिए उस समय यह बोली भी नहीं जाती होगी ।

पर यह कथन पूरी तरह सही नहीं है कि इस काल का एक भी शिलालेख सस्कृत का नहीं मिलता । क्योंकि उदयपुर राज्य (राजपूताना) में मिली घोसूँडी बावडी का शिलालेख उस भाषा में है जिसे सस्कृत कहा जाता है, विशेषकर इस कारण कि इसमें हमें दोहरा रूप दो बार प्रयुक्त दिखायी देता है ।^१ बूलर ने इस अभिलेख का समय ३५० से २५० ई० पू० माना है । इसलिए यह लेख अशोक के समय के आस-पास का है । यह कहना सर्वथा तर्क-संगत है कि ऐसे और भी सस्कृत अभिलेख अवश्य रहे होंगे जो मूलतः सस्कृत में उत्कीर्ण कराये गये, पर वे नष्ट हो गये । ऐसे शिलालेख ब्राह्मण स्मारको पर ही हो सकते थे, जो गाँवों और शहरों के निकट होने के कारण, और अधिकतर बौद्ध तथा जैन स्मारको की तरह वस्ती से बहुत एकान्त स्थान में न होने के कारण, अब शायद सदा के लिए लुप्त हो गये ।

डा० फ्लीट और प्रो० राइस-डेविड्स, दोनों की यह मान्यता है कि ३०० ई० पू० और १०० ई० पू० के बीच के काल के शिलालेख एक तरह की पालिभाषा में हैं जो लोक-भाषा से सम्बन्ध और उस पर आधारित है । उनकी सम्मति में, इससे निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि १०० ई० पू० तक प्रचलित भाषा पालि थी, और कि सस्कृत, जिसका व्याकरण पाणिनि और पतञ्जलि ने लिखा है, उस समय लोकभाषा कतई नहीं हो सकती थी । इस विचार को स्वीकार नहीं किया जा सकता । पहले तो, हम अभी देख चुके हैं कि अशोक के समय का कम-से-कम एक शिलालेख मौजूद है जो

स्पष्ट और असदिग्ध सस्कृत में है। दूसरे, इन विद्वानों ने उस बात पर ध्यान नहीं दिया दिखता, जो फ्रैंच विद्वान् श्री सेनार्ट ने इन गिलालेखों की भाषा के, या जिसे वे स्मारकीय प्राकृत कहते हैं उसके, बारे में कही है। सबसे पहले तो हमें उस विस्तृत प्रदेश को ध्यान में रखना है जिस पर वे बिखरे हुए हैं, अर्थात् गुजरात और पश्चिमी तट की गुफाओं से लेकर कृष्णा नदी के मुहाने और पूर्वी तट पर उडीसा में खडगिरि की गुफाओं तक, तथा मध्यवर्ती भारत में साँची से और बरहौत से लेकर बम्बई प्रान्त के दक्षिणी छोर पर वनवासी^१ तथा मद्रास प्रान्त में काची या आजकल के कांजीवरम तक। दूसरे, ये अभिलेख कम से कम सात शताब्दियों, लगभग २५० ई० पू० से ४५० ई० पू० तक, के काल के हैं और उनमें से सबसे प्राचीन और सबसे अर्वाचीन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखायी देता। डा० ओटो फ्रैंक^२ ने उनमें ध्यान देने योग्य कुछ बोली-सम्बन्धी विशेषताएँ अवश्य बतायी हैं, पर वे, विशेषकर अशोक के लेखों में दिखायी देने वाली विशेषताओं की तुलना में, इतनी थोड़ी हैं कि हमारे वर्तमान कार्य के लिए व्यर्थ हैं। अब यह प्रश्न पैदा होता है : यह कैसे संभव है कि इतने विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई भाषा सात शताब्दियों तक जनसाधारण के मुख से आगे बढ़ती रहे और उसमें कोई ह्रास या रूपान्तर न हो ? यह निश्चित रूप से असम्भव है और इस तथ्य से इस निष्कर्ष की अच्छी तरह पुष्टि हो जाती है कि प्राकृतों के जो प्राचीनतम साहित्यिक नमूने—प्राचीनतम नाटकों की हाल और प्राकृतों के पद्य—हमारे मौजूद हैं, वे इस काल की समाप्ति के या उसके कुछ समय बाद के हैं, पर तब भी उनमें बहुत अधिक

१. IA. १८६२, पृष्ठ २६०।

२. पालि एण्ड सस्कृत, पृष्ठ ११० और आगे।

ध्वनिगत परिवर्तन दिखायी देता है। यह सम्भव नहीं कि इन लेखों की बोली इतने विस्तृत भूभाग में और सात शताब्दी जैसे सुदीर्घ काल तक जीवित लोक-भाषा रही हो, पर यह बहुत सम्भव है कि यह भाषा लगभग २०० ई० पू० से ४५० ई० पू० तक प्राचीन भारत की हिन्दुस्तानी अर्थात् हिन्दी या राष्ट्रभाषा (अन्तर-जनपदीय भाषा) रही हो। आजकल की हिन्दुस्तानी में भी प्रान्तीय विभेद-ताएँ स्पष्टतया मौजूद हैं। महाराष्ट्र की हिन्दुस्तानी में निश्चित रूप से मराठी पदावलि और वाक्य-रचना की पुष्ट रहती है और वगाल की हिन्दुस्तानी में वगला की, और महाराष्ट्र तथा वगाल की हिन्दुस्तानी उस हिन्दुस्तानी से भिन्न होती है जो, उदाहरण के लिए, बनारस में बोली जाती है। पर तो भी इस कथन पर कोई आपत्ति नहीं कर सकता कि हिन्दुस्तानी (अर्थात् हिन्दी) आधुनिक भारत की राष्ट्रभाषा (अन्तर-राज्य भाषा) है। यही अवस्था स्मारकीय प्राकृत की थी, जो जहाँ-तहाँ कुछ प्रान्तीय भेदों के होते हुए भी, जैसा कि सबसे पहले डा० फ्रैंक ने पहचाना था, लगभग २०० ई० पू० से कम-से-कम १५० ई० पू० तक, भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा थी। अब हमें इस प्रश्न पर विचार करना है कि यह कब और क्यों राष्ट्रभाषा बनी। निश्चित रूप से यह अशोक के समय इस पद पर नहीं पहुँची। मध्यदेश की बोली उत्तरापथ की बोली से उतनी भिन्न थी जितनी ये दोनों बोलियाँ दक्षिणापथ में प्रचलित बोली से भिन्न थी। इस प्रकार, हमें अशोक के लेखों में एक के स्थान पर तीन बोलियों का प्रयोग मिलता है। दूसरी ओर, स्मारकीय प्राकृत जिस रूप में शिलालेखों में प्रयुक्त होती थी, उनमें वह एक भाषा थी। इसके अतिरिक्त, यह अशोक के समय में नहीं, बल्कि उसके शीघ्र बाद पैदा हुई। इस भाषा की उन्नति के कारणों की कल्पना ही की जा सकती

है। धर्म-प्रचार में अशोक के अक्षय उत्साह के परिणामस्वरूप सारे भारत में अपूर्व हलचल दिखायी देने लगी होगी। एक प्रान्त को दूसरे प्रान्त से पृथक् करने वाली सब बाधाएँ टूट गयी होगी और अन्तः-प्रान्तीय संचरण शुरू हो गया होगा जो बड़े जोर-शोर से चला होगा, और उसका परिणाम यह हुआ होगा कि अशोक की मृत्यु के शीघ्र बाद सारे भारत के लिए एक सामान्य भाषा की आवश्यकता बड़ी तीव्रता से अनुभव होने लगी होगी। शायद उस प्रान्त की, जो उस समय इस हलचल का केन्द्र था और जहाँ महाराष्ट्री नामक प्राकृत की जनक भाषा बोली जाती थी, स्थानीय बोली से इस नयी आवश्यकता की पूर्ति हुई होगी। और जो बोली कभी सिर्फ एक स्थानीय बोली थी, वही अब एक ऐसी सार्वत्रिक भाषा के पद को सुशोभित करने लगी जिसमें एक ओर तो बौद्धों के धर्मग्रन्थ लिखे जाते थे ताकि वे सारे भारत में समझे जा सकें, और दूसरी ओर, वह सरकारी या राजकीय भाषा मान ली गयी तथा और धर्मों के लोगो द्वारा भी अपना ली गयी। इस प्रकार वेसनगर के प्रसिद्ध स्तम्भ का वैष्णव लेख, सातकर्णिक का नानाघाट गुफाओं वाला लेख, जिसमें उसके अनेक वैदिक यज्ञों के नाम गिनाये गये हैं, और गौतमीपुत्र सातकर्णिक तथा वसिष्ठीपुत्र पुलुमावि (शातवाहन वंश वाले) द्वारा जारी की गयी राजघोषणाएँ सब स्मारकीय प्राकृत में हैं जो लगभग वैसी ही हैं जैसी दक्षिणी बौद्ध ग्रन्थों की पालि।^१

१. पालि और स्मारकीय प्राकृत के बारे में कही गयी ये सब बातें १९१९ में कलकत्ता विश्वविद्यालय में दिये गये मेरे दो व्याख्यानो में से उद्धृत की गई हैं। उन्हीं व्याख्यानो में मैंने इस विचार का प्रतिपादन किया है कि जिसे गाथा बोली कहा जाता है, वह प्रायः कुशान काल के शिलालेखों की मिश्रित संस्कृत है, और पहली सदी ई० पू० से तीसरी सदी ई० पू० तक, जब ब्राह्मणवाद की बढ़ती हुई प्रधानता के कारण अब्राह्मण संप्रदाय भी बड़े पैमाने पर संस्कृत का

अब अशोक के काल में प्रचलित कला के बारे में दो शब्द कह दिए जाएँ। इस प्रसंग में भी हम सिर्फ़ उन स्मारकों के विषय में ही कहेंगे जो वास्तव में उसने बनवाये थे और उनके विषय में कुछ नहीं कहेंगे, जिनका उनके नाम के साथ सवध जोड़ दिया गया है। सस्कृति के शायद इसी एक पहलू पर उसके स्मारकों से प्रकाश पड़ता है। हम जानते हैं कि ये स्मारक वे शिलाएँ और स्तूप हैं जिन पर उसके धम्म प्रज्ञापन खुदे हुए हैं और वे गुफाएँ हैं जो उसने आजीविको को अर्पित कर दी थी। कला और वास्तु-विद्या की कृतियों के रूप में उनका इतना अधिक वर्णन किया जा चुका है कि यहाँ कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं। हमें तो उन पर इजी-नियर और कलाकार, दोनों के दृष्टिकोण से विचार करना है। यह जरा भी असंभाव्य नहीं, जैसा कि पहले श्री सेनार्ट ने सुझाया था, कि एकिमीनियन राजा डेरिअस की आज्ञप्तियों को देखकर ही मौर्य सम्राट् के मन में यह विचार आया कि शिलाओं पर उत्कीर्ण कर-कर धार्मिक प्रज्ञापन जारी किए जाएँ। और स्मिथ का यह विचार अध्ययन करते थे, पालि अभी साहित्य की भाषा के रूप में लुप्त नहीं हुई थी, वह शिष्ट लोगो की (यदि साहित्य की नहीं तो कम-से-कम) बोलचाल की भाषा को निरूपित करती है। इसी कारण हम कुछ बौद्ध ग्रंथ भी इसमें लिखे हुए पाते हैं। यह स्वाभाविक है कि जो बौद्ध संप्रदाय कुशान काल में पैदा हुए, उनके धर्मग्रंथ उस भाषा में हो जिसे शिष्ट लोग बोलते थे। तीसरी शताब्दी ई०प० तक सक्रमणकालिक अवस्था रही, और इसके अन्त में सस्कृत सर्वत्र प्रयोग की भाषा हो गयी और साहित्य की भाषा के रूप में पूरी तरह प्रतिष्ठित हो गयी जिसमें वह आगे भी बनी रही। जो बौद्ध संप्रदाय इस काल में पैदा हुए, उनके धर्मग्रंथ पूरी तरह सस्कृत में हैं। इसी कारण धम्म पद हमें तीन रूपों में, अर्थात् न केवल पालि और मिश्रित सस्कृत में, बल्कि शुद्ध सस्कृत में भी लिखा हुआ मिलता है।

भी सही प्रतीत होता है कि अशोक ने डेरिअस के नक्शे-तन्त्र वाले शिलालेख को ही अपना आदर्श बनाया, जिसके बारे में यह माना जाता है कि वह 'ऐतिहासिक के बजाय चिन्तनात्मक' है और इसमें डेरिअस का, अपने देशवासियों को, उनकी भविष्य की नीति, आचार और धर्म के बारे में प्रन्तिम उपदेश है।" पर अशोक ने स्तूपों का भी इस कार्य में उपयोग किया और इस तरह वह एक कदम और आगे बढ़ गया। जहाँ तक शिलालेखों को चिकना करने और उत्कीर्ण करने का प्रश्न है, अशोक के शिल्पियों ने संभाव्यतः अपने ईरानी शिल्पी-बधुओं से उत्कृष्ट कार्य नहीं किया। पर स्तम्भों के विषय में स्थिति सर्वथा भिन्न है। ईरानी शिल्पकृतियों में स्तम्भ का सर्वथा अभाव नहीं था। पर ऐसे स्तम्भों का निर्माण उद्गम भारत ही में हुआ प्रतीत होता है जो स्वतन्त्र हो और किसी भवन के अंग न हो, और पश्चिमी एशिया या यूरोप में रोमन सम्राटों से पहले ये स्तम्भ नहीं मिलते। फिर अशोक के स्तूप ४० से ५० फुट तक लम्बाई वाले, और औसतन २ फुट ७ इंच व्यास के, अनुपम विशालकाय एक पाषाण हैं। लगभग चार फुट वर्ग और ५० फुट लम्बे शिलालेखों को खदान में से निकालना आज बीसवीं सदी में भी, जब हम अपने आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान, प्रशिक्षण और उपकरणों पर इतना अभिमान करते हैं, बड़ा श्रमसाध्य कार्य है। दो हजार वर्ष पूर्व, मौर्य काल के शिल्पियों ने इस भारी कार्य को कैसे किया होगा, इस पर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। पर ऐसे विशालकाय पाषाण-खंडों को सच्चा काटकर साफ करके, उनके सुन्दर गोल स्तूप बनाना, और उसे दर्पण की तरह ऐसा चमका देना कि आजकल के मिस्त्री भी उस पर विस्मय-विमुग्ध रह जाते हैं, और भी अविश्व

परिश्रम-साध्य और नाजुक कार्य था। पर इसे भी उन्होंने बड़ी सफलता से पूरा किया। लेकिन इतनी ही बात नहीं है। अशोक के सारे के सारे स्तम्भ उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले के चुनार नामक स्थान की खदान से निकाले हुए बलुवा पत्थर (सैंडस्टोन) के बने हुए हैं। यह माना जाता है कि उन्हें वहाँ छेनी से साफ करके विभिन्न स्थानों को भेजा गया। ऐसे महाकाय स्तम्भों को बड़ी-बड़ी दूर ले जाने के लिए (और कुछ स्तम्भ पहाड़ी खदान से रौकड़ों मील दूर पहुँचाए गए थे) और उन्हें अलग-अलग तरह के तथा दूर-दूर के स्थानों पर खड़ा करने के लिए जिन यान्त्रिक साधनों और बुद्धिकौशल की आवश्यकता है, आज भी उन्हें जुटाना, यदि असंभव नहीं तो बड़ा कठिन अवश्य है। सोलह शताब्दियों बाद सुलतान फीरोजशाह अशोक के तीन स्तम्भ दिल्ली लाया था, और हमारा सौभाग्य है कि उसके इंजीनियरों को ये स्तम्भ दिल्ली लाने और उन्हें यहाँ खड़ा करने में जो अत्यधिक कठिनाई हुई होगी, उसका सजीव चित्रण इनमें से एक के बारे में—अर्थात् उसके बारे में जो तोपरा (जिला अम्बाला, पंजाब) से लाया गया था—अब भी सुरक्षित है। एक तत्कालीन इतिहास-लेखक शम्स-इ-सीराज लिखता है —

“थट्टा पर चढाई करके लौटने के बाद से सुलतान फीरोज प्रायः दिल्ली के निकटवर्ती स्थानों में आया-जाया करता था। देग के इस भाग में दो पत्थर के स्तम्भ थे। एक तो सढौरा और खिजरा-बाद के जिले में, पहाड़ियों के नीचे तोपरा गाँव में था और दूसरा मीरठ शहर के निकट था। जब फीरोजशाह ने पहली बार ये स्तम्भ देखे तब वह इन पर मुग्ध हो गया और उसने उन्हें बड़ी सावधानी से हटाकर विजय-स्मारक के रूप में दिल्ली ले जाने का सकल्प किया।

“खिजराबाद दिल्ली से ६० कोस दूर, पहाड़ियों के निकट है। जब सुलतान उस जिले में गया और उसने तोपरा गाँव में वह स्तम्भ देखा तब उसने इसे दिल्ली ले जाने का, और वहाँ इसे भावी पीढ़ियों के लिए स्मारक के रूप में स्थापित करने का सकल्प किया। स्तम्भ को नीचे उतारने के उत्तम उपाय सोचने के बाद, पास-पड़ोस के सब लोगो को, जो दोआब में या उससे बाहर रहते थे, तथा घुड़-सवार और पैदल सब सैनिकों को वहाँ उपस्थित होने का आदेश दिया गया। उन्हें इस कार्य के लिए उपयोगी सब उपकरण और सेवल की रुई का एक-एक गट्ठर भी साथ लाने की आज्ञा दी गयी। सेवल की रुई के गट्ठर स्तम्भ के चारों ओर जमा कर दिये गये और जब इसके आधार पर से मिट्टी हटायी गयी तब वह धीरे-धीरे उस गद्दे पर आ पड़ा। इसके बाद धीरे-धीरे वह रुई हटा दी गयी और कुछ दिनों बाद स्तम्भ सुरक्षित धरती पर आ गया। जब स्तम्भ की नींव की जाँच की गयी तो मालूम हुआ कि उसके नीचे एक बड़ा वर्गाकृति पत्थर आधार के रूप में था—यह पत्थर भी निकाल लिया गया।

“इसके बाद इस स्तम्भ पर ऊपर से नीचे तक सरकड़े और खाले सी गयी ताकि इसे कोई हानि न पहुँचे। बयालीस पहियों की एक गाड़ी बनायी गयी और प्रत्येक पहिये के पास एक रस्सा बाँधा गया। प्रत्येक रस्से पर हजारों आदमी लगे, और बड़े परिश्रम तथा कठिनाई के बाद स्तम्भ गाड़ी पर चढ़ाया गया। प्रत्येक पहिये पर एक मजबूत रस्सा बाँधा गया, और इनमें से प्रत्येक रस्से पर २०० आदमी ($४२ \times २०० = ८४००$) लगे। इतने हजार आदमियों के युगपत् उद्योग से गाड़ी हिली और यमुना के किनारे लायी गयी। यहाँ सुलतान उसका स्वागत करने आया। बहुत सी बड़ी-बड़ी

नौकाएँ एकत्र की गयी थी, जिनमे से कई ५,००० से ७,००० मन तक अनाज ढो सकती थी और छोटी से छोटी २,००० मन अनाज ढोने वाली थी। यह स्तम्भ बड़ी चतुराई से इन नौकाओं पर चढ़ाया गया और इस तरह फिरोजाबाद ले जाया गया। वहाँ उतार कर इसे असीम परिश्रम और कौशल से खुशकी मे ले जाया गया।

“इस समय इस पुस्तक का लेखक १२ वर्ष का था, और हजरत मीर खाँ का शागिर्द था। जब यह स्तम्भ इस स्थान पर लाया गया तब उसकी स्थापना के लिए जामिमस्जिद के पास एक स्थान का निर्माण आरम्भ हुआ। और उसमे अत्यन्त कुशल वास्तुविद् और कारीगर लगाये गये। यह पत्थर और चूने का बनाया गया और इसमे कई सीढियाँ थी। जब एक सीढी बन गयी तब स्तम्भ इसके ऊपर खड़ा किया गया, फिर दूसरी सीढी बनायी गयी और स्तम्भ को फिर उठाया गया और इसी तरह तब तक करते गये जब तक यह अभीष्ट ऊँचाई तक न पहुँच गया। इसके बाद इसे सीधा खड़ा करने के लिए और उपाय किये गये। बड़े मोटे-मोटे रस्से लाये गये और आधार की छहो सीढियों पर चर्खियाँ (भारी बोझ उठाने का यन्त्र) लगायी गयी। रस्सो के सिरे स्तम्भ के ऊपरी भाग पर बाँधे गये और दूसरे सिरे चर्खियों पर से, जो मजबूती से बाँधी गयी थी, लाये गये। इसके बाद चर्खियाँ घुमायी गयी और स्तम्भ लगभग आधा गज ऊपर उठाया गया। इसके बाद इसे फिर नीचे धसक जाने से रोकने के लिए लकड़ी के लट्टे और रुई की बोरियाँ नीचे रखी गयी। इस प्रकार, थोड़ा-थोड़ा करके, स्तम्भ को लम्बकोण पर खड़ा किया गया। तब इसके चारो ओर बड़े-बड़े शहतीर लगाकर इसे सहारा दिया गया और एक मचान (या पाड) बना दिया गया। इस प्रकार यह तीर की तरह बिल्कुल सीधा, लव से जरा भी

अविचलित, लडा कर दिया गया। उपर्युक्त वर्गीकृत पत्थर स्तम्भ के नीचे स्थापित किया गया था।”

फ्रीगेजशाह ने अशोक के निर्णय तीन स्तम्भ हटाये थे और वे भी सबसे बड़े स्तम्भ नहीं थे और अपने अगली स्थापना से १५० मील से अधिक दूर नहीं ले जाये गये थे। इसके विपरीत, अशोक ने ऐसे तीन नहीं, बल्कि तीस स्तम्भ खड़े कराये थे और जिनमें से बहुत से इससे बहुत अधिक दूर ले जाये गये थे। उन स्मारकों के खदान, सफाई और स्थानान्तरण से, अशोक के मजदूरों की अत्यधिक कार्यशुशलता का और उसके उर्जनियरो की उच्चकोटि की सूक्ष्म-बुद्धि का बड़ा स्पष्ट प्रमाण मिलता है।

यह ध्यान देने की बात है कि अशोक के समय में पहले मुश्किल से ही कोई भवन पत्थर का था, और कि वास्तु-कार्यों में पत्थर के उपयोग के लिये भारत इस बौद्ध सम्राट् का ऋणी है। अपने प्रजापनों में अशोक ने बार-बार यह कहा है कि जिन दो उद्देश्यों से उसे अपने प्रजापन गिताओं और स्तम्भों पर उत्कीर्ण कराने की प्रेरणा मिली है उनमें से एक यह है कि वे चिरस्थायी हों। इसी कारण अशोक ने अपने राज्य के दक्ष कारीगरों और साधनों का उपयोग करना, और अपनी धम्मलिपियों को पत्थरों पर उत्कीर्ण कराना उचित समझा। अशोक से पहले भारत की वास्तुकला में मुख्यतः लकड़ी का उपयोग हुआ है, जैसा कि वर्मा, चीन और जापान में आज भी होता है। लकड़ी, स्थायित्व के अतिरिक्त और सब दृष्टियों से, पत्थर की अपेक्षा अच्छी इमारती वस्तु है। मैगास्थनीज ने लिखा है कि “पाटलिपुत्र के चारों ओर एक लकड़ी की दीवार थी जिसमें तीर छोड़ने के लिए छिद्र बने हुए थे।” जब चन्द्रगुप्त की

राजधानी ही लकड़ी के खम्भो से घिरी हुई थी, तब यह अनुमान स्वाभाविक है कि उस समय निर्माण-कार्य में प्रायः एकमात्र लकड़ी ही प्रयुक्त होती थी। जातको में भी^१ लकड़ी के मकानों का उल्लेख बहुत है, ईंटों के मकानों का कहीं-कहीं है,^२ पर पत्थर के मकानों का कहीं भी नहीं है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि सग-तराश की कत्ता और उद्योग उस समय थे ही नहीं, क्योंकि जातको में इसके उल्लेखों का अभाव नहीं है।^३ दूसरे, अशोक के ही समय के ग्रास-पास की कम-से-कम एक प्रस्तर मूर्ति है जो पर्रम^४ में मिली है, जिसका निर्माण राजशिल्पियों ने नहीं किया। तीसरे राजपूताना के नगरी स्थान में, हमें वासुदेव-सकर्पण को समर्पित एक समाधि के अति प्राचीन पापाणमय घेरे के अवशेष मिले हैं, जिनका समय अशोक से कुछ पहले रखना होगा।^५ एक और पापाण-भवन, जो फर्गुसन^६ के अनुसार निश्चित रूप से अशोक से पहले का है, वह है जो राजगिरि में है और जिसे जरासंध की बैठक कहते हैं। अगर इस सम्राट् से पहले पापाण कला और उद्योग के विकास का और प्रमाण अपेक्षित हो तो वह पिपरावा स्तूप^७ से निकाली गयी विशाल-काय पत्थर की तिजोरी से मिल जाता है। यह ४ फुट ४ इंच × २ फुट सवा आठ इंच × २ फुट सवा दो इंच का सलेटी रंग के बलुआ पत्थर का विशालकाय एक पापाण है और उच्चकोटि की

१. जातक, II १८ ७-१३, VI ३३२. २१।

२. वही, VI. ४२६. १७ ८।

३. देखो, उदा जातक I ४७८, ५ और १२।

४. कैटे. आर्कि. म्यू., मथुरा, पृ० ८३ और प्ले. XII.

५. MASI, न० ४, पृ० १२८।

६. HIEA, जिल्द १, पृ० ७५।

७. SAMSJA, जिल्द ३, भाग १, पृ० ४२६।

कारीगरी का नमूना है। प्रतीत होता है कि जब अपनी धम्म-लिपियों को स्थायी रूप देने का विचार अशोक के मन में आया तब उसने सगतराग की कला का उपयोग किया जो पहले ही बहुत विकसित और उन्नत दशा में थी।

यह तो हमने अशोक के स्मारको पर इंजीनियर के दृष्टिकोण से विचार किया। पर कला की दृष्टि से वे किस कोटि के हैं? इस दृष्टि से भी, ये स्मारक जिन तीन वर्गों में बाँटे गये हैं, उनमें से स्तम्भ ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। प्रत्येक स्तम्भ में तीन भाग हैं—खम्भा (शैफ्ट) और घटाकृति स्तम्भशीर्ष (कैपिटल), शीर्षफलक (एवैकस) और ऊपर चारों ओर की कलाकृति स्तम्भशीर्ष, शीर्षफलक और ऊपरी कलाकृति मिलकर स्तम्भ की सबसे महत्त्वपूर्ण और कलात्मक विशेषता हैं। इसका शायद सबसे अच्छा नमूना वह है जो सारनाथ में मिला है और जिसे सारनाथ स्तम्भशीर्ष कहते हैं। इसके बारे में सर जान मार्शल ने लिखा है—“इसके विपरीत, सारनाथ स्तम्भशीर्ष, सर्वश्रेष्ठ कृति न होने पर भी, अत्यधिक उन्नत कला का नमूना है जो तीसरी सदी ई० पू० में ससार में विद्यमान थी—वह एक ऐसे व्यक्ति के हाथ की रचना है जिसके पीछे पीढ़ियों का कलात्मक उद्योग और अनुभव था। शीर्षवर्त्ति सिहों की उद्दाम शक्ति, उनकी फूली हुई शिराओं और अतिपुष्ट-मासपेशियों में, तथा नीचे की सजीव नक्काशी में, कहीं भी अविकसित कला की छाया नहीं है। शिल्पी का उद्देश्य स्वाभाविकता था, और उसने अपनी कृति सीधे प्रकृति से लाकर खड़ी की है और उसका रूप प्राणवान और सच्चे हाथ से अंकित किया है, पर उसने इससे कुछ अधिक किया है उसने उन चार सिहों को, जान-बूझकर और एक निश्चित प्रयोजन से, एक निर्माणीय परम्परागत

आत्मा से अनुप्राणित कर दिया है, जिससे उनका स्मारक के वास्तु-स्वरूप के साथ सामंजस्य हो जाएँ, और शीर्षफलक का ग्रन्थ बनाने में उसने उस प्ररूप का उपयोग किया है जो पश्चिमी कला में सुवि-दित और स्वीकृत था । उसकी नक्काशी कला भी इसी तरह प्रौढ है । प्राचीन ग्रीक मूर्तिकला की तरह प्राचीन भारतीय मूर्तिकला में भी, यह चलन था, जैसा कि हम अभी देखेंगे, कि नक्काशी या उभार को दो स्थिर तलों—पाटी के आरम्भिक सम्मुखस्थ तल तथा पृष्ठभूमि के तल—के बीच सपीडित कर दिया जाता था । सारनाथ स्तम्भशीर्ष की नक्काशियों में इस प्रक्रम का कोई चिन्ह नहीं है, प्राणी का प्रत्येक अंग इसकी वास्तविक गहराई के अनुसार किसी सम्मुखस्थ तल का बिना विचार किये बनाया गया है, जिसका यह परिणाम हुआ है कि यह एक ऐसी मूर्ति लगती है जिसे आधा काट लिया गया है और फिर शीर्षफलक की पृष्ठभूमि पर लगा दिया गया है ।^१

पर पुराविदों की सम्मति में अशोककालीन वास्तुकला विदेशी है । एक विचार यह है कि स्तम्भ के ऊपरी ग्रन्थि की अधिकतर विशेषताएँ (विशेषकर घटाकृति स्तम्भशीर्ष) ईरान के रास्ते एसी-रिया से ग्रहण की गयी, जहाँ से अशोक को वह प्रेरणा मिली जिसके परिणामस्वरूप भारत की वास्तुकला में लकड़ी का स्थान पत्थर ने लिया ।^२ दूसरा विचार, जो सबसे नया है, यह है कि अशोक का स्तम्भ सर्वथा ईरानी-यूनानी वस्तु है । इसकी वास्तुकला-सम्बन्धी विशेषताएँ तो ईरान की हैं, पर जीवित रूपों का प्रतिरूपण सर्वथा यूनानी है । क्योंकि लगभग इसी काल में यूनानी भावना बैक्ट्रिया

१. CHI, I ६२०-१ ।

२. HIEA. जिल्द १ पृष्ठ ५८-६ ।

मे प्रबल थी और 'ईरान के स्फूर्तिहीन अभिव्यक्त्याशून्य रूपों को प्राणवान बना रही थी।'¹ और इस प्रकार यह ईरानी-यूनानी कला वैकिट्र्या से भारत आयी पर, यदि सचमुच अशोक का स्तम्भ ईरानी-यूनानी कला का निरूपण करता है और वह वैकिट्र्या में विकसित हुई थी, तो क्या कारण है कि स्वयं वैकिट्र्या में, या उनके पास-पास, उदाहरण के लिए, भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में, उसका कोई नमूना नहीं मिलता। यदि ऐसे नमूने नहीं मिलते तो ईरानी-यूनानी प्रभाव निरी निराधार कल्पना है। दूसरे, ऐसे स्वतन्त्र स्तम्भ, जो किसी भवन के अविभाज्य अंग न हो, बनाने का विचार, जैसा कि ऊपर बताया चुके हैं, न ईरानी हैं और न यूनानी, बल्कि भारतीय हैं। इसी प्रकार यदि वैकिट्र्यान यूनानियों ने अशोक के स्तम्भों के प्रतिरूपण और निर्माण में इतना प्रमुख भाग लिया तो यह कुछ अजीब-सी बात है कि उन्होंने इस कला में कोई ऐसी विशेषताएँ निविष्ट नहीं की जो प्रारूपिकतया यूनानी हैं, जैसे आयोनिक या कोरिथियन पद्धति की विशेषताएँ। ये विशेषताएँ हमें इडो-पार्थियन और कुशान काल की वास्तु-कृतियों में मिलती हैं, पर अशोक की कृतियों में जरा भी नहीं मिलती। यह सत्य है कि यूनानी कला की सुविदित विशेषताएँ—मधुपायक (हनीसकल—एक आरोही क्षुप, लोनिसेरा, जिसके पीताभ फूलों में से लम्बी जिह्वा वाले कीट आसानी से मकरद पी लेते हैं), साँकल और मनको तथा रीतों के आभूषण—अशोक के स्तम्भों में पाये जाते हैं। पर ये आभूषण प्रारूपिकतया यूनानी नहीं हैं क्योंकि इतिहासवेत्ताओं के अनुसार, यूनानियों ने स्वयं ये एसीरिया से ग्रहण किये थे। और यह कहना अधिक स्वाभाविक है कि स्तम्भ की अन्य

विशेषताएँ, जैसी घटाकृति स्तम्भशीर्ष, चिकना बे-नाली खभा और चमकदार पालिश—ये सब बातें एसीरियनो से सीधे ग्रहण की गयी, ईरानियों के द्वारा नहीं। यह कहना अधिक निरापद है, जैसा कि राजेन्द्रलाल मित्र ने बहुत वर्ष पहले कहा था, कि भारतीयों ने ये बातें एसीरियनो से सीखी, पर अशोक के काल से बहुत पहले सीखी थी।^१ यह निष्कर्ष इस तथ्य के साथ भी सर्वथा सगत हो जाता है कि जरासंध की बैठक को, जिसे सब पुराविद प्राङ् मौर्यकाल का मानते हैं, फर्गुसन एसीरियन उद्गम की, और वीर्स निमरुद से निकल की हुई मानता है।^२ पर भारतीयों और एसीरियनो का सम्पर्क कब और कहाँ हुआ ? ये एसीरियन असदिग्ध रूप से असुर हैं, जिनका वैदिक साहित्य में उल्लेख है, जो भारत ही में रहते थे, और जिनके साथ वेदकालीन आर्यों के निरन्तर युद्ध होते रहते थे। प्रतीत होता है कि आर्यों के आगमन से पहले वे भारत के अधिकांश पर काबिज थे। मालूम होता है कि असुर महान् निर्माता थे। क्योंकि ऋग्वेद में भी उनके 'सात दीवारों वाले' या 'लोहे की दीवारों वाले नगरों' की या उनके 'पत्थर के सौ नगरों की' चर्चा है। यह उस काल की दृढ़ प्राकारों का उल्लेख प्रतीत होता है, जिनमें से कुछ पत्थर की बनी हुई होगी। फिर, ऋग्वेद में राजप्रासादों को 'सहस्र-द्वार' बताया गया है और उनमें 'हजार स्तम्भों वाले सभा भवन' हैं—यह भवन ठीक वैसा है जैसा, महाभारत के वर्णन के अनुसार, मय असुर ने युधिष्ठिर के लिए बनाया था। ये बहुत सभाव्यतः लकड़ी के बने हुए थे। असुर वास्तुकला की खास विशेषता भवनों की महाकाय शैली थी। वे बहुत बड़े पैमाने पर भवन बनाते थे। अशोक के समय

१. इडो-आर्यन्स, जिल्द १, पृ० १४।

२. केव—टैपल्स ऑफ इंडिया, पृ० ३४-५।

भारतीय सभ्यता में जितना आर्य अश था उतना ही एसीरियन अश था, और इसलिए, जहाँ तक वास्तुकला का सम्बन्ध है, भारत एसीरियनो या असुरो का बड़ा ऋणी था, पर निश्चित रूप से उन्हीं असुरो का, जो भारत में बस गये थे और जिन्होंने इसे अपना घर बना लिया था। इस प्रकार अशोक-कालीन वास्तुकला प्रधानतः एसीरियन होने पर भी भारतीय थी।

परिशिष्ट

खेद की बात है कि किसी विद्वान् ने अब तक असुर समस्या का ठीक-ठीक अध्ययन नहीं किया। निःसन्देह कुछ विद्वानों ने^१ हाल में यह सुझाया है कि वैदिक साहित्य में एक जाति के रूप में निर्दिष्ट असुर बहुत सभाव्यत एसीरियन थे और ये निर्देश उस काल का स्मरण कराते हैं जब आर्य लोगो का, मेसोपोटामिया या मध्य एशिया में, पर निश्चित रूप से भारत से बाहर, किसी जगह एसीरियनो से सम्पर्क था। पर प्रतीत होता है कि यह बात भुला दी गयी है कि बहुत समय पहले एच० एच० विल्सन और के० एम० वनर्जी ने भी यह निष्कर्ष निकाला था। विल्सन ने कहा था कि असुर “भारत की वैदिक-विरोधी जाति प्रतीत होते हैं जिनके नगर इन्द्र ने नष्ट कर दिये थे।”^२ वनर्जी ने एक कदम और आगे बढ़कर यह कहा कि ये असुर ही एसीरियन हैं। उसने यह भी कहा कि जिन तीन विभिन्न अर्थों में असुर शब्द का प्रयोग उत्कीर्ण लेखों में हुआ है, उन्हीं अर्थों में असुर शब्द वैदिक मन्त्रों में प्रयुक्त हुआ है।^३ पर उसका विचार था कि आर्य लोग एसीरियनो को मध्य एशिया में मिले, न कि

१. JRAS, १९१६, पृ० ३६३-४, JBBRAS, जिल्द २५, पृ० ७६।

२. विल्सन का ऋग्वेद, जिल्द ३, पृ० १४।

३. एरियन विटनेस, पृष्ठ ४९।

भारत में, जो विल्सन की मान्यता थी। पर विल्सन का विचार अधिक सही प्रतीत होता है। प्र० वी० के० राजवाड़े ने हाल ही में असुर शब्द पर एक विस्तृत निबन्ध लिखा है जिसमें वह ठीक ही कहते हैं : “अधिकतर स्थानों पर असुर शब्द अच्छे अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—बुरे अर्थ में यह सिर्फ लगभग १५ बार, अर्थात् कुल (१०५) का सप्तमांश बार, आया है। इससे प्रकट होता है कि ऋग्वेदीय धर्म और जरथुष्ट्री धर्म में जो मतभेद पैदा हुए हैं वे ऋग्वेदीय काल के अंतिम भाग में हुए। ऋग्वेदोत्तर काल में शत्रुता अधिकाधिक उग्र होती गई।”^१ यह अन्तिम वाक्य बड़ा महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि आर्यों के असुरों के साथ उग्र युद्ध भारत में हुए, क्योंकि ऋग्वेदोत्तर काल में आर्य लोग निश्चित रूप से इस देश में बस गए थे। फिर शतपथ ब्राह्मण में एक सदृश है जिसमें बताया गया है कि असुर जाति प्राच्य है, जो हम जानते हैं कि मगध का दूसरा नाम था।^२ इसके साथ विलकुल मेल खाता हुआ तथ्य यह है कि असुर विहार में छोटा नागपुर प्रदेश में अब भी एक अनार्य आदिम जाति के रूप में पाये जाते हैं। यह बात इस तथ्य के अनुरूप है कि विहार में राजगीर में, जरासंध की बैठक है, जो, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, फर्गुसन के अनुसार प्राङ्-मौर्यकाल की तथा एसीरिया के बीर्स निमरूद की अनुकृति है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भारत में एक बेबिलोनियन मुहर (सील) क्यों मिली।^३ यह मुहर इस समय नागपुर में संग्रहालय में रखी है, और २,००० ई० पू० की है। इसका ठीक प्राप्ति स्थान पता नहीं, पर १६१८

१ PTFOC, पृष्ठ १८--९।

२. १३. ८ १.५ SBE, जिल्द ४४, पृष्ठ ४२३--४।

३ JASB, १६१४, पृष्ठ ४६२।

मे सग्रहाध्यक्ष (क्यूरेटर) ने मुझे सूचित किया था कि यह मध्य प्रदेश में कहीं मिली थी।

शतपथ ब्राह्मण के समय प्राच्य एक असुर आदिम-जाति को ही सूचित करते थे। भारत के अन्य भागों में और भी असुर वस्तियाँ रही होगी। वैदिक साहित्य तथा आर्य काव्यों के समीक्षात्मक और विस्तृत अध्ययन से हम उनके प्रव्रजनों और राज्यों का इतिहास तैयार कर सकते हैं। सभाव्यतः ऐसी एक बस्ती उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में थी, जिसमें खाडव-वन भी था जिसके दावानल से अर्जुन ने प्रसिद्ध मयासुर की रक्षा की थी। असुर लोग, पाणिनि के समय तक भी एक (लडाका) जाति के रूप में प्रसिद्ध थे, और उसने उसका उल्लेख परगुओं (प्राचीन ईरानियों) के तुरन्त बाद किया है जो उसका परगुगण बनाते हैं। वे एक म्लेच्छ भाषा बोलते थे।^१

इस प्रकार यदि आर्यों के आगमन से पहले ही एसीरियन भारत में मौजूद थे, तो स्वभावतः यह पूछा जा सकता है: भारत में हमें एसीरियन सभ्यता के कौनसे चिह्न मिलते हैं? पहला और सबसे प्रमुख एसीरियन प्रभाव भारत की प्राचीन वास्तुकला पर पड़ा मालूम होता है। और श्री वा० ग० तिलक ने यह भी प्रदर्शित किया है कि अथर्ववेद में वर्णित कुछ देव या दानव स्पष्टतः कैलिडियन थे।^२ क्योंकि अथर्ववेद का काल ऋग्वेद की अपेक्षा अर्वाचीन है, इसलिए कैलिडियन देवगण का यह समावेश भारत ही में हुआ होगा। वस्तुतः मौर्य सत्ता के उदय से पहले की भारतीय सभ्यता मुख्यतः आर्य और असुर अवयवों से मिलकर बनी हुई थी।

१ JBBRAS, २५, ७८, ZDMG, ६८, ७१६।

२. भडारकर कामेमो, वौल्युम, पृष्ठ २६।

अध्याय ७

इतिहास में अशोक का स्थान

इस समय तक हम अशोक के बहुमुखी अविश्रान्त क्रियाकलाप की यथेष्ट स्पष्ट धारणा बना चुके हैं। अब हम, इतिहास में उसका वास्तविक स्थान निर्धारित करने की दृष्टि से, उसके कार्य का सही तखमीना लगाने की कोशिश करेंगे। पर तब तक उसकी सफलताओं का कोई विवेचनात्मक रूप हमारे सामने नहीं आ सकता जब तक हम यह निश्चय करने का यत्न न करें कि उसके सामने क्या आदर्श था और कौन-कौनसे भाव उसे प्रेरणा देते थे। क्या अशोक ने कही यह प्रकट किया है कि उसके क्रिया-कलाप का भीतरी प्रेरणा-स्रोत क्या था? बौद्ध सम्राट् ने अपने मन के भीतरी भागों की भाँकी इतनी अधिक वार दी है कि यह मानना कठिन है कि सिर्फ इस प्रश्न पर, जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, उसने हमें अपने अन्तर्भाव बताना उचित नहीं समझा। शिला प्रज्ञापन ६ में वह कहता है "सर्वलोकहित से बढकर और कोई अच्छा काम नहीं है। जो कुछ पराक्रम में करता हूँ वह इसीलिए है कि प्राणिमात्र का मेरे ऊपर जो ऋण है उससे मैं मुक्त होऊँ और उनका इस लोक तथा परलोक में हित बढ़े।" इस प्रकार अशोक का आदर्श मनुष्य का बन्धुत्व, यानी मानव-बन्धुत्व न होकर प्राणीमात्र का बन्धुत्व है। वह अपने आपको इस सारे चर जगत के साथ सबद्ध अनुभव करता है और उसका परम कर्तव्य उन्हें न केवल भौतिक सुख,

से बाहर के देशों के चारे में भी उसका यह दावा ग़ल वज़ानामात्र न था ।^१ कारण कि हम जानते हैं कि उसके धर्म-प्रचार कार्य कितने सफल हुए । बुद्ध की शिक्षा सारे भारत और श्रीलंका में फैल गयी । यह २०० ई० पू० से पहले चीन में भी फैल गयी । और यद्यपि पश्चिमी एशिया में बौद्ध धर्म स्वीकार किये जाने के कोई संकेत नहीं मिले पर इतनी बात असंदिग्ध है कि इसका ईसाइयत पर बड़ा प्रभाव पड़ा, और यह तो मानना ही होगा कि इसने अपना एक आधारभूत सिद्धान्त—मानव बन्धुत्व—बुद्ध की उन शिक्षाओं में से ग्रहण किया है जो इस बौद्ध सम्राट् ने प्रचारित की थी ।

इस प्रकार हम देख चुके हैं कि अशोक के मन में हर समय कौनसा आदर्श घूम रहा था, और प्राणिमात्र के लिए किए जाने वाले उसके अनवरत क्रिया-कलाप की प्रेरक-शक्ति कौनसी थी । अब हम यह निर्धारित करने की स्थिति में हो सकते हैं कि इतिहास में उसका क्या स्थान है । प्राचीन काल के अनेक साथी सम्राटों से उसकी तुलना की गयी है । पर इस तुलना से उसे जरा भी क्षति नहीं पहुँचती । इस प्रकार उसकी तुलना रोमन सम्राट् कौस्टेन्टाइन महान् से, दो विभिन्न दृष्टिकोणों से, की गयी है । प्रो० राइस-डेविड्स की मान्यता है कि अशोक कौस्टेन्टाइन के समान था क्योंकि जैसे कौस्टेन्टाइन का धार्मिक दान-पुण्य ईसाई चर्च के आध्यात्मिक ह्रास का कारण बना, वैसे ही अशोक का धर्म-परिवर्तन और सघ को दिया हुआ उदार दान “बौद्ध धर्म की अवन्ति की दिशा में और इसे भारत से निकाल दिए जाने की दिशा में पहला कदम था ।”^२ पहले तो, यह कहना ठीक नहीं कि बौद्ध धर्म भारत से निकाल दिया

१. ऊपर, पृ० १५५ ।

२ बुद्धिज्म, पृ० २२२ ।

गया । कारण कि यह अब भी वगाल के कुछ भागों में मौजूद है । पर इसमें कुछ सदेह नहीं कि आजकल यह जीर्ण अवस्था में है, और इसकी यह दुर्गति बारहवीं शताब्दी के शीघ्र बाद, अर्थात् अशोक के लगभग डेढ़ हजार साल बाद हुई । इसलिए यह बात हमारी समझ में नहीं आती कि उसके इतने दीर्घकाल बाद होने वाले बौद्ध धर्म के लोप की जिम्मेदारी उस पर कैसे डाली जा सकती है । फिर इस बात का क्या प्रमाण है कि उसने बौद्ध सघ को अधाधुन्ध दान दिया ? प्रो० राइस-डेविड्स चाहते हैं कि हम बौद्ध विवरणों पर पूर्ण भरोसा करें पर उनका अधिकतर भाग, कम-से-कम वह जो अशोक के सम्बन्ध में है, किसी भी तरह विश्वसनीय नहीं । और यदि जरा देर को यह भी मान ले कि सिहली तथा अन्य भिक्षुओं ने परम्परा की सही रूप में रक्षा की है, तो इस बात का क्या प्रमाण है कि अशोक के तत्काल बाद की शताब्दियों में बौद्ध भिक्षुओं का आध्यात्मिक ह्रास हो गया था । गुप्त काल के आरम्भ, अर्थात् लगभग ३५० ई० प०, के बाद तक बौद्ध धर्म की अवनति के कोई चिह्न नहीं मिलते । कुछ विद्वान् अशोक और कौस्टेडाइन की तुलना इस कारण करते हैं कि दोनों ही राजा होते हुए भी अपने-अपने धर्मों के सरक्षक थे और उन्होंने उनके प्रचार में बहुत अधिक सहायता की ।^१ पर वे यह भूल जाते हैं कि जिन परिस्थितियों में अशोक ने अपने धर्म के प्रचार का यत्न किया, वे उन परिस्थितियों से सर्वथा भिन्न थी जिनमें कौस्टेडाइन ने कार्य किया ।^२ “कौस्टेडाइन ने जीतते हुए पक्ष का पोषण किया ।” जबकि अशोक ने ऐसे धर्म का

१ हाडी, अशोक-आइन--कैरेक्टर-विल्ड; आदि पृष्ठ ३०, राइस डेविड्स, बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २६७-८; रैप्सन, एन्शेट इण्डिया, पृष्ठ १०४ ।

२ टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट, अगस्त ७, १९१४ ।

नेतृत्व किया जिसकी बहुत कम प्रगति हुई थी। कौस्टेडाइन "स्वार्थ-बुद्धि, चालाक, अधविश्वासी, प्रायः निष्ठुर, निन्दापरायण व्यक्ति था जिसकी सफल दूरदर्शिता के एक महान् उदाहरण से वह 'महान्, कहलाने का पात्र है।' ^१ इसके विपरीत, अशोक की आत्मा विचारवान तथा सबके लिए करुणापूर्ण थी और वह उच्च आदर्शों, सतत प्रयत्नों, एकातनिष्ठा और आश्चर्यजनक उपायसपन्नता वाला व्यक्ति था। "कौस्टेडाइन ने राजनैतिक लक्ष्य से सहिष्णुता का सहारा लिया।" अशोक की सहिष्णुता सच्चे हृदय की प्रेरणा थी। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में कौस्टेडाइन प्रतिक्रियावादी होकर पेगनवाद की ओर झुक गया था और यहाँ तक हुआ कि उसका धर्म एक 'अजीब खिचड़ी' हो गया। अशोक में कहीं ऐसी गिरावट नहीं आयी और वह आदि से अन्त तक इसी धम्म पर दृढ़ रहा।

एक दूसरा शासक, जिसका नाम अशोक के साथ लिया जाता है, एक और रोमन सम्राट् मार्कस औरेलियस एटोनियस^२ है, जिसका राज्यकाल १२१ से १८० ई० प० रहा। जहाँ तक निजी जीवन के भद्र आदर्शों का सम्बन्ध है, इसमें कोई सदेह नहीं कि वह अशोक का समकक्ष था और मानसिक सस्कृति की दृष्टि से उससे बढ़कर भी था। पर आदर्श की उदात्तता और अविश्रान्त तथा सम्यग्योजित उत्साह की दृष्टि से अशोक रोमन सम्राट् से कहीं ऊपर था। मार्कस औरेलियस के कुछ प्रशंसकों ने अवश्य यह कहा है कि उसका जीवन मानवमात्र के प्रेम और धर्म से संचलित था। पर वे यह भूल गये हैं कि वह "रोमनों की व्यावहारिक भद्रता और अभिमान तथा राजनैतिक लक्ष्य की दृढ़ता से ओतप्रोत था," और कि

१. ERE., IV, ७७।

२. मैकफेल, अशोक. पृ० ८०; CHI. I ५०६।

वह ईसाइयो पर व्यवस्थित रीति से अत्याचार करता था, वह सिर्फ इस कारण कि उसकी राय में ईसाइयत के फैलने पर रोमन समृद्धि कायम नहीं रह सकती थी।^१ बौद्ध सम्राट् का जीवन और शासन ऐसे सकीर्ण और निकृष्ट आदर्श से दूषित या मानव-जाति के किसी भाग के प्रति ऐसी अमानवीय शत्रुता से कलकित न थे। इसके विपरीत, उसने न केवल सारी मनुष्य जाति के बल्कि सारे प्राणिजगत के भी कल्याण के लिए परिश्रम और व्यवस्था में उद्योग किया और उसका आत्म-दमन का जीवन किसी मूलवशीय, राष्ट्रीय या पारिवारिक अभिमान या पक्षपात से दूषित न था।

एक लेखक ने अशोक की तुलना राजा एल्फ्रेड, शार्लमेन, उमर खलीफा, आदि अन्य कई राजाओं से की है।^२ ऐसे राजा अनेक हुए हैं जो अशोक के समान महान् योद्धा या महान् प्रशासक हुए हैं। पर अपने जिस कार्य के कारण अशोक विश्वव्यापी और शाश्वत यश का अधिकारी है वह है उसके द्वारा किया हुआ अपनी प्रजा का भौतिक और आत्मिक कल्याण। और ऐसे किसी राजा की अशोक से तुलना नहीं हो सकती जिसमें उसकी यह विशेषता काफी अधिक परिमाण में न रही हो। इसलिए, अशोक के नाम के साथ-साथ जिस राजा का नामोल्लेख किया जा सकता है वह एक-मात्र मुगल सम्राट् अकबर था।^३ इसमें कोई सदेह नहीं कि अकबर ने अपने प्रजाजनो के सुख और कल्याण के लिए बड़ा यत्न किया पर अशोक से उसका सादृश्य विशेष रूप से इस बात में था कि उसने भी धार्मिक सहिष्णुता प्रदान की और प्रत्येक धर्म में सत्य का निश्चय करने के

१. EB, XVII., ६६५।

२ मैकफेल, अशोक, पृ० ८०।

३. ERE., II, १२७।

लिए सहानुभूति से यत्न करके प्रजा के सामने एक उत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत किया। हम जानते हैं कि सूफियो, सुन्नियो, शियाग्रो, ब्राह्मणों, जैनो (जातियो), बौद्धो, ईसाइयो, यहूदियो, सेवियनो, जरथुष्ट्रियो और अन्य मतावलम्बियो के शास्त्रार्थ सुनने और उनकी अव्यक्तता करने में उसे कितना आनन्द आता था। हम यह भी जानते हैं कि वह ये वाद-विवाद क्यों कराता था। वह प्रायः कहा करता था कि “सच्चा मनुष्य वही है जो जिज्ञासा के मार्ग पर न्याय का अनुसरण करता है, और प्रत्येक सम्प्रदाय से वे बातें ग्रहण कर लेता है जो तर्कानु-मोदित हों। सम्भव है कि इस प्रकार वह ताला, जिसकी कुँजी खो गयी है, खुल जाए।”^१ इस श्रेष्ठ सकलन का परिणाम था एक नये धर्म “दीने-इलाही” का आरम्भ, जो एकेश्वरवाद था “और इसमें प्रकाश और अग्नि की, विशेषकर सूर्य के रूप में पूजा की जाती थी, जो पारसियों के धर्म से भिन्न नहीं है।” अशोक के विषय में, हम देख चुके हैं कि अपनी धर्म-जिज्ञासा के परिणामस्वरूप उसने जैन धर्म से अगत मिश्रित बौद्ध धर्म का अवलम्बन कर लिया था, पर यह स्मरण रखना चाहिए कि अकबर “सबसे पहले एक राजनैतिक और दुनियावी व्यक्ति था, और धार्मिक सत्य के लिए अपनी सम्राटता को खतरे में डालने को तैयार न था।” इस प्रकार जब उसने देखा कि धर्म में उसके नयी बातें प्रचलित करने से मुसलमानों में विद्रोह पैदा हो रहा है, तब उसने सब धार्मिक वाद-विवाद बन्द कर दिये। वह, उदाहरण के लिए, उस समय ईसाई मिशनरियों की बात सुनने को तैयार न हुआ जिस समय उसके नये धर्म के कारण बंगाल में विद्रोह पैदा हो रहा था। फिर, वह सब के प्रति सहिष्णु भी नहीं था। जब इलाही नामक सम्प्रदाय पैदा हुआ तब

अकबर ने उसके अनुयायियों को पकड़वाकर सिंध और अफगानिस्तान भेज दिया और वहाँ उनके बदले घोड़े खरीदे। अकबर की धर्म-जिज्ञासा मुख्यतः विद्यात्मक ढंग की थी, और जब उसने “दीने-इलाही” की उद्घोषणा की तब इसके पीछे आत्म-गुरुत्व की भावना भी थी। उसमें उस धर्म के लिए जरा भी जोश या उत्साह नहीं था, और परिणामतः उसके प्रतापी सम्राट् होने के बावजूद दीने-इलाही राज-दरबार से बाहर नहीं फैला और अपने सस्थापक के साथ ही समाप्त हो गया।

यूरोपियन इतिहासकारों के मूल्यांकन के अनुसार, सिकंदर महान्, सीजर और नैपोलियन ससार के महानतम सम्राट् हैं। वे सभाव्यतः अशोक से भी बड़े योद्धा और प्रशासक थे। पर क्या बड़े योद्धा और बड़े प्रशासक होने का यह अर्थ है कि वे बड़े आदमी भी थे ? श्री एच० जी० वेल्स को, जिन्होंने “दी आउटलाइन आफ हिस्ट्री” पुस्तक लिखी है, हाल में ही इस प्रश्न पर विचार करना पड़ा। क्योंकि यह इतिहास जीवन और मानव-जाति का इतिहास है, इसलिए इसमें आए हुए सब पात्रों पर एक भिन्न दृष्टि से विचार करना था और एक भिन्न मानदंड से, अर्थात् इस मानदंड से कि क्या उन्होंने ससार को अधिक सुखी और अधिक अच्छा बनाया, उनका मूल्यांकन करना था। इसलिए सिकंदर, सीजर और नैपोलियन के विषय में श्री वेल्स ने बड़ा उचित प्रश्न किया है : “इन तीन व्यक्तियों की, जिन्होंने हमारे इतिहास के इतने अधिक पृष्ठ घेर रखे हैं, मानव-जाति को क्या स्थायी देन दी ?”^१ सिकंदर ने क्या सृजन किया ? क्या उसने पूर्व को यूनानी रंग में रंगा। कुछ समय एड्रियाटिक से सिंधु-नदी तक का सारा प्रदेश उसके शासन में था।

क्या उसने इस अखड़ता को स्थायी करने के लिए कोई उपाय सोचा ? हमें कोई ऐसी निश्चित चीज मालूम नहीं । 'ज्यो-ज्यों उसकी शक्ति बढ़ी,' श्री वेल्स लिखते हैं, 'त्यो-त्यो उसकी मदान्धता और प्रचण्डता भी बढ़ती गयी । वह खूब शराब पीता था और निर्दयता-पूर्वक हत्या करता था । बेबिलोन में एक तम्बी पानगोष्ठी के बाद उसे एकाएक बुखार आ गया, और तैंतीस वर्ष की आयु में वह मर गया । लगभग तुरन्त ही उसका साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े होने लगा । उसकी यादगार के रूप में सिर्फ एक प्रथा रह गयी । पहले अधिकतर लोग दाढी रखते थे । पर सिकन्दर ने इतना अधिक ग्रहण किया था कि उसे अपने चेहरे का ढका जाना वर्दाश्त नहीं था । उसने हजामत करायी और इस तरह ग्रीस और इटली में एक नया फैशन चला दिया जो कई शताब्दी तक जिन्दा रहा । फैशन तो शायद यह अच्छा था, पर यह जाति के लिए उसकी कोई महत्त्वपूर्ण देन नहीं थी ।'

जो बात सिकन्दर के बारे में है वही सीज़र के बारे में है । इतिहासज्ञ कहते हैं कि उसमें कुछ अन्तर्दृष्टि विद्यमान थी, और वे उसकी चमत्कारिक विश्वनीतियों का भी उल्लेख करते हैं । पर वास्तव में वह कैसा था ? निरा लम्पट और उच्छ्र खल आदमी । जिस समय वह अपनी शक्ति के उच्चतम शिखर पर था और ससार का बहुत भला कर सकता था वशतः कि उसमें सचमुच वह उदात्त दृष्टि होती जो उसमें बतायी जाती है, उस समय हम उसे मिस्र में लगभग एक वर्ष तक साइरन क्लियोपैट्रा के साथ मौज करता और मजे उड़ाता पाते हैं, यद्यपि तब यह चव्वन वर्ष का था । इससे वह एक हलके दर्जे का बूढ़ा विषयासक्त मनुष्य दिखायी देता है, मनुष्यों का श्रेष्ठ शासक नहीं । नैपोलियन के विषय में श्री वेल्स ने यह लिखा

है, “पुरानी व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी या हो रही थी, अपरिचित नये बल, रूप और दिशा की खोज में ससार में घूम रहे थे । लाखों-करोड़ों विस्मित मानसों में एक विश्व गणराज्य और चिरस्थायी विश्व-शान्ति की आशा अकुरित हो रही थी । यदि इस मनुष्य में जरा भी दृष्टि की गम्भीरता, और सृजनात्मक कल्पना की शक्ति होती, यदि उसमें जरा भी निःस्वार्थ आकांक्षा होती, तो वह मानव-जाति के लिए ऐसा काम कर गया होता जो उसे इतिहास का सूर्य बना देता..... । इस अवसर में और कोई कमी नहीं थी—सिर्फ एक भद्र कल्पना की कमी थी । और ऐसी कल्पना के अभाव में नैपोलियन, अवसर के इस महान् पर्वत के शिखर पर उस तरह गर्दन अकड़ाकर चलने के सिवा और क्या कर सकता था जिस तरह मुर्गी का बच्चा घूरे के ढेर पर चलता है ।”^१ नैपोलियन ने अपने देश को चाहे जितना लाभ पहुँचाया हो पर जहाँ तक मानव-जाति के प्रति उसके आभारों का सम्बन्ध है, वे प्रायः शून्य हैं । और श्री वेल्स ने उसका जो मूल्यांकन किया है उसे गलत नहीं समझा जा सकता ।

अशोक के बारे में हम जानते हैं कि उसे कैसी कल्पना-दृष्टि प्राप्त हुई थी और वह कितनी गहरी थी । यह न केवल मानव-जाति में, बल्कि प्राणिमात्र में बन्धुता की दृष्टि थी । यही बात दूसरे शब्दों में कहे तो, वह सारे ससार के भौतिक सुख और नैतिक उत्थान की वृद्धि करने के स्वप्न से अभिभूत हो गया था । और उसने अपने साधनों को, एक बिलकुल नयी और अनुपम रीति से, अपने साध्यों के अनुकूल बनाकर अपनी सृजनात्मक कल्पना प्रदर्शित की । मौर्य साम्राज्य उस समय अपने यश के उच्च शिखर पर था जिस समय

अशोक ने अपनी दुर्लभ कल्पना से, इस अवसर का लाभ उठाया, और अपनी सारी शक्तियाँ तथा राज्य के सारे साधन अपने भद्र लक्ष्य की सिद्धि के लिए अर्पित कर दिये। इसलिए श्री वेल्स का, इस बौद्ध सम्राट् के लिए यह कहना उचित ही है कि “जिन लाखों राजाओं के नामों से इतिहास के पन्ने काले हो रहे हैं, उन राज-राजेश्वरों और महाराजाधिराजों के बीच में अशोक का नाम एक अकेले नक्षत्र के समान चमकता है। वोल्गा से जापान तक आज भी उसके नाम का सम्मान किया जाता है। चीन, तिब्बत और भारत भी, यद्यपि उसने उसके सिद्धान्त त्याग दिये हैं, उसकी महानता की परम्परा को बनाये हुए हैं। जितने लोगो ने कौस्टेडाइन या शार्ल-मेन का कभी नाम सुना है उनसे भी अधिक लोग आज आदरपूर्वक उसका स्मरण करते हैं।”^१ पर अगर किसी राजा से अशोक की तुलना करनी ही हो तो उसकी एक से नहीं, एक साथ तीन राजाओं से तुलना करनी चाहिए। और रेवरेड डा० कोपलस्टन^२ के स्वर में स्वर मिलाकर हमें यह कहना चाहिए कि “वह बौद्ध धर्म का कौस्टेडाइन ही न था, ग्रीस के स्थान पर बौद्ध धर्म से आविष्ट सिकन्दर था, वह ऐसा नि स्वार्थ नैपोलियन था जो यश के स्थान पर कल्याण (Mettam) से प्रेरित था।”

बौद्ध धर्म के इतिहास में अशोक का स्थान भगवान बुद्ध के बाद सर्वोपरि है।^३ इसलिए एकमात्र सेटपाल ऐसा ऐतिहासिक व्यक्ति है जिसकी अशोक से उचित रूप से तुलना की जा सकती है, जैसा कि डा० जे० एम० मैकफेल ने ठीक ही लिखा है।^४ यह

१. वही, पृ० २१२।

२. बुद्धिज्म, प्रिमिटिव एंड प्रजेट, पृ १६६।

३. ERE, II, १२७।

४. अशोक. पृ० ८५।

सत्य है कि ईसा का उपदेश सारी मानव-जाति के लिए था, पर उसके सबसे पहले अनुयायियों ने इसके सार्वभौम स्वरूप को पूरी तरह नहीं पहचाना और इस पर बल नहीं दिया, और इस तरह ईसाइयत यहूदी धर्म के ही एक सम्प्रदाय—चाहे वह अधिक प्रबुद्ध और उदार था—का रूप ग्रहण करती जा रही थी। पाल ही ने जाति और (मूसा रचित) नियमों के उन बन्धनों को तोड़ फेंका जो इसकी प्रगति को रोक रहे थे। निःसन्देह उसके कुछ साथी प्रचारक ईसाई चर्च का द्वार विस्तृत करके गैर-यहूदियों को उसमें लेने के पक्ष में थे। पर पाल ने कहा : “नहीं, यहाँ कोई द्वार नहीं रहना चाहिए, और न यहाँ कोई द्वार है, क्योंकि यहाँ कोई दीवार नहीं है। प्रत्येक विभाजक को तोड़ दिया गया है, प्रत्येक रोक और विभेद, तथा परमात्मा की दृष्टि में मनुष्यों का भेदभाव खत्म कर दिया गया है। परमात्मा का प्रेम ऐसा सर्वस्पर्शी है जैसा आकाश। ईसा के यहाँ न कोई यहूदी है न ग्रीक, न दास है न मुक्त, न पुमान् है न स्त्री।” इसी प्रकार, अशोक के समय में बौद्ध धर्म एक स्थानीय प्रान्तीय सम्प्रदाय मात्र रह गया था। उसने उन्हें सहिष्णुता और एक-दूसरे के सिद्धान्तों का आदर सिखाकर, एक सम्प्रदाय को दूसरे से पृथक् करने वाली बाधाओं को नष्ट कर दिया और धर्म के उस सार की वृद्धि की जिसको वे सब मानते थे। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस मामले में सम्राट् अशोक बौद्ध पिटकों की सतह से ऊपर हो गया। यह वास्तव में, बुद्ध का सब ही गृहस्थियों के लिए उपदेश था, और बौद्ध धर्म के इस सार्वभौम स्वरूप को ही अशोक ने स्पष्ट रूप से पहचाना और प्रचारित किया। पाल की ही तरह, अशोक आचार-बल को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझता था, और उसने इसे इसके उपयुक्त आसन, विश्व-धर्म के आसन,

पर प्रतिष्ठित कराने में कोई कोर-कसर न उठा रखी। इस प्रकार अशोक बौद्ध धर्म का निरा सरक्षक न था, सब्बा भवत था। पर एक विशाल साम्राज्य का अधिपति और परिणामतः अनन्त साधनों का स्वामी होने के कारण वह कहीं अधिक द्रुत और अधिक ठोस सफलता प्राप्त कर सका।

अशोक के कार्य के मूल्यांकन को बिना यह पता लगाये और बिना यह निश्चय किये हम समाप्त नहीं कर सकते कि इसका भारत पर क्या प्रभाव हुआ, अर्थात् इस देश को इससे क्या लाभ या हानि हुई। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि परोक्ष रूप से भारत को इससे बहुत लाभ हुआ है। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार अशोक के प्रचार-कार्य से दो बहुत बड़े लाभ हुए। उसके समय में सारा देश आर्य बन चुका था। पर विभिन्न प्रान्तों की अलग-अलग बोलियाँ थी। पर उसने अपने धर्म के प्रचार के लिए जो महान् प्रयत्न किये, उनके कारण एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में सम्प्रेषण अधिक प्रायिक और द्रुत हो गया, और यह बात सर्वत्र अनुभव की जाने लगी कि एक सामान्य भाषा हो, जो सब प्रान्तों में पढ़ी और समझी जाए, और न केवल धर्मोत्तर मामलों में, बल्कि धर्म-सम्बन्धी मामलों में भी, विचार-विनिमय का माध्यम बने। इसके परिणामस्वरूप, पालि या स्मारकीय प्राकृत भारत की राष्ट्र-भाषा बन गई।^१ पहले पालि कोई स्थानीय बोली होगी, कृत्रिम बड़ी हुई भाषा नहीं, जैसा कुछ लोग मानते हैं। सम्भाव्यत यह उस प्राकृत की जननी थी जो पीछे से महाराष्ट्री कहलायी और जब यह सारे भारत की सार्वत्रिक भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो गयी, तब, न केवल धर्मोत्तर और धार्मिक लेख्य बल्कि धार्मिक पवित्र ग्रंथ

भी पालि में ही लिखे जाने लगे। शुरू में बौद्ध धर्मग्रंथ मगधी बोली में सरक्षित रहे होंगे, पर जब यह नयी एस्पेरंतो बन गयी, तब वे सब पालि में अनुवादित कर दिये गये ताकि वे भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक समझे जा सकें। राजकीय लेख्य, और धार्मिक दानों के अभिलेख भी इसी भाषा में लिखे जाने लगे। अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रसार के लिये जो प्रायः अतिमानवीय कार्य किया उसका यह परोक्ष परिणाम हुआ जो भारत के लिए बड़ा भारी वरदान था। उसके कार्य का दूसरा परिणाम यह हुआ कि उससे भारतीय कला को अपरिमित उद्दीपन मिला। इस समय तक वास्तुकला काष्ठगत थी और उसने ही इसे पाषाणीय बनाया। सगतराश की कला और उद्योग अति दीर्घकाल से चले आ रहे थे, और जब अपनी धम्मलिपियों को स्थायी रूप देने का विचार उसके मस्तिष्क में आया तब उसने अपनी लक्ष्यपूर्ति में इस कला का उपयोग करने का तुरन्त निश्चय कर लिया। इसका परिणाम हुआ कि विशालकाय एक पाषाणीय स्तम्भ बने, बड़ी-बड़ी चट्टानें उत्कीर्ण की गयीं, और इन सबसे बढकर यह बात हुई कि शिलाओं को काटकर मन्दिर बनाये गये, जो क्रमशः अधिकाधिक विशाल होते गये और उनके रूप भी अधिकाधिक कलापूर्ण होते गये, और आज भारत में उनके इतने सारे सुन्दर और भव्य नमूने भरे पड़े हैं कि उन्हें ससार का एक आश्चर्य मानकर उचित ही किया गया है।

हम देख चुके हैं कि मानवता को अशोक ने विश्व-बन्धुत्व का—न केवल मानव-बन्धुत्व का बल्कि प्राणिबन्धुत्व का—लक्ष्य प्रदान किया। हम यह भी देख चुके हैं कि उसके धर्म-प्रचार कार्य से देश को किस तरह दो महान् लाभ हुए। और अब यह प्रश्न करना

संगत होगा कि क्या अशोक के क्रियाकलाप का भारत पर कोई सीधा प्रभाव पड़ा और उसने भारत की प्रकृति को किसी नये साँचे में ढाला। यदि हम इस काल के भारत का आलोचनात्मक पर्यवेक्षण करें तो हम देखते हैं कि हिन्दू सभ्यता भौतिक प्रगति के प्रेरक और आत्मिक संस्कृति के उन्नायक बतों के बीच पूर्णतः सतुलित अवस्था में आ चुकी थी। पर अशोक के ग्रन्थक उत्साह से और अपने स्वप्न को मूर्त रूप देने के लिए उसके द्वारा किए हुए सतत प्रयत्नों से यह सतुलन बिगड़ गया, और परिणाम यह हुआ कि हिन्दू सभ्यता का भौतिक तत्त्व आत्मिक तत्त्व से इतनी पूरी तरह दब गया कि यह लुप्त न होने पर भी, अप्रगामी और क्षयोन्मुख हो गयी।

सम्भव है कि उपर्युक्त विचार कुछ विचित्र मालूम हो, और कुछ अतिरजित प्रतीत हो। कारण कि अशोक के समय तक विकसित साहित्य से क्या प्रकट होता है? उन वैदिक ग्रंथों और बौद्ध धर्म-ग्रंथों के अध्ययन से, जो इस सम्राट् के समय में मौजूद थे, हम किस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं? इन ग्रंथों विशेषकर वैदिक काल के ग्रंथों का सावधान और निष्पक्ष अध्ययन करने के पश्चात् स्व० प्रो० मैक्समूलर और प्रो० ब्लूमफील्ड जैसे विद्वानों का क्या विचार है? आइये पहले यह देखें कि प्रो० मैक्समूलर क्या कहते हैं? आप लिखते हैं :^१ “भारतीय लोग राष्ट्रीयता की भावना से सर्वथा कोरे थे और राष्ट्रीय प्रशंसाघोष की आशा में उनके हृदय में कभी गुंदगुदी नहीं पैदा होती थी ... । भारतीय मानस को जिस एक क्षेत्र में कार्य, सृजन और पूजन करने की स्वतन्त्रता अनुभव होती थी वह धर्म और दर्शन का क्षेत्र था, और किसी भी

राष्ट्र के मानस में धार्मिक और दार्शनिक विचारों की जड़े इतनी गहरी नहीं गयी जितनी भारत के। हिन्दू लोग दार्शनिकों का एक राष्ट्र थे । कुल मिलाकर, इतिहास में कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जिसमें आत्मा के अन्तर्मुख जीवन ने एक सारी की सारी जाति की संपूर्ण कर्म-शक्ति को इतनी पूरी तरह चूस लिया हो, और वस्तुतः, उन गुणों को प्रायः नष्ट कर दिया हो जिनसे कोई राष्ट्र इतिहास में अपना स्थान बनाता है।” प्रो० ब्लूमफील्ड का विचार भी प्रायः यही है। “भारत के इतिहास के आरम्भ ही से”,^१ आप कहते हैं, “जैसे यहाँ धार्मिक संस्थाएँ लोगों के चरित्र और विकास की नियामक रही हैं वैसे अन्यत्र कहीं नहीं रही। यद्यपि आचरण इस यन्त्रवत् और कठोर व्यवस्था से बहुत नीचे रहा पर तो भी इस मतव्य को स्वीकार किया जाता है कि जीवन एक सारत एकाकी धार्मिक यात्रा है, जिसका लक्ष्य वैयक्तिक मुक्ति है। इस तरह की विचार-योजनाओं में राज्य के हित और जाति की उन्नति की कोई गुंजाइश नहीं। भारत ने इन बातों की उपेक्षा जान-बूझकर नहीं की, पर उसका परिणाम तो हुआ ही, और वह यह कि उन दृष्टियों से भारत के राष्ट्रीय चरित्र में एक शून्य बना हुआ है।” भारतीय मानस के घटन के बारे में इन दो विद्वानों का यह विचार है। उनकी यह मान्यता है कि भारत की प्रतिभा धार्मिक और दार्शनिक संस्कृति के विकास में ही निहित थी और उसमें न तो राष्ट्रीयता की भावना विकसित हुई थी और न राज्य की धारणा ही बनी थी। दूसरे शब्दों में, राजनीति विज्ञान को भारत की देन शून्य थी और इसलिए ससार के राजनैतिक इतिहास में उसे कोई स्थान नहीं मिल सकता। निःसंदेह, भारतीय मानस

के इस मूल्यांकन में कुछ सत्य है, पर यह विचार सिर्फ अगतः सत्य है। प्रो० मैक्समूलर और प्रो० ब्लूमफील्ड उस समय निःसंदेह सच्चे थे जब उनके विचार पहली बार प्रकाशित हुए। पर उनके प्रकाशित होने के बाद कांटिल्य अर्थशास्त्र प्राप्त हुआ है और आज वह विद्वानों के सम्मुख है। अब यह कहना सही नहीं कि भारतीयों ने कभी भी राजनीति को धार्मिक और दार्शनिक वातावरण से अलग नहीं किया और राजनीति विज्ञान को ज्ञान की स्वतन्त्र शाखा के रूप में नहीं स्थापित किया। कारण कि अर्थशास्त्र में हमें पता चलता है कि उसके समय तक राजनीति-विज्ञान के कम-से-कम चार सम्प्रदाय प्रसिद्ध थे, और कम-से-कम सात अत्यन्त प्रमुख लेखक हो चुके थे, जिनका किसी राजनीति-सम्प्रदाय से सम्बन्ध नहीं था। फिर, उसके समय में कौन-कौनसी विद्याएं प्रचलित थीं? वे थी आन्वीक्षिकी अर्थात् दर्शन, त्रयी अर्थात् धर्म, वार्ता अर्थात् अर्थ-विज्ञान, और दडनीति अर्थात् राजनीति विज्ञान। क्या इससे यह स्पष्ट नहीं कि राजनीति विज्ञान दर्शन और धर्म से पृथक् था और ज्ञान की एक स्वतन्त्र शाखा था? इतना ही नहीं, एक सम्प्रदाय नामशः बार्हस्पत्य यहाँ तक कहता था कि त्रयी या धर्म एक धार्मिक प्रतारणामात्र है, और एक दूसरा सम्प्रदाय सब विज्ञानों का अन्तर्भाव राजनीति-विज्ञान में करता था, और यह प्रतिपादन करता था, कि विज्ञान के नाम को सार्थक करने वाला तो केवल राजनीति-विज्ञान है। क्या इससे स्पष्ट रूप से यह प्रकट नहीं होता कि मौर्य सत्ता के उदय से पहले भारतीयों ने राजनीति विज्ञान को वैसे ही उत्साह और तत्परता से उन्नत किया था जैसे धर्म और दर्शन को, और यदि बाद में एक समय धर्म और दर्शन ने राजनीति-विज्ञान का स्थान भी घेर लिया, तो एक ऐसा भी समय था जब न केवल धर्म का उपहास किया जाता

था, बल्कि राजनीति-विज्ञान को ही एकमात्र विज्ञान कहलाने योग्य समझा जाता था। इस बात पर विचार करने का स्थान यह नहीं है कि कौटिल्य से पूर्ववर्ती काल के हिन्दुओं ने राजनीति-विज्ञान को क्या देन दी, पर जिन्होंने कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अध्ययन किया है, उन्हें यह बताने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय लोग राज्य की एक सुनिश्चित धारणा विकसित कर चुके थे, और अन्तर्राष्ट्रीय विधि (इंटरनेशनल लॉ) के विषय में भी उनका विचार काफी उन्नत हो चुका था। राजनीति-विज्ञान के साथ-साथ हिन्दुओं ने ज्ञान की, वार्ता (अर्थविज्ञान) नामक एक और शाखा का विकास किया था जिसके अन्तर्गत कृषि, पशु-पालन, और व्यापार थे, और जिसका राजनीति-विज्ञान में अच्छी तरह उपयोग किया जाता था।

यद्यपि हिन्दुओं ने राजनीति-विज्ञान नामक एक विशेष विज्ञान का विकास कर लिया था, और बहुत सारे तथा अनेक प्रकार के सिद्धान्त बना लिये थे जिनमें कौटिल्य ने वृद्धि भी की, तो भी प्रतीत होता है कि कौटिल्य के बाद यह विकास सर्वथा अवरुद्ध हो गया। यह बात इस तथ्य से भी स्पष्ट है कि कौटिल्य के बाद का कोई ऐसा राजनीति-विज्ञान का ग्रन्थ नहीं मिलता जिसमें कोई नया विचार हो या इस विषय पर किसी प्रकार की प्रगति हो। तथ्य तो यह है कि प्रतीयमानतः, कौटिल्य के अर्थशास्त्र ने, जो वैसे एक सग्रह मात्र है, उस समय तक प्रचलित राजनीति-विषयक सब ग्रन्थों को मात दे दी थी, और यह इस विषय का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाने लगा था। कामसूत्र के लेखक वात्स्यायन और याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रणेता ने न केवल उसके विचार ही अपनाये हैं, बल्कि उसकी पदावलि भी ज्यों-की-त्यों उठाकर रख ली है। और वाण तथा दंडी ने अपने ग्रन्थों में कौटिल्य का जिस तरह उल्लेख किया है, उससे

इसमें कोई संशय नहीं रहता कि उनके समय के राजाओं में उसके ग्रंथ का बड़ा मान था।^१ पर यह ग्रंथ भी बहुत अधिक विस्तृत मालूम हुआ, और हम जानते हैं कि कामदक ने इसे सरल और सक्षिप्त करने का बीड़ा उठाया। यदि कौटिल्य का अर्थशास्त्र उस समय पढ़ा जाने वाला राजनीति-विषयक एकमात्र ग्रंथ न होता तो निश्चित ही उसने यह काम न उठाया होता। उसके बाद इस विषय का कोई ऐसा ग्रंथ नहीं लिखा गया जिससे हिन्दू राजनैतिक विज्ञान के बारे में हमारी ज्ञान-वृद्धि हो। स्पष्ट है कि कौटिल्य के बाद इस विज्ञान ने कोई प्रगति नहीं की दीखती, और ठीक ऐसे समय जब इसके बहुत उन्नत होने और हमारे राजनैतिक सिद्धान्त और आचरण में बहुत प्रगति होने की आशा थी, यह प्रायः मृत हो गया। हम सब जानते हैं कि विविसार के समय में विहार में जो छोटा-सा मगध का राज्य था, वह चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में किस तरह एक शक्तिशाली मगध साम्राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया था जो हिन्दुकुश से लेकर तामिल देश के सीमान्त तक फैला हुआ था। कुछ समय तक स्वयं अशोक ने कलिंग प्रान्त को विजय करके और अपने राज्य में मिलाकर इस केन्द्राभिसारी बल को बढ़ाया था, जो विविसार के साथ पैदा हुआ था।^२ और यदि उसके मन में धर्म की अभिलाषा न समा गयी होती और उसे इस प्रकार पूर्णतः

१. देखिए श्री आर. शामशास्त्री द्वारा अनुवादित 'कौटिल्याज्ज अर्थशास्त्र' की भूमिका, के. वी. रंगास्वामी आयरगर द्वारा लिखित कन्सिडरेशन्स आफ सम एस्पेक्ट्स आफ एशेट इण्डियन पोतिटी पृ० १६ और आगे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र को परवर्ती काल की रचना सिद्ध करने के लिए अभी तक कोई प्रबल प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया।

२. डा० एच० सी० रायचौधुरी द्वारा लिखित पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एशेट इंडिया, पृष्ठ १६४, पृ० १८२—३।

रूपान्तरित न कर गयी होती तो मगध की अदम्य सैनिक भावना और चमत्कारपूर्ण राज्य-कला तामिल राज्यों और तामिल भारत के दक्षिणी छोर पर अवस्थित ताम्रपर्णी पर आक्रमण करके उसे अपने अधीन करके ही तृप्त होती, और सभाव्यतः, भारतवर्ष की सीमाओं से बाहर गये बिना तथा रोम के साम्राज्य जैसा साम्राज्य स्थापित किये बिना सतुष्ट न हुई होती। भारत का आर्यकरण अशोक से बहुत पहले पूरा हो चुका था। इस देश की विभिन्न जातियों के लिए यह आर्यकरण वैसा ही था जैसा ग्रीकेतर जातियों के लिए हैलैनिज्म। आर्यों की भाषा और जीवन की रीति प्रायः सारे भारत में अपनायी जा चुकी थी, और राष्ट्रभाषा, यानी पालि भाषा, भी स्वीकार की जा चुकी थी। इस तरह वे सब साधन यहाँ तैयार थे जो भारत की विभिन्न जातियों को मिलाकर एक राष्ट्रीयता, या यो कहिये कि साम्राज्याधीनता, में लाने के लिए आवश्यक थे। इस परिणति पर पहुँचने के लिए जो एकमात्र चीज आवश्यक थी वह थी राजनैतिक स्थिरता, अर्थात् साम्राज्य राजनैतिक सघ। और यदि अशोक ने अपने बाप-दादा की नीति को जारी रखा होता और विविस्मर द्वारा नवोत्पादित केन्द्राभिसारी बलों को बढ़ाया होता तो उसकी प्रबल शक्ति और प्रशासनीय प्रतिभा से मगध साम्राज्य दृढ़ हो गया होता और यह राजनैतिक स्थिरता सुनिश्चित हो गयी होती। पर हुआ यह कि उसने, कलिंग युद्ध के शीघ्र बाद, अर्थात् उस घटना के बाद जिससे उसके समान अवसर और साधनों वाले अन्य राजाओं को विश्व प्रभुत्व स्थापित करने की प्रेरणा मिली होती, उसने एक नयी ही परराष्ट्र नीति निर्धारित की। इसके बाद अशोक युद्ध के विचारमात्र से घृणा करने लगा। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार, कलिंग युद्ध की भीषणता का वर्णन करते हुए, वह कहता है

कि अगर उस मुसीबत का सौवाँ, नही-नही हजारवाँ, भाग भी, मनुष्यों को पुन भुगतना पड़े तो उससे मुझे अत्यधिक दुःख होगा। और एक अन्य स्थान पर, जैसे बड़ी राहत और मुशी की भावना के साथ वह हमें बताता है कि अब मेरे लिए नगाड़े का शब्द धम्म का शब्द बन गया है, युद्ध का नहीं। पर कलिंग युद्ध की घटना का उल्लेख उसने एक विशेष प्रयोजन से किया है। वहाँ वह सरल भाव से स्वीकार करता है कि मैंने प्रदेश-विजय का विचार सर्वथा त्याग दिया है और धम्म-विजय का रास्ता पकड़ लिया है। वह कहता है कि धम्म-विजय सब सीमावर्ती प्रदेशों में भी हासिल की जा सकती है, और वहाँ प्राप्त की भी गयी है। पर वह इस नयी नीति के प्रतिपादन मात्र से सतुष्ट नहीं है, बल्कि अपने पुत्रों, पौत्रों, तथा अपने सब वंशजों को प्रदेश-विजय की लालसा त्याग देने की प्रेरणा करता है और उनसे आग्रह करता है कि वे उसके शुरू किये हुए धम्म-विजय के कार्य को जारी रखकर और पूरा करके उसके पदचिह्नों पर चले। विजय के स्थान पर धम्म-विजय की नीति अपनाने का परिणाम ग्राध्यात्मिक दृष्टि से शानदार होते हुए भी राजनैतिक दृष्टि से विनाशकारी सिद्ध हुआ। नि सदेह, शान्ति का प्रेम और आत्मिक उन्नति की अकाक्षा इस प्रकार पैदा हुई और अब वे भारतीय चरित्र में अनुस्यूत हो गयी। हिन्दू मानस, जो पहले ही ग्राध्यात्मिक था, अब अत्यन्त ग्राध्यात्मिक हो गया। उससे क्षात्र धर्म, राजनैतिक महानता और भौतिक सुख-लाभ के प्रति कुछ उपेक्षा अवश्य पैदा हुई होगी। यही कारण रहा होगा जिससे कौटिल्य के बाद राजनैतिक सिद्धान्त और आचरण की प्रगति हमें सहसा अवरुद्ध और कुण्ठित दिखायी देती है, विशेषकर ऐसे समय जब मगध राज्य से यह आशा थी कि वह राष्ट्रीयता की भावना पैदा करेगा और

भारत को एक उच्चतर राजनैतिक तल पर खड़ा करेगा । परन्तु अशोक का नया दृष्टिकोण एक केन्द्रशासित राष्ट्रीय राज्य और चक्रवर्ती साम्राज्य की भारतीय आकाक्षा के लिए मारक सिद्ध हुआ । उसकी नीति के परिणाम उसकी मृत्यु के बाद शीघ्र ही दिखायी देने लगे । उत्तर-पश्चिमी क्षितिज पर काले बादल मँडराने लगे और उसकी मृत्यु के बाद मुश्किल से चौथाई सदी गुजरी होगी कि वैक्ट्रियन ग्रीको ने हिंदूकुश को, जो मौर्य साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा बनाता था, पार कर लिया, और जो कभी एक शक्तिशाली साम्राज्य था, उसे क्षीण करना शुरू कर दिया । हम जानते हैं कि सिकन्दर के सेनापति होते हुए भी ग्रीक लोग मगध सेना से कितना घबराते थे । विशाल एकिमीनियन साम्राज्य को ध्वस्त और विनष्ट करने के लिए उन्हें सिर्फ तीन लड़ाइयाँ लड़नी पड़ी, पर जब वे भारत में घुसे तब उन्हें चप्पा-चप्पा जमीन के लिए लड़ना पड़ा और उनके नेता सिकन्दर को भी एक बार प्रायः प्राणान्तक आघात लगा था । निःसंदेह, ग्रीक सैनिक बलवान और वीर योद्धा थे और यद्यपि उन्हें कठिनाई हुई पर तो भी वे बहुत से भारतीय कबीलो को और पजाव के राजा पोरस तक को जीतने में सफल हो गये थे । परन्तु, जैसा कि प्लूटार्क हमें बताता है, पोरस के साथ हुए युद्ध में मैसिडोनियनो का हौसला इतना टूट गया और भारत में और आगे बढ़ने से उनका दिल इतना हट गया कि जब सिकन्दर ने उनसे यह आग्रह किया कि वे गंगा के पार चले और मगध सेना से मोर्चा ले तो, उन्होंने उसका बड़ी दृढ़ता से विरोध किया ।^१ सिकन्दर बड़ा कुपित और क्रुद्ध हुआ, पर उसे पीछे हटना पड़ा । मैसिडोनियनो के मन में मगध

१. एशेट इण्डिया इट्स इनवेजन बाई एलेग्जेडर दि ग्रेट—लेखक मैकक्रिडल, पृ० ३१० ।

सेना का ऐसा भय बैठ गया था। पर मातूम होता है कि बम्भ-विजय की जो नयी परराष्ट्र नीति अशोक ने शुरू की थी, उसके कारण सब वस्तुएँ सहसा परिवर्तित हो गयीं और वही ग्रीक, जो सिकन्दर के सेनापतित्व में भी मगध सेना के नाम से थरते थे, अब उत्तरी भारत का हृदय चीरते हुए और मगध साम्राज्य को खड-खड और छिन्न-भिन्न करते हुए आसानी से आगे बढ़ आये।

इससे भी बुरी बात यह हुई कि अशोक की मृत्यु के शीघ्र बाद हुए ग्रीक आक्रमणों ने, जिनके लिए उसकी परिवर्तित परराष्ट्र नीति ही जिम्मेदार प्रतीत होती है, गक, पल्हव, कुशान, हूण, गुर्जर इत्यादि अनेक असभ्य जातियों के लिए भारत में द्वार खोल दिया, जो छठी शताब्दी ई० प० तक निरन्तर इस देश में आती, और चुगों और गुप्तों जैसे एक-दो को छोड़कर और सब देशी राजाओं की सम्राटता को नष्ट करती दिखायी देती है। यह सत्य है कि ये सब विदेशी जातियाँ भारत में बसने के शीघ्र बाद हिंदू हो गयीं पर इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि मुसलमानों के आगमन तक देश की राजनैतिक सत्ता पर इन विदेशियों का प्रायः एकाधिकार रहा। इस प्रकार राजनैतिक मौलिकता और नवविकास की पुरानी हिंदू प्रतिभा सुपुष्ट पड़ी रही और अपनी मौत मर गयी, और जो विश्व-आधिपत्य किसी समय भारत की आकांक्षा-सा प्रतीत होता था, वह एक असंभव स्वप्नमात्र रह गया।

यद्यपि अशोक के धर्म-प्रचार कार्यों के कारण भारत राष्ट्रीयता और राजनैतिक महानता से दूर हो गया प्रतीत होता है, पर उसने विश्व-भ्रातृत्व और मानव-बधुत्व की ओर जो हिन्दू समाज के मूल-भूत सिद्धान्त हैं, निःसंदेह प्रगति की है। यह सच है कि इसके परिणामस्वरूप राजनीति-विज्ञान की प्रगति सहसा अवरुद्ध हो गयी

और धर्म तथा दर्शन हिंदू मानस में अधिकाधिक जगह घेरने लगे । पर यह न समझना चाहिए कि हिंदू मानस सासारिक जीवन के सुखों के प्रति वैरागी या उदासीन हो गया, अथवा भारत का औद्योगिक या व्यापारिक महत्त्व नष्ट हो गया । कुल मिलाकर यह भारत की हानि है या लाभ, इस प्रश्न का निर्णय अलग-अलग लोग अपने अलग-अलग स्वभाव के अनुसार करेंगे । पर इतनी बात निश्चित है कि ससार को इस भारतीय सम्राट् के धर्म-प्रचार कार्य से बहुत लाभ हुआ है और कि जहाँ एक ओर, पूर्व की तरफ बौद्ध धर्म ने न केवल धर्म और दर्शन, बल्कि हिन्दू सभ्यता की और महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ भी स्थापित की, वहाँ दूसरी ओर इसका न केवल थेराप्यूटी और ऐसनस नामक यहूदी संप्रदायों पर बल्कि प्राचीन और मध्यकालीन ईसाइयत पर भी बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है ।

अध्याय ८ अशोक के लेख

उनके प्राप्ति-स्थान, आदि
शिलालेख

(अ) चौदह शिला प्रज्ञापन

अशोक के लेख शिलाओं या प्रस्तर-स्तम्भों पर और गुफाओं में उत्कीर्ण हैं। सबसे पहले हम उन लेखों पर विचार करेंगे जो चौदह शिलालेख या प्रज्ञापन कहलाते हैं। ये सब मिलाकर चौदह विभिन्न लेखों का एक समूह हैं जो एक निश्चित क्रम में हैं, और एक-दो मामूली शब्द-भेद या बोली-सवधी विशेषताओं के साथ सात विभिन्न स्थानों में उत्कीर्ण पाये गये हैं। उत्तर-पश्चिम से शुरू करें तो इन लेखों का पहला समूह उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त में, पेशावर से लगभग ४० मील उत्तर-पूर्व में, पेशावर के यूमुफजई सूब-डिवीजन के शाहवाजगढ़ी नामक स्थान पर मिला है। पहले जनरल कोर्ट को इसका पता लगा था, जिसने इसे कपूरदागढ़ी के विलकुल निकट अवस्थित बताया था जिसके नाम पर इसे पहले कपूरदागढ़ी लेख कहते थे। पर कपूरदागढ़ी वहाँ से दो मील दूर है और यह शिला वास्तव में उससे बहुत अधिक बड़े गाँव शाहवाजगढ़ी की सीमा में है और इस गाँव से आधा मील से भी कम दूर है। इस अभिलेख का अधिकांश, जिसमें बारहवें को छोड़कर और सब लेख हैं, २४ फुट लम्बी, १० फुट ऊँची, और १० फुट मोटी चट्टान के पूर्वी और

पश्चिमी फलको पर उत्कीर्ण है—यह शिला पहाड़ी पर ८० फुट ऊँचाई पर है और इसका पश्चिमी फलक शाहवाजगढी गाँव की ओर को है। पर इस समूह का प्रज्ञापन १२, स्वर्गीय सर हेरल्ड डीन ने १८८६ में खोजा था, और वह मुख्य अभिलेख से ५० गज दूर एक पृथक् शिलाखंड पर उत्कीर्ण है। शाहवाजगढी नाम आधुनिक है पर वर्तमान गाँव एक बहुत पुराने, विस्तृत नगर के स्थान पर है, और कनिगहम के अनुसार प्राचीन नगर पो-लु-शा (युवान-च्वाग) या 'फो-शा-फू' (सुगयान)^१—जो एक प्रसिद्ध बौद्ध तीर्थ और वेस्सतर जातक का घटना-स्थल है—को निरूपित करता है। यह सभाव्यतः अशोक के राज्य के अन्तर्गत विद्यमान यवन प्रान्त की राजधानी था

अब अगला लेख समूह वह है जो उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त के हजारा ज़िले में, ऐवटावाद से १५ मील उत्तर में, मानसेहर (मनसेरा) नामक स्थान में है। यहाँ सिर्फ पहले बारह प्रज्ञापन दो शिलाओं पर खुदे हुए मिले हैं। तेरहवाँ और चौदहवाँ प्रज्ञापन सभाव्यतः वही कही आस-पास छिपे हुए हैं और मिलने बाकी हैं पास-पड़ोस में पुरानी आवादी के कोई चिह्न नहीं हैं पर जैसा कि सर ए० स्टीन ने बताया है, यह अभिलेख एक तीर्थ-स्थल को जाने वाली एक प्राचीन सड़क के किनारे एक चट्टान पर उत्कीर्ण कराया गया प्रतीत होता है—यह तीर्थ-स्थल आजकल ब्रेरी कहलाता है जो भट्टारिका—दैवी या दुर्गा^२ का वाचक कश्मीरी शब्द है। हम देख चुके हैं कि शाहवाजगढी प्रति का प्रज्ञापन १२ एक पृथक् शिला पर उत्कीर्ण है, जबकि मानसेहरा प्रति में वह लेख शिला के एक ओर उत्कीर्ण है। फिर, इन दोनों स्थानों पर अन्य प्रज्ञापनों की

१. C. ASR, V ८—२३, C. CII, I, ८—१२।

२ PR—ASNWFP, १६०४—५, पृ० १७।

अपेक्षा अक्षर बड़े और खुदाई अधिक परिशुद्ध है। इसमें कोई सदेह नहीं, जैसे कि पहले सेनार्ट^१ ने सकेत किया था, कि कम-से-कम, भारत के इस भाग में, प्रज्ञापन १२ को, जिसमें एक-दूसरे के धार्मिक सम्प्रदाय के प्रति सहिष्णुता प्रदर्शित करने को कहा गया है, विशेष महत्त्व दिया गया प्रतीत होता है। मालूम होता है कि जैसे अशोक की दृष्टि में उसके साम्राज्य के इस दूरवर्ती प्रदेश में, जो भारत में होने वाले अभियानों का मुख्य मार्ग होने के कारण, विभिन्न धार्मिक विचारों वाली अनेक जातियों का सगम-स्थल होगा, धार्मिक शांति के उपदेश की विशेष आवश्यकता थी।

चौदह शिला प्रज्ञापनों की तीसरी प्रति यमुना के पश्चिमी तट पर, यमुना और टोस के सगम पर और मसूरी (मसूरी) से लगभग १५ मील पश्चिम में बिल्लौर की एक विशाल गोल चट्टान पर उत्कीर्ण है। यह चट्टान जिला देहरादून (उत्तर प्रदेश) में कालसी से डेढ़ मील है—यह गाँव इससे निकटतम है और इसी के नाम पर इसे कालसी लेख कहते हैं। यह पत्थर १० फुट लम्बा, १० फुट ऊँचा और तली पर लगभग ८ फुट मोटा है। दक्षिण-पूर्वी पार्श्व को चिकना किया गया है, पर फिर भी कुछ असमतल रह गया है क्योंकि इस पर पहले वाले तल के उभार कायम^२ हैं। शुरू में श्री फोरेस्ट ने १८६० में इसका पता लगाया था। उस समय लेख के अक्षर अच्छी तरह दिखायी नहीं देते थे क्योंकि सारे तल पर सैकड़ों साल की काली काई जमी हुई थी। पहले-पहल देखने पर लेख ऐसा लगता है कि जैसे बहुत सारे स्थानों पर यह अधूरा हो, पर इसका कारण यह था कि खोदने वाले ने सब चटके हुए और

१. IA १८६०, पृ० ४३।

२. C. ASRI २४४, C. CIII, १२—१३।

अचिककण स्थानों को जान-बूझकर अनुत्कीर्ण रहने दिया है। तली की ओर को, दसवे प्रज्ञापन से आगे अक्षरों का आकार बढता जाता है और वह ऊपरी भाग के अक्षरों के आकार से लगभग तिगुना तक हो जाता है। या तो अक्षरों के इस प्रकार बड़ा कर दिये जाने के कारण, या शायद, लेख का पिछला अंश परवर्ती काल का होने के कारण, निर्मित तल सारे अभिलेख के लिए बहुत छोटा था, इसलिए इसे शिला के बाये हाथ वाले पार्श्व पर पूरा किया गया है। दाये हाथ वाले पार्श्व पर एक हाथी रेखाओं से अंकित किया गया है और उस पर गजतम (उत्तम हाथी) लिखा है, जो निःसंदेह बुद्ध को निर्दिष्ट करता है। शिला के आस-पास बहुत से मूर्तियों के पत्थर पड़े हुए हैं जिससे पता चलता है कि पहले इसके पड़ोस में मकान होंगे, और यह स्थान निश्चित रूप से प्राचीन और समृद्ध श्रुघ्न नगर के पास अवस्थित था। (५) *Pl. 1*


चौथी प्रति प्रसिद्ध गिरनार प्रति है जिसका पहले-पहल कर्नल टॉड ने १८२२ में वर्णन किया था। यह गिरनार पहाड़ को जाने वाले मार्ग पर जूनागढ़ (काठियावाड़) नगर से आधा मील पूर्व में, एक बड़ी चट्टान के उत्तर-पूर्वी पार्श्व पर उत्कीर्ण है। गिरनार गिरिनगर ही है जो बहुत समय तक सौराष्ट्र की राजधानी रहा। प्रभास-खंड में गिरिनगर को एक शैव तीर्थ कहा है। इस स्थान को जैन भी बहुत आदर की दृष्टि से देखते हैं। यह अभिलेख एक घने वन में गड़ा हुआ था और यदि एक स्थानीय प्रमुख व्यक्ति यात्रियों के लाभ के लिए जंगल में से एक ऊँचा मार्ग न बनवाता तो इसका कभी पता ही न चला होता।^२ लेख के दो भाग हैं जिनके बीच में

१. IA., V. २५७—८।

२. ASWI, II ६५, PR—ASWI, १८६८-९, पृ० १५।

ऊपर से नीचे तक एक रेखा खिंची हुई है। बायी ओर पहले पाँच प्रज्ञापन उत्कीर्ण हैं और दायी ओर ६-१२ तक, अगले सात प्रज्ञापन खुदे हैं। तीसरा प्रज्ञापन नीचे है और उसके दायी ओर १४वाँ प्रज्ञापन है। सारा पत्थर बड़ी अच्छी हालत में है—सिर्फ एक स्थान पर जहाँ पाँचवाँ और तेरहवाँ प्रज्ञापन हैं, पत्थर नष्ट हो गया है, और कहा जाता है कि उपर्युक्त उच्च मार्ग के लिए पत्थर आदि प्राप्त करने के वास्ते जो विस्फोटन कार्य किये गये थे, उनमें यह नष्ट हो गया। पास की मिट्टी को उलटने-पलटने पर कैप्टन पोस्टन्स को, १८७७ से पहले, शिला के कई टुकड़े मिले, जिनमें से दो टुकड़ों पर अशोक-कालीन अक्षर थे, जो नि सदेह प्रज्ञापन १३ से सम्बन्धित थे—ये बाद में JRAS, १९००, में पृष्ठ ३३५ पर और उससे आगे, वर्णित हैं और पढ़े गये हैं। आर-पार खिंची हुई क्षैतिज रेखाएँ प्रज्ञापनों को एक-दूसरे से पृथक् करती हैं। प्रज्ञापन १३ के नीचे जगह छोड़ कर लिखा है व स्वेतो हस्ती सबलोक-सुखाहरो नाम (श्वेत हाथी जिसका नाम सारे ससार को सुख देने वाला है), और सबसे पहले प्रो० कर्न ने पहचाना कि यह बुद्ध का ही निर्देश है। सम्भव है कि यहाँ पहले हाथी का वैसा ही कोई निरूपण होगा जैसा धौलि और कालसी के प्रज्ञापनों में मिलता है।

उसी शिला पर रुद्रदामन (ई० प० १५०) और स्कदगुप्त (ई० प० ४५७) के अभिलेख उत्कीर्ण हैं जो हमें बताते हैं कि इस के निकट चन्द्रगुप्त मौर्य के आदेश से एक सुदर्शन नामक भील बनायी गयी थी, जिसमें मौर्य वंश के स्थानीय-प्रतिनिधियों ने जलधाराएँ और जलमार्ग बनवाये थे और जिसकी दो बार मरम्मत करायी गयी थी—एक बार रुद्रदामन के शासन-काल में और फिर एक बार स्कदगुप्त के शासन-काल में।

प्रज्ञापन के कुछ शब्दों वाला एक खड प्राप्त होने से यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि इन लेखों की एक प्रति थाना जिले के सोपारा स्थान पर, जो बम्बई के उत्तर में है, कभी विद्यमान थी।^१ सोपारा, जो अब भी एक समृद्ध नगर है, एक महत्त्वपूर्ण वन्दरगाह और बाजार था और उसके नाम थे सूरपारक (महाभारत) सुप्पर (पेरिप्लस), या सौपर (टालेमी)। महाभारत में यह बताया दीखता है कि इसे परशुराम ने बसाया था और उसमें राम-तीर्थ^२ का उल्लेख है। यह बहुत पवित्र स्थान, और बहुत समय तक अपरान्त की राजधानी, था।  — स्थान सोपारा

दो प्रतियाँ^३ भारत के पूर्वी ओर, बंगाल की खाड़ी के तट के निकट कलिंग की सीमा के भीतर मिलती हैं जिसे अशोक ने 'अपने अभिषेक के आठ वर्ष बाद' विजय किया था। उत्तरी प्रति (जिसका श्री किट्टो ने १८३७ में पता लगाया था) अस्वस्त्य नामक शिला पर उत्कीर्ण है, जो उड़ीसा के पुरी जिले में, भुवनेश्वर से लगभग सात मील दक्षिण में धौलि गाँव के निकट (जिसका उल्लेख तोसली नगर के नाम से प्रज्ञापन में किया गया है, जो कुमार प्रतिनिधि शासन का केन्द्र था) अवस्थित है। अशोक के लेख तीन समानान्तर ऊर्ध्वाधर कालमों में लिखे हुए हैं, जिनमें से चौदह शिला प्रज्ञापन (प्रज्ञापन १२ और १३ को छोड़कर शेष) सार बीच के कालम पर, और आधे दाये कालम पर खुदे हुए हैं। बाद में दो स्थानीय प्रज्ञापन जोड़े गये, एक से दायी तरफ का कालम पूरा हो गया और दूसरा

१ JBBRAS... XV., २८२, PR..ASWI, १८६७-८, पृ० ७ और आगे।

२. IA., १८८२, पृ २३६।

३. C. ASR, XIII ६५ और ११२, CII, I. १५ और आगे।

बायी तरफ वाले सारे कालम पर आगया । इसलिए यह पिछला, यहाँ के दो पृथक् प्रज्ञापनों में से दूसरा है । गिलालेख के एकदम ऊपर एक छज्जा है जिसके दायी ओर अत्यधिक कलापूर्ण, ४ फुट ऊँचा, एक हाथी का अग्रभाग है, यह सारा एक अखंड गिला में से काटकर बनाया गया है । यहाँ जो दरजे मिली हैं उनसे मालूम होता है कि यह हाथी गुरु में एक लकड़ी के वितान से परिरक्षित था । दक्षिणी पाठ (जिसकी पहली नकल सर वाल्टर इलियट ने १८५० में की थी) गजाम नगर के पश्चिम-उत्तर-पश्चिम की ओर लगभग अठारह मील पर ऋषिकुल्या नदी के तट के निकट जौगड़ा नामक एक बड़े दुर्ग (लाक्षादुर्ग) में एक 'चित्रमय' शिला के फलक पर खुदा हुआ है । जौगड़ा लेख शिला के ऊर्ध्वाधर फलक पर तीन विभिन्न चौकियों पर खुदे हुए हैं । पहले पर पहले पाँच प्रज्ञापन हैं, पर शिला के छिल जाने से लगभग आधा भाग नष्ट हो गया है । दूसरी चौकी पर अगले पाँच प्रज्ञापन और १४वाँ प्रज्ञापन है । इस चौकी का लगभग एक-तिहाई कट-फट गया है । तीसरी चौकी पर वे दो पृथक् प्रज्ञापन हैं जो धौलि में मिले हैं । ये प्रज्ञापन उतनी सावधानी से उत्कीर्ण नहीं किये गये जितनी सावधानी से अन्य दो चौकियों पर उत्कीर्ण किये गये हैं ।

(आ) पृथक् कर्लिंग प्रज्ञापन

धौलि और जौगड़ा में सामान्य प्रज्ञापन माला के वारहवे और तेरहवे प्रज्ञापनों के स्थान पर अंतो (सीमान्तनिवासियों) का प्रज्ञापन और जनपद निवासियों का प्रज्ञापन हैं ।

(इ) गौण शिला प्रज्ञापन

पहले-पहल इन प्रज्ञापनों की सिर्फ तीन प्रतियों का पता चला था और उन्हें हम तीन उत्तरी प्रतियाँ कह सकते हैं । इनमें से एक

सहसराम (जिला शाहाबाद बिहार) की पूर्व की ओर चन्दन पीर चोटी के निकट एक कृत्रिम गुफा में एक चट्टान पर खुदा हुआ है— अब उसके ऊपर एक मुस्लिम पीर की समाधि बनी हुई है और उसी के नाम पर यह पुकारी जाती है।^१ स्मिथ ने लिखा है कि अशोक के समय यहाँ तीर्थ की भावना से हिन्दू यात्री जाते होंगे। पर यह अनुमान मात्र है। दूसरी प्रति कैमूर पर्वत-शृङ्खला की तल-हटी में रूपनाथ शिला (जिला जबलपुर, मध्य प्रदेश) पर उत्कीर्ण है। यहाँ तीर्थ-यात्री जाते हैं जो स्थानीय देवता रूपनाथ (शिव) की पूजा करते हैं और राम, लक्ष्मण तथा सीता के नाम पर अभिहित तीन पवित्र सरोवरों में स्नान करते हैं। तीसरी उत्तरी प्रति, जो पहले-प्रहल कारलेयल को १८७२-७३ में मिली थी, बैराट (जयपुर राज्य, राजपूताना) नामक प्राचीन नगर के निकट, जहाँ कहा जाता है कि पांडव अपने वनवास के अन्तिम दिनों में रहे थे, हिंसगिरि नामक पहाड़ी के नीचे एकान्त में स्थित एक विशालकाय प्रस्तरखड पर खुदी हुई है। शिला का तल खुरदरा है और ऋतु-प्रभाव से बहुत खराब हो गया है। दक्षिणी प्रतियों में से तीन का पता श्री बी० लेविस राइस ने १८६२ में लगाया था—ये तीनों मैसूर के चित्तलदुर्ग जिले में एक दूसरी की निकटवर्त्ती तीन वस्तियों सिद्धपुर, जतिग-रामेश्वर और बह्मगिरि, में जो एक प्राचीन वस्ती (सभाव्यतः प्रज्ञापनों की इसिला) के स्थान के पास हैं, खुदे हुए हैं। सिर्फ मैसूर वाली प्रतियों में से प्रत्येक में एक संक्षिप्त पूरक प्रज्ञापन है जिसमें अशोक के धम्म का सारांश दिया हुआ है। इन शिलालेखों के आविष्कार से पहली बार यह स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ कि अशोक का साम्राज्य दक्षिण में मैसूर तक फैला हुआ था

‘चोथी दक्षिणी प्रति मस्की शिला गौण प्रज्ञापन है जो १६१५’ में मिला था। यह निजाम राज्य के रायचूर जिले में है। यद्यपि यह कटी-फटी अवस्था में है पर तो भी यह एक बहुत महत्वपूर्ण शिलालेख है क्योंकि अकेले इस लेख में अशोक का नाम लेकर उसे इसका जारी करने वाला बताया गया है—अन्य लेखों में जारी करने वाले का नाम प्रियदर्शी दिया गया है जो इसी राजा का दूसरा नाम है।

स्तम्भ लेख

(आ) सात स्तम्भ लेख

अशोक के उत्कीर्ण स्तम्भ साम्राज्य के बीचोबीच, लोकप्रिय स्थानों पर होने के कारण यूरोपियनों को उनका बहुत समय से पता है।^१ इनमें से सबसे अधिक सुविदित, और यूरोपियनों की निगाह में सबसे पहले आने वाला दिल्ली (शिवालिक, या तोपरा) स्तम्भ है जो फीरोजशाह की लाट के नाम से प्रसिद्ध है। सुलतान फीरोजशाह तुगलक के समसामायिक इतिहासकार गम्स-इ-सीराज के अनुसार, सुलतान यह स्तम्भ यमुना के किनारे के तोपरा (उच्चारण भेद से तोहेरा, तामेरा नाहेरा, आदि) नामक स्थान से जो पर्वतों की तलहटी में, दिल्ली से ६० कोस था, लाया था, और उसने इसे फीरोजाबाद में कोटला के ऊपर स्थापित कराया था। इस पर सात “स्तम्भ प्रज्ञापन” हैं जबकि अन्य स्तम्भों पर सिर्फ छ हैं। सातवें प्रज्ञापन की पहली ग्यारह पक्तियाँ कॉलम के पूर्वी फलक पर उत्कीर्ण हैं और शेष पक्तियाँ सारे खम्भे या दंड (शैफ्ट) के चारों ओर खुदी हैं। यह लेख बाद में जोड़ा हुआ है। जैसा कि इस तथ्य

१. HAS., सख्या १, पृ० १-२।

२ C, ASR, I. ६७, ७३, १६१, २६८; V. १४३, XIV, ७८; XIV ११०, XXII ५१ C. CH, I ३४।

से स्पष्ट है कि यह अधिक पतले और कम सावधानी से बनाये गये अक्षरो में खोदा गया है और इनमें से बहुतों का रूप ढलवादार या वहावदार है ।

अशोक का दिल्ली में विद्यमान दूसरा स्तम्भ, गम्स-इ-सीराज के अनुसार, उसी सुलतान द्वारा मीरठ (मेरठ) से लाया गया था और “शिकार महल” के पास, जो हम जानते हैं कि आधुनिक नगर के उत्तर-पश्चिम की ओर रिज (पहाड़ी) पर बना हुआ था, स्थापित किया गया । लोगों में यह विश्वास चला आता है कि फर्खसियर (१७१३-१६ ई० प०) के शासन-काल में बारूद के आकस्मिक विस्फोट के कारण यह स्तम्भ नीचे गिर गया था । इस गिरे हुए स्तम्भ का उत्कीर्ण अश पहले बगाल की एशियाटिक सोसाइटी के संग्रहालय में था । पर यह टुकड़ा बाद में दिल्ली भेज दिया गया और स्तम्भ को (१७६७ ई० प०) फिर उसकी पहले वाली स्थिति में खड़ा किया गया । इस स्तम्भ पर खुदाई बड़ी अधूरी है जो अशतः इसके टूट-फूट जाने के कारण, और अशत-वर्त्तमान टुकड़ों का तल घिस जाने के कारण अधूरी है ।

इलाहाबाद स्तम्भ अब किले में ऐलनवोरो बैरक के पास है । इस पर अशोक के दो गौण प्रज्ञापन भी उत्कीर्ण हैं, और क्योंकि इनमें से एक कौशावी के अधिकारियों के नाम है, इसलिये प्रतीत होता है कि यह स्तम्भ शुरू में उसी प्राचीन नगर में स्थापित किया गया था जो अब इलाहाबाद से लगभग ३० मील दक्षिण-पश्चिम में जमुना के किनारे कोसम नाम से विद्यमान है । इस स्तम्भ पर समुद्रगुप्त की प्रशस्ति भी है । जहाँगीर ने अपने मिथ्या-प्रशंसा से पूर्ण लेख द्वारा अशोक के तीसरे और चौथे प्रज्ञापन को बुरी तरह नष्ट कर दिया है । पर उसके समय से कुछ पहले यह

स्तम्भ प्रयाग ले आया गया था और अनुमान है कि इसे फिरोज तुगलक यहाँ लाया था, जो हम जानते हैं कि अशोक के कम से कम दो स्तम्भ उठवाकर दिल्ली लाया था।

उत्तरी बिहार के चम्पारन जिले में तीन स्तम्भों पर यह प्रज्ञापन-माला उत्कीर्ण है। लौरिया अरराज (या राधिया) स्तम्भ लौरिया ग्राम के निकट अरराज-महादेव के हिन्दू मंदिर के दक्षिण-पश्चिम में एक मील की दूरी पर, राधिया गांव से पूर्व-दक्षिण-पूर्व की ओर ढाई मील पर और बेतिया जाने वाली सड़क पर, केसरिया स्तूप से २० मील उत्तर-पश्चिम में अवस्थित है। इस स्थान से प्राग् उत्तर-पश्चिम में नेपाल की ओर बढ़ने पर लौरिया नदनगढ़ या माधिया का सुन्दर स्तम्भ दिखाई देगा—अशोक के इसी एक स्तम्भ में इसका आरम्भिक स्तम्भशीर्ष (कैपिटल) अब भी कायम है। यह लौरिया नामक बड़े ग्राम के पास, माधिया से तीन मील दूर नदनगढ़ के प्राचीन स्थान के बिल्कुल निकट है—नन्दनगढ़ के विलक्षण अवशेष, डा० ब्लौच^१ के अनुसार, मौर्यकाल से पहले के हैं और इसी स्थान पर पिप्पलवन का 'कोयला स्तूप' था। १०७१ (ई० ५० १६६०-१) का एक फारसी लेख, जिसमें महिउद्दीन मुहम्मद औरंगजेब बादशाह आलमगीर गाजी का नाम आता है, मीर जुमला की सेना के किसी उत्साही मुसलमान ने खोदा दीखता है—यह सेना उस समय बगाल से लौट रही थी, और उसने इस काफिर स्मारक को गिराने के लिए जो यत्न किये थे, उनके चिह्न इस रूप में अब भी दिखाई देते हैं कि स्तम्भ-शीर्ष के ठीक नीचे तोप के गोले का गोल निशान है। इसके उत्तर-पूर्व में करीब बीस मील पर रामपुरवा ग्राम है जो पिपरिया गांव से लगभग एक मील उत्तर-पूर्व में

१. ASI.-AR, १९०६-७, पृ० ११६।

है।^१ स्व० डा० स्मिथ^२ का विचार था कि चम्पारेन^३ के स्तम्भ गंगा के उत्तरी तट से नेपाल घाटी को जाने वाले राजमार्ग को सूचित करते हैं।

(आ) गौण स्तम्भ प्रज्ञापन

इलाहाबाद वाले स्तम्भ पर दो गौण प्रज्ञापन हैं—रानों का प्रज्ञापन और वह प्रज्ञापन जिसमें सघ में फूट डालने वाले के लिए दंड निर्धारित किया गया है। रानी के प्रज्ञापन का और कोई पाठ नहीं मिलता। पर इलाहाबाद और साची^३ के (भोपाल राज्य में साची के महान् स्तम्भ के दक्षिणी द्वार पर एक गिरे और टूटे स्तम्भ पर उत्कीर्ण) कटे-फटे पाठ के अतिरिक्त, सघ में फूट डालने पर दंड निर्धारित करने वाला प्रज्ञापन सारनाथ स्तम्भ,^४ पर लगभग पूर्ण रूप में खुदा हुआ है—यह स्तम्भ जो सारनाथ में बनारस से लगभग ३॥ मील उत्तर में है, १६०५ में श्री ओएटेल की दृष्टि में आया था।

अशोक के गौण स्तम्भों में सबसे महत्वपूर्ण रुम्मिनिदेई स्तम्भ है जो रुम्मिनिदेई में पदेरिया से लगभग एक मील उत्तर में और नेपाल की भगवानपुर तहसील में, जो भारत के वस्ती जिले के उत्तर में है, भगवानपुर से २ मील उत्तर में है।^५ इस पर उत्कीर्ण स्मारक अभिलेख में कहा गया है कि शाक्यभुनि भगवान बुद्ध का वहाँ जन्म-स्थान है। इस प्रकार यह बुद्ध का जन्म-स्थान लुम्बिनीवन है। एक

१. वही, १६०७-८, पृ० १८१।

२. अशोक, पृ० १२०।

३. ए गाइड टु साची, पृ० ६०।

४. ASI-AR, १६०४-५, पृ० ६८।

५. फ्यूहरर की एन० प्रोग० रिप० १८६४-६५, पैरा ३, JRAS १८६७, पृ० ४२६, पृ० ३६५।

ऐसा स्मारक स्तम्भ वह है जो वस्ती जिले के उत्तर में, नेपाल की तराई में, निगलीव गाँव के निकट निगलीव सागर नामक तालाब के पश्चिमी तट पर मिला था। यह स्तम्भ अब उपर्युक्त अन्तिम स्तम्भ से लगभग १३ मील उत्तर-पश्चिम में अवस्थित है और इसके लेख में लिखा है कि यह कोनागमन स्तूप के स्थान पर बनवाया गया था।

गुफा लेख

बराबर और नागार्जुनी की प्रसिद्ध गुफाएँ गया से ठीक उत्तर में १६ मील दूर, या सडक के रास्ते १६ मील दूर, फल्गु नदी के बाएँ या पश्चिमी तट पर दो पृथक् पहाड़ियों में हैं^१। बराबर पहाड़ी में चार गुफाएँ हैं। उनमें से तीन की दीवार पर अशोक लिपि उत्कीर्ण है जिनमें बताया गया है कि ये गुफाएँ राजा पियदसी ने आजीविको को भेट की थी।

अशोक के विभिन्न लेखों के प्राप्ति-स्थानों के बारे में इतना बताना काफी है। अब हमें उनसे सम्बद्ध अन्य प्रश्नों पर विचार करना है। पहले, जिन पत्थरों पर वे उत्कीर्ण हैं, उनके क्या रूप हैं? अशोक उनके बारे में क्या कहता है? स्तम्भ-प्रज्ञापन ७ के अन्त में वह शिला-स्तम्भ और शिला-फलक की चर्चा करता है। स्पष्ट है कि शिला-स्तम्भ पत्थर के स्तम्भों का वाचक है और हम जानते हैं कि उसके बहुत से अभिलेख उन पर उत्कीर्ण कराये गये थे। शिला-फलक का अर्थ है पत्थर की टुकड़ियाँ, पर शायद भाबू प्रज्ञापन के सिवाय, अशोक का कोई भी लेख अब तक पत्थर की टुकड़ियों पर उत्कीर्ण नहीं मिला। सहसराम और रूपनाथ प्रज्ञापनों

के अन्त में शिला-स्तम्भ और पर्वत शब्द आते हैं। इनमें से पर्वत का अभिप्राय उन शिलाओं से है जिन पर न केवल उसके गौण शिला प्रज्ञापन, बल्कि चौदह शिला प्रज्ञापन भी उत्कीर्ण हैं। और, तथ्य यह है कि चौदह शिला प्रज्ञापनों के धौलि और जौगडावाले पाठों में यह लिखा भी है कि वे एक पर्वत पर उत्कीर्ण कराये गये हैं। दोनों जगह पर्वत का नाम भी लिखा है, पर अब जौगडा प्रति वाला ही सुरक्षित है और यह है खपिगल। इस प्रकार, हम देखते हैं कि अशोक ने अपने अभिलेख तीन वस्तुओं, अर्थात् शिलाओं, पापाण-स्तम्भ, पापाण-खडो या टुकड़ियों पर उत्कीर्ण कराये।

अब हमें दूसरे इस प्रश्न पर विचार करना है। अशोक अपने लेखों के बारे में क्या कहता है? वह उनका किन नामों से निर्देश करता है। जिन्होंने चौदह शिला प्रज्ञापनों और सात स्तम्भ प्रज्ञापनों का अध्ययन किया है वे अच्छी तरह जानते हैं कि उसने उन्हें धम्मलिपि कहकर पुकारा है। इस पद का क्या अर्थ है? हम ऊपर देख चुके हैं कि अशोक को अपने धम्म और जीवन के सामान्य आचरण की तुलना करने का बड़ा शौक है। इस प्रकार वह विजय और धम्म विजय की, मगल और धम्म मगल की, दान और धम्म दान इत्यादि की तुलना करता है। हम यह भी जानते हैं कि वह सामान्य महामात्रों और धम्म महामात्रों में भेद करता है। यही बात धम्मलिपि शब्द के बारे में होगी और इसका प्रयोग उसने सामान्य लिपि से वैशिष्ट्य सूचित करने के लिए किया होगा। अब, लिपि शब्द लेख का वाचक है और इसका इस अर्थ में प्रयोग न केवल पृथक् कलिग प्रज्ञापनों में अपितु सारनाथ स्तम्भ प्रज्ञापन में भी हुआ है। इस शब्द का प्रयोग, विशेषकर पिछले लेख में, विशेष महत्वपूर्ण है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि यह प्रज्ञापन अपने आपको एक शासन या आदेश बताता है, पर

तब भी यह कहता है कि इसकी दो लिपियाँ रखी जायें—एक राजकर्मचारियों के मार्गनिर्देश के लिए और दूसरी बौद्ध उपासकों के लिए। यहाँ लिपि का अर्थ 'अभिलेख' के सिवाय और दूसरा नहीं हो सकता। राजा के रूप में, अशोक ने लौकिक या धार्मिकोत्तर विषयों पर अनेक आज्ञापत्रियाँ जारी की होगी। और उन आज्ञापत्रियों के लेख भी लिपि कहलाएँगे। और फिर, क्योंकि वह धर्म-प्रचारक भी था, इसलिए उसने धम्म की अभिवृद्धि के लिए भी ऐसी आज्ञापत्रियाँ अवश्य जारी की होगी। इसलिए इन्हें धम्मलिपि कहना सर्वथा उचित होगा। यह सत्य है कि चौदह शिला प्रज्ञापनों और सात स्तम्भ प्रज्ञापनों को ही धम्मलिपि कहकर पुकारा गया है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि अशोक के (शायद गुफाओं वाले लेखों के अलावा) अन्य लेख धम्मलिपि नहीं थे। ये सब पुरालेख धम्म की वृद्धि और प्रचार से सम्बन्धित अभिलेख थे और इन्हें धम्मलिपि कहना सर्वथा उचित है।

तीसरा विचारणीय प्रश्न यह है कि विभिन्न अभिलेख किस-किस समय उत्कीर्ण कराये गये। इसमें सात स्तम्भ प्रज्ञापनों के बारे में तो हम बिलकुल ठीक-ठीक कह सकते हैं। स्तम्भ प्रज्ञापन १ शुरू में ही कहता है कि यह धम्मलिपि अशोक के राज्यकाल के छब्बीसवें वर्ष उत्कीर्ण कराई गयी, और स्तम्भ प्रज्ञापन ६ के अंत में भी इस उत्कीर्ण कराये जाने का ठीक यही समय लिखा है। इसमें जरा भी सदेह नहीं हो सकता कि इस माला के पहले से छठे प्रज्ञापन तक अशोक के अभिषेकोत्तर छब्बीसवें वर्ष में उत्कीर्ण कराये गये। जहाँ तक स्तम्भ प्रज्ञापन ७ का सम्बन्ध है जो सिर्फ दिल्ली (तोपरा) स्तम्भ पर मिलता है, हम जानते हैं कि इस अभिलेख के अन्त में इसके उत्कीर्ण कराये जाने का समय सत्ताईसवाँ वर्ष

स्पष्ट लिखा है । इससे यह सर्वथा स्पष्ट है कि वह अन्तिम प्रज्ञापन १ वर्ष बाद उत्कीर्ण कराया गया और कि यह बाद में जोड़ा गया है । इसके बाद में जोड़े जाने का पता इस तथ्य से भी लगता है कि इस लेख के अक्षर पूर्ववर्ती छ प्रज्ञापनों के अक्षरों से सर्वथा भिन्न प्रारूप के हैं, जैसा कि हम उस स्तम्भ का उल्लेख करते हुए पहले ही बता चुके हैं जिस पर यह उत्कीर्ण है । इस प्रकार, यद्यपि इन स्तम्भ प्रज्ञापनों के तो काल के बारे में पूर्ण निश्चय है, पर दुर्भाग्य से, अन्य अभिलेखों के बारे में, यहाँ तक कि चौदह शिला प्रज्ञापनों के बारे में भी, यह बात नहीं कही जा सकती । यह सच है कि इस माला में चार विभिन्न कालों का उल्लेख है (शिला प्रज्ञापन ४, ५, ८ और १३) पर यह कही नहीं कहा गया कि ये सारी धम्म-लिपियाँ या उनका कोई भाग किसी वर्ष-विशेष में उत्कीर्ण कराया गया था । इस माला के विभिन्न भागों में विभिन्न घटनाओं के कालों का निर्देश है, उनके वास्तविक उत्कीर्णन के कालों का नहीं । इनमें से सबसे बाद की घटना अशोक के अभिषेकोत्तर तेरहवें वर्ष की है, और श्री सेनार्ट ने इसे ही चौदह शिला प्रज्ञापन उत्कीर्ण किये जाने का काल बताया है । अन्य भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानों ने भी श्री सेनार्ट की ही बात स्वीकार कर ली है । पर इस काल को उत्कीर्ण करायें जाने का काल मानना तर्कसंगत नहीं । इससे तो यही निष्कर्ष निकालना युक्तियुक्त हो सकता है कि उस वर्ष से पहले ये उत्कीर्ण नहीं हुए, न कि यह कि सारे प्रज्ञापन अभिषेक के तेरहवें वर्ष उत्कीर्ण करायें गये । इसलिए हमें इस माला का काल स्वतन्त्र आधारों पर तय करना होगा । यदि यह निश्चित रूप से तय नहीं किया जा सकता तो हम सन्निकटतः इसे तय करेंगे । हमें इस प्रसंग में जो युक्तिक्रम ग्रहण करना है उसका संकेत

ऊपर किया जा चुका है। स्तम्भ प्रज्ञापन ७ में सब विद्वान् उन कार्यों का संक्षिप्त विवरण दिया गया मानते हैं जो अशोक ने धम्म की वृद्धि के लिए अपने राज्य-काल के सत्ताईसवें वर्ष तक किये, और हम अभी देख चुके हैं कि इस प्रज्ञापन का यही काल है। पर इसमें उन धर्मार्थ कार्यों का कुछ भी उल्लेख नहीं जो उसने भारत में और भारत से बाहर किये और जिनका वर्णन शिला प्रज्ञापन २ में किया गया है, और न उन सफलताओं का वर्णन है जो, शिला प्रज्ञापन १३ के कथनानुसार, उसे न केवल अपने साम्राज्य में अपितु उसके पड़ोसी ग्रीक और भारतीय राजाओं के राज्यों में भी अपने धर्म-प्रचार कार्यों में प्राप्त हुई थी। अशोक की दृष्टि में ये दोनों कार्य इतने अधिक महत्त्व के हैं कि यदि उसे उस प्रज्ञापन के काल, सत्ताईसवें वर्ष, से पहले उनका पता होता तो वह स्तम्भ प्रज्ञापन ७ में उनका उल्लेख करने से कभी न चूकता। इसलिए हमें यह अनुमान करना पड़ता है कि शिला प्रज्ञापन २, और १३, और असल में तो समस्त चौदह शिला प्रज्ञापन, सात स्तम्भ प्रज्ञापनों के उत्कीर्ण हो जाने के बाद उत्कीर्ण कराये गये। अन्य दृष्टियों से सोचने पर भी यही निष्कर्ष निकलता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि अपने धम्म के प्रचार के लिए अपनाये गये विविध उपायों का वर्णन करते हुए अशोक धम्म-स्तम्भों के स्थापन को भी उनमें से एक उपाय बताता है। हम यह भी देख चुके हैं कि इसके अन्त में उन्हीं धम्मलिपियों के बारे में वह कहता है कि मैंने पापाण-स्तम्भों और पापाण-खंडों पर उन्हें उत्कीर्ण करने का आदेश दिया है। यहाँ पर्वतों या शिलाओं पर धम्मलिपियाँ उत्कीर्ण कराने की कोई चर्चा नहीं है। प्रतीत होता है कि अपने राज्य-काल के सत्ताईसवें वर्ष तक, जो स्तम्भ प्रज्ञापन ७ का काल है, उसे यह विचार नहीं सूझा। इससे प्रकट

होता है कि उसके सब शिला-प्रज्ञापन, चाहे वे चौदह शिला प्रज्ञापन हो, चाहे गौण शिला प्रज्ञापन, सात स्तम्भ प्रज्ञापन उत्कीर्ण कराने का काल समाप्त हो जाने पर उत्कीर्ण कराये गये ।

इस प्रश्न पर विचार करते हुए कि पहले चौदह शिला प्रज्ञापन उत्कीर्ण कराये गये या गौण शिला प्रज्ञापन, यह ध्यान देने योग्य बात है, जैसा कि हम देख चुके हैं कि सहसराम और रूपनाथ के लेखों में अशोक आदेश देता है कि वह प्रज्ञापन उन सब स्थानों पर उत्कीर्ण किया जाए जहाँ कोई पाषाण-स्तम्भ या कोई पर्वत हो । इससे प्रकट होता है कि शिलाओं या स्तम्भों पर लेख उत्कीर्ण करने का विचार उसके लिए उस समय नया ही था, क्योंकि अन्यथा उसके ऐसा आदेश जारी करने में कोई औचित्य नहीं हो सकता । इसलिए यह प्रतीत होता है कि स्तम्भ प्रज्ञापन उत्कीर्ण होने के तुरन्त बाद अशोक ने गौण शिला प्रज्ञापन उत्कीर्ण कराने आरम्भ किये और उनके बाद उसने चौदह शिला प्रज्ञापन खुदवाये होंगे । जिन दिनों चौदह शिला प्रज्ञापन खोदे जा रहे थे, उन दिनों शिलाओं और स्तम्भों पर लेख उत्कीर्ण कराने का विचार इतना आम-फहम हो चुका था कि अशोक उनमें से किसी का भी कतई उल्लेख नहीं करता और यदि किसी ऐसी वस्तु का उल्लेख करता भी है तो वह यह सामान्य बात कहता है कि वे (चौदह) शिला प्रज्ञापन शिलाओं पर इस कारण उत्कीर्ण कराये गये हैं जिससे वे चिरस्थायी हो ।

कम-से-कम चौदह वर्ष तक बड़े परिश्रम से धर्म-प्रचार करने के बाद अशोक को अपने धम्म-विषयक विविध विचार और उसके प्रचार के लिए किये गये विभिन्न कार्य अनश्वर पाषाण पर खुदवाने का विचार पैदा हुआ । हम पहले देख चुके हैं कि उसे यह विचार

क्यों पसन्द आया ।^१ उसका स्पष्टतः यही उद्देश्य था कि यदि वह अपने धर्म-प्रचार कार्यों का सक्षिप्त विवरण पत्थर पर उत्कीर्ण करा देगा तो उसके आगे आने वाले वंशज इसे देख तथा पढ़ सकेंगे और इस पर विचार कर सकेंगे, और यह उन्हें सारे ससार में धम्म-विजय करने की प्रेरणा देगा, जिसका अशोक ने इतने आडवर के साथ आरम्भ किया था । उसकी धम्मलिपियों के विभिन्न भाग न तो चौदह शिला प्रज्ञापनों में और न ही सात स्तम्भ प्रज्ञापनों में, किसी स्वाभाविक क्रम में बँधे हुए हैं । गायद अशोक को अपने प्रचार-कार्य के विवरण को स्थायी रूप देने की इतनी जल्दी थी कि उसने अपने लेखों की माला के विभिन्न अंशों को बिना किसी उपयुक्त क्रम के इकट्ठा कर दिया । तो भी हम इस बौद्ध सम्राट् के बड़े कृतज्ञ हैं कि उसने, उन विचारों, भावनाओं और प्रेरणाओं को, जिन्होंने उसकी आत्मा को विक्षुब्ध, अनुप्राणित और मार्ग-प्रेरित किया, और सबसे बढ़कर, उसे मानव-जाति के न केवल भौतिक अपितु आध्यात्मिक कल्याण की भी अभिवृद्धि के लिए एक चतुर्मुखी और अविश्रान्त स्फूर्ति में परिवर्तित कर दिया, चिरस्थायी रूप में भावी सतति तक पहुँचाने का विचार किया और उस विचार को तत्काल कार्य रूप में परिणत कर दिया ।

ख—अनुवाद, टिप्पणियाँ, आदि आरम्भिक टिप्पणी

उन्नीसवीं सदी के दूसरे चरण से अशोक के लेखों का अध्ययन बहुत से विद्वानों ने किया है । भारतीय पुरालेखशास्त्र के मार्ग-निर्माताओं, प्रिंसेप, विल्सन और वर्नोफ के परिश्रमों को १८७७ में

सर एलेग्जेडर कनिंगहम ने छोटे रूप में कौर्पस इन्स्क्रिप्शनम इडिकेरम, जिल्द १, के नाम से एकत्र प्रकाशित किया। पर वे अपने पाठों की सदोपता के कारण न्यूनाधिक अब उपयोग में नहीं आते। इस जिल्द के प्रकाशित होने के बाद कुछ नये लेख मिले हैं और बहुत से पुराने अभिलेखों का पठन और निर्वचन भिन्न रीति से किया गया है। १९०२ तक प्रकाशित सब प्रकाशनो के निर्देशों की पूरी सूची आर० आर्टो फ्राक की 'पाली एड सस्कृत', स्ट्रासबुर्ग १९०२, पृ० १-५, में दी हुई है। अशोक के लेख अपने आप में एक साहित्य हैं और बहुत कम विद्वानों ने उसके सारे लेखों का संपादन और उन पर टिप्पणी की है। सिर्फ निम्नलिखित पुस्तकों इन लेखों के विद्यार्थी के लिए साधारणतया उपयोगी होगी।

सेनार्ट, एमिल—ले इस्क्रिप्स्यो द पियदसी (पेरिस, दो जिल्दों में)। यद्यपि इस संस्करण में पाठों की सदोपता और बाद के आविष्कारों और गवेषणाओं का अभाव है, पर तो भी यह ग्रन्थ ऐसा महत्त्वपूर्ण है कि कोई विद्यार्थी इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

बूलर, जार्ज—वेइट्रागे जुर् एर्कलारुग डेर अशोक—इस्क्रिप्टेन (लीपजिग, १९०६) ZDMG १८८३-१८९४, से पुनर्मुद्रित। इसमें बहुत से परिष्कृत पठन और सशोधित अनुवाद तथा उपयोगी टिप्पणियाँ भी दी हुई हैं। इस ग्रन्थ के बिना काम नहीं चल सकता। इसका एक अग्र अंग्रेजी रूप में EI जिल्द I, पृष्ठ १६-२० और जिल्द II, पृष्ठ २४५-२७४, तथा ४४७-७२, ASSI, जिल्द I, पृष्ठ ११४-१२५ में प्रकाशित किया गया है।

स्मिथ, वी० ए०—अशोक, दि बुद्धिस्ट एम्परा अफ इंडिया (तृतीय संस्करण, १९२०), अध्याय ४-५। पर इसमें सिर्फ अनुवाद और टिप्पणियाँ हैं, और अभिलेखों का मूलपाठ नहीं है।

यह सकलन बड़ी सावधानी से तैयार किया गया है और बड़ा उपयोगी है ।

हुल्ड्स, ई०—लेखों का नया सशोधित संस्करण, जो १९१२ में शुरू किया गया था, पर युद्ध के कारण अनिश्चित काल के लिए टल गया था, अब प्रायः पूर्ण हो चुका है और शीघ्र ही विद्वानों को प्राप्त हो सकेगा । इससे पाठ और निर्वचन के अनेक विवाद-ग्रस्त मामलों के तय हो जाने की आशा है ।

समय-समय पर विभिन्न विद्वानों के विभिन्न लेख प्रकाशित होते रहते हैं जिनमें अशोक के लेखों के किसी शब्द या संदर्भ पर टिप्पणियाँ होती हैं अथवा उनसे सम्बद्ध विशेष प्रश्नों की चर्चा होती है । उनकी संख्या इतनी अधिक है कि उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया जा सकता, पर आगे के पृष्ठों में, जहाँ आवश्यकता होगी वहाँ उनका निर्देष्ट किया जाएगा । टी० माइकल्सन के भी कुछ लेख हैं जो इण्डो-जर्म० फोर्सबुगेन, १९०८, १९१०, १९११; अमेरि० जर्न० फाइलोलौजी, १९०६, १९१०; और JAOS, १९११, में प्रकाशित हुए हैं । पर उनमें निर्वचन की अपेक्षा मूल-पाठ सम्बन्धी आलोचना और ध्वनिशास्त्र के प्रश्नों की चर्चा अधिक है ।

चौदह शिला प्रज्ञापन

(१)

अनुवाद

यह धम्मलिपि^१ देवताओं के प्रिय^२ प्रियदर्शी राजा ने लिखवायी । यहाँ^३ कोई जीव मारकर वलिदान न किया जाए, न कोई समाज^४ किया जाए : क्योंकि देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी

समाज को बुरा समझता है। पर कुछ समाज ऐसे हैं जिन्हें देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी अच्छा समझता है।

पहले देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी के ही रसोई-घर के लिए प्रतिदिन हजारों जीव मारे जाते थे^५, पर अब जब यह धम्म-लिपि लिखवाई गयी, रसोई के लिये सिर्फ तीन जीव मारे जाते थे^६, अर्थात् दो मोर और एक हरिण, पर वह हरिण भी प्रतिदिन नहीं मारा जाता था। ये तीन जीव भी भविष्य में नहीं मारे जायेगे।

टिप्पणियाँ

१. धम्मलिपि शब्द का, जो अशोक के इस तथा अन्य बहुत से लेखों में आता है, अनुवाद कर्न ने 'धार्मिकता-प्रज्ञापन', सेनार्ट ने सिर्फ 'प्रज्ञापन' और बूलर ने 'धार्मिक प्रज्ञापन' किया है। यथार्थतः लिपि का अर्थ लेख या अभिलेख है ('आज्ञप्ति' या 'प्रज्ञापन' नहीं), और सारनाथ वाले स्तम्भ लेख में इसका सिर्फ यह अर्थ है और धम्म का अर्थ भी यहाँ सिर्फ 'धार्मिकता' नहीं है, बल्कि 'दान और धार्मिकता की वृद्धि करने वाले कार्य' भी है। इस शब्द का अनुवाद न करना अधिक अच्छा है। ऊपर पृ० २२६—३०।

२. पाणिनि के ६.३.२१ पर, जो षष्ठी अलुक्-समास के बारे में है, कात्यायन का यह वार्तिक है देवानाम्प्रिय इति च। इससे स्पष्ट है कि पार्त्तिककार के काल में देवानाम्प्रिय शब्दों का प्रयोग होता था और यह एक पद माना जाता था। पाणिनि के ५.३.१४ के वार्तिक भवदादिगण पर भाष्य करते हुए पतञ्जलि ने देवानाम्प्रिय को भवदादिगण में गिना है। इससे ध्वनित होता है कि इस गण के भवत्, दीर्घायु और आयुष्मत् शब्दों की तरह देवानाम्प्रिय शब्द भी सम्बोधन की शुभावह रीति के रूप में प्रयुक्त किया जाता था (JBBRAS, XXI, ३६३) पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि इतने प्राचीन काल में भी यह व्यंग के रूप में प्रयुक्त होता था, जैसा कि कात्यायन

के उपरिनिदिष्ट वास्तिक से स्पष्ट है। पर बाद के काल में यह सदा अप्रतिष्ठा-कारक भाव का ही सूचक हो गया। (JRAS, १९०८, पृ० ५०४—५)।

यद्यपि शिला प्रज्ञापन ८ की कुछ प्रतियों में जिसे देवनाम्प्रिय कहा गया है, उसे ही और प्रतियों में राजानो कहा गया है, पर इन दोनों को एकाधिक मानना सही नहीं, जैसा कि जी० ए० स्मिथ ने मान लिया प्रतीत होता है (JRAS, १९०१, ४८६ और ५७७)। क्योंकि वैसा मानने पर प्रियदर्शिन और देवनाम्प्रिय के साथ जुड़ा हुआ राजा शब्द व्यर्थ हो जाएगा। फिर उसने देवनाम्प्रिय का जो 'हिज सेन्ट्रेड मंजेस्टी' अनुवाद किया है, वह भी नहीं जंचता क्योंकि 'हिज सेन्ट्रेड मंजेस्टी' पदावलि का प्रयोग किसी धार्मिक सत्स्थान के अध्यक्ष, यथा यूरोप के पोप, या भारत के शंकराचार्यों के लिए तो उपयुक्त हो सकता है, पर साधारण तौर से एक लौकिक (सिक्पुलर) राजा के लिए इसका प्रयोग उपयुक्त नहीं हो सकता।

३. कुछ लोगो ने 'इह' शब्द का अर्थ 'यहाँ' अर्थात् इन लोक में, और कुछ ने 'यहाँ, अर्थात् पाटलिपुत्र में' किया है। पर इसका अर्थ उसका 'प्रासाद और राजकीय सस्थान' होना चाहिए क्योंकि इस प्रज्ञापन में उल्लिखित और जब बातें प्रशोक से व्यक्तिगत रूप से या उसके राजपरिवार से सम्बन्धित हैं इसलिए यह माना जा सकता है कि उसने अपने सारे साम्राज्य में जीव-वलि का निषेध न किया होगा, बल्कि सिर्फ अपने और अपने परिवार के प्रसंग में किया होगा।

४. समाज शब्द का वास्तविक भाव विद्वानों को पहली बार तब पता चला जब यह पहली बार JBBRAS, XXI, ३६५ आदि, में बताया गया। इसी विषय पर मेरी एक और विस्तृत टिप्पणी IA १९१३, २५५ आदि, में है। समाज के यथार्थ स्वरूप के बारे में हमारी कुछ ज्ञान-वृद्धि हाल में ए०० डब्लु० टामस ने JRAS, १९१४, ३६२-४, और ७५२ में की है। ए०० जी० मजूमदार, IA, १९१८, पृष्ठ २२१—३, भी देखिए। इस शब्द का अर्थ सेनार्ट ने 'आनंदोत्सव सभा' (IA, IX. २८६), पिशेल ने 'हान्ते द्वारा शिकार' (गौट० जेल, अज०, १८८१, पृ० १३२४), और वूलर ने 'उत्सव सभा'

(EI, II. ४६६) किया है। पर इनमें से कोई भी विद्वान् अपने अर्थ तो किसी साहित्यिक साक्ष्य से प्रमाणित न कर सका था और न यह बता सका था, कि क्यो अशोक ने अपने जीव-हत्या-निषेधक एक लेख में कुछ समाजों को निन्दनीय और कुछ को प्रशसनीय ठहराया है। यह बात ऊपर पृ० १६—२० और १२० पर स्पष्ट की जा चुकी है।

५. प्रश्न यह पैदा होता है कि यह लेख उत्कीर्ण होने से पहले अशोक के रसोईघर में प्रतिदिन हजारों जीवों का वध क्यो होता था। इस प्रश्न में देखिए IA, १६१३, पृ० २५५ आदि, और ऊपर भी, पृ० २०—१।

६ यहाँ साधारण भूतकाल का रूप आरभिसु (=आरभिंसु) और पूर्ण-भूत का रूप आरभरे (=आरभिरे) बिना किसी अर्थभेद के प्रयुक्त किये गये हैं। यह पूर्णभूत का रूप मनोरञ्जक है क्योकि यह साहित्यिक पाति में नहीं मिलता। पर प्रतीत होता है कि यह लोक-भाषा से लुप्त नहीं हो गया था। शिला प्रज्ञापन ८ (गिरनार प्रति) में पूर्ण रूप अयाय भी ध्यान देने योग्य है।

(२)

अनुवाद

देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी के राज्य में सब स्थानों पर, तथा उसके सीमान्तवर्ती राजाओं, यथा चोड^१, पाड्य, सातियपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी, योन (ग्रीक) राजा अन्तियोक (एटियोक्स) और अतियोक के पडोसियों,^२ के राज्यों में भी सब स्थानों पर देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी ने दो प्रकार की चिकित्सा^३ अर्थात् मनुष्यों के लिए उपयोगी और पशुओं के लिए उपयोगी चिकित्सा—का प्रवन्ध किया है। मनुष्यों और पशुओं के लिए उपयोगी औषधियाँ जहाँ-जहाँ नहीं हैं, वहाँ-वहाँ वे लाकर लगवाई गयीं। जहाँ-जहाँ फल और मूल नहीं होते थे, वहाँ पर वे भी लाकर लगवाये गये। मार्गों में मनुष्यों और पशुओं के सुख के लिए कुएं खुदवाये गये और वृक्षादि लगवाये गये।

टिप्पणियाँ

१. ऊपर पृ० ३४ । पांड्य (पाड्य) के लिए CL, १९१८, पृ० १०-१, भी देखिए ।

सातियपुत्र के बारे में, आर० जी० भंडारकर ने इस तथ्य की ओर ध्यान खींचा है कि दक्षिण के पठार के पश्चिमी भाग के साथ-साथ कुछ मराठे, कायस्थ और ब्राह्मण परिवार हैं जिनका अल्ल सातपते है जो इस लेख में आये सातियपुत्र शब्द से व्युत्पन्न प्रतीत होता है । इसलिए सातियपुत्र का स्वतन्त्र राज्य पश्चिमी घाटी के साथ-साथ और नीचे कोकण तट तक रहा होगा (इड रिब्यू, १९०६, पृ० ४०१ आदि) । पर बूलर सातिय शब्द से सातवती का ग्रहण करता है जिनका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण ८.१४ में है और जो पाणिनि के ५.३.११७ ने निर्दिष्ट परश्वादिगण के अन्तर्गत है (वेइड्रागे जुर एर्क-लार्ग डेर अशोक-इस्क्रिप्टेन, पृ० १३ आदि) । बी० ए० स्मिथ मानता है कि सत्यपुत्र या तो तुलुव देश है और या सत्यमंगलम् के आस-पास का प्रदेश है (EHI, १६३, १८५ टि०, ४५६; अशोक, पृ० १६१) । श्री एस० बी० जैकटेश्वर इसे 'उस देश या जाति का नाम' मानते हैं जिसकी राजधानी काची-पुरम् थी' (JRAS, १९१८, पृ० ५४१-२, I. A., १९१६, पृ० २४) एस० कृष्णस्वामी अय्यंगर के अनुसार, सातियपुत्र शब्द कोचीन के उस प्रदेश का निर्देश करता है जिसमें मातृक (मैट्रियाकॉट) या अलिय-सत्तानम कानून प्रचलित है (विगनिंग्स आफ साउथ इंडियन हिस्ट्री, पृ० ७३, JRAS, १९१६, पृ० ५८१ आदि) । एक ओर विचार के लिए, देखिए ऊपर पृ० ३७-३६ ।

तांवपनी का अर्थ बहुत समय तक श्रीलंका माना जाता रहा । पर हाल में ई० हुल्डश (स्मिथ, IA, १९१८, पृ० ४८ आदि) ने इसे तांन्नपर्णी नदी का वाचक मानने का प्रस्ताव किया है, जो प्राचीन पाड्य राज्य और आधुनिक तिलनेवेलि जिले में से बहती है । पर यदि तावपनी इस प्रज्ञापन में नदी का वाचक होता तो इसका उल्लेख केरलपुत्र के बाद न होकर पाड्य के बाद होता

क्योंकि यह नदी भारत की तथा इस राज्य की सीमा बनाती थी। इसी प्रकार शिला प्रज्ञापन १३ में अशोक का पाण्ड्यो से अलग 'ताम्रपर्णी के लोगो' का निर्देश करना उपयुक्त नहीं, क्योंकि पाण्ड्यो में ताम्रपर्णी के लोग तो शामिल थे ही। इसलिए पहले वाली स्थापना ही मान्य है।

२ वूलर सामन्त का अर्थ 'अधीन राजा' करता है। गिरनार वाली के अलावा और सब प्रतियों में यही पाठ है, पर इसमें सामीपम् है। इससे ध्वनित होता है कि यहाँ सामन्त का अर्थ 'पड़ोसी या सीमावर्ती' होना चाहिए—और चाइल्डर की पालि डिक्शनरी में इस शब्द का ठीक यही अर्थ दिया है।

३ सेनार्ट चिकिच्छा का अर्थ 'औषधियाँ' करता है और वूलर 'आतुरालय (हॉस्पिटल)' करता है। इसका अर्थ 'इलाज' अधिक उपयुक्त है। इस सदभं को अच्छी तरह समझने के लिए देखो ऊपर, पृ० १५६—६१।

(३)

अनुवाद

‘देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है—अपने अभिषेक के बारहवें वर्ष मैंने यह आज्ञा जारी की—मेरे राज्य में सब जगह युक्त^१, रज्जुक^२ और प्रादेशिक^३ प्रति पाँचवें वर्ष अन्य कार्यों के साथ-साथ यह (धर्मनिशासन) बताने के लिए भी दौरा करें^४ “माता-पिता की सेवा करना अच्छा है, मित्रों, परिचितों और सम्बन्धियों, ब्राह्मणों और श्रमणों^५ के प्रति उदार होना अच्छा है, जीवों का न मारना अच्छा है, थोड़ा ही व्यय और थोड़ा ही सचय करना^६ अच्छा है।” (मन्त्रि) परिषद् युक्तों को इस (व्यय और सचय) का, शब्दों और भावनाओं, दोनों के अनुसार, हिसाब रखने के बारे में आज्ञा दे।’

टिप्पणियाँ

१. सेनार्ट ने युक्त को राजुक और प्रादेशिक से पृथक् कर लिया है। प्रार इसका अर्थ 'श्रद्धालु' किया है। पर बूलर इसे राजुक का विशेषण मानता है और इसका अर्थ 'निष्ठावान्' करता है। जैसा कि पहले सेनार्ट ने सकेत किया था, IA, १८६१, २४६, टि० ५०) गिरनार वाली प्रति में तीन बार 'च' शब्द होने से बूलर का युक्त शब्द का अनुवाद अनुपयुक्त हो जाता है। यह शब्द स्पष्ट रूप से कर्तृकारक माना जाना चाहिए, और राजुको और प्रादेशिको की तरह, युक्त भी अफसर थे। युत (युक्त) के ठीक भाव के लिए देखिए ऊपर, पृ० ४७-४८। जात, जिल्द ५, पृ० ११७, V. २०)

२. राजुको के लिए, देखिए ऊपर, पृ० ४६-५०। पर जायसवाल राजुक शब्द को राजन् से व्युत्पन्न मानता है और इसका अर्थ "शासक या शासक-मन्त्री, सारे साम्राज्य में वास्तविक प्रशासन-शक्ति से युक्त परिषद् की सनिति" करता है (JBORS, १६१८, पृ० ४२)।

३. कर्न के अनुसार, प्रादेशिक एक स्थानीय गवर्नर था, और सेनार्ट इसे सहनत प्रतीत होता है। बूलर इस शब्द का अर्थ "अधीन राजा" करता है और उन्हें आजकल के ठाकुरो, रावो और रावलो आदि का पूर्वज मानता है। क्योंकि प्रादेशिक युक्तों और रज्जुको के साथ रखे गये हैं, इसलिए वे अशोक के अफसर ही रहे होंगे, उसके अधीन राजा नहीं। यह बात इस तथ्य से भी मेल खाती है कि उन्हें भी अन्य अफसरों की तरह दौरे पर जाना पड़ता था, और दौरे में अपने अन्य राज-कार्य के अलावा, धर्म-प्रचार भी करना पड़ता था। इसलिए इसकी जो व्याख्या एफ० डब्लू० टामस ने की है वही इस समय सर्वोत्तम मानी जाती है (JRAS १६१४, पृ० ३८३-६; १६१५, पृ० ११२)। ऊपर भी देखिए, पृ० ४८-४९।

४. कर्न, और उसी के अनुसार बूलर, अनुसयानम् का अर्थ 'निरीक्षण के दौरे पर' करता है। यह सही प्रतीत होता है, और बूलर ने इसके समर्थन में सेंट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी की सहायता से ब्राह्मण साहित्य में से प्रमाण उद्धृत

क्रिया है। इस अर्थ के पक्ष में पालि ग्रन्थों के प्रमाणों की भी कमी नहीं है। उदाहरण के लिए देखिए, मज्झिम-निकाय, जिल्द ३, पृ० ८, पक्ति १६; पृ० १७४, पक्ति ५ और १७। पर सेनार्ट इसका अर्थ 'सभा' करता है। पर यह अर्थ प्रथम तो इस कारण असंभाव्य प्रतीत होता है कि इस अर्थ के पक्ष में कोई प्रमाण नहीं। दूसरे जो निष्क्रम क्रिया अधिकतर प्रतियों में है, उसका कर्म कोई भौतिक वस्तु होनी चाहिए। इस प्रकार हम 'अनुसयान नियतु' तो कह सकते हैं पर 'अनुसयान निखमतु' नहीं कह सकते। हम 'सभा निष्क्रान्त' प्रयोग अवश्य करते हैं, पर इसी अर्थ में करते हैं कि 'वह सभा-भवन चला गया', इस अर्थ में नहीं करते कि 'वह सभा में गया या शामिल हुआ।' तीसरे, अनुसयानम् शब्द पृथक् जोगड़ा प्रज्ञापन में आता है पर उसकी धौलि वाली प्रति में नहीं आता। यदि इसका अर्थ सभा है, जैसा कि श्री सेनार्ट मानते हैं, तो इतना महत्त्वपूर्ण शब्द किसी भी प्रति में छूट क्यों गया, पर अगर इसका अर्थ सिर्फ 'दौरा या निरीक्षण दौरा' है तो वही भाव निष्क्रम क्रिया के प्रेरणा-र्थक रूप से निकल आता है और अनुसयानम् शब्द का प्रयोग परमावश्यक नहीं रहता। यही शब्द बसठ में मिली एक मुहर पर भी पढ़ा गया है, जिसके लेख को मैंने 'विसालि अनुसयान कटकारे' [विसालि (अफसरो) के दौरा कंप से] ASI AR, १६१३-१४, पृष्ठ १११ आदि और प्लेट एल) पढ़ा है। जायसवाल अनुसयान का अर्थ "पद से हटना या सरकारी तबादले पर जाना" करता है और शुक्रनीति का एक प्रमाण पेश करता है, पर वह इस अर्थ के पक्ष में नहीं है, बल्कि अफसरो का तबादला करने की वाछनीयता के पक्ष में है (JBORS १६०८, पृ० ३६-४०)।

५. यह एक द्वन्द समास है जिसका अर्थ है ब्राह्मण और श्रमण संप्रदायों के सन्यासी और साधु। देखो ऊपर, पृ० १४६-४७।

६. 'अपव्ययता अपभाडता साधु' का सेनार्ट ने यह अनुवाद किया है "व्यर्थ व्यय और वाणी की उग्रता से बचना अच्छा है।" बूलर अपव्ययता को छोड़ देता है। उसके अनुसार, 'अपभाडता साधु' का अर्थ है "नास्तिक आदर्शियों की भर्त्सना से दूर रहना अच्छा है।" ये दोनों विद्वान् इन दो शब्दों के पहले

भाग 'अप' को 'अप' उपसर्ग का 'अभावायक' प्रयोग समझने है। मैं दामस्त के इस विचार से सहमत हूँ कि (उस द्वारा बताये हुए कारणों से) यह 'अन्प' का तुल्यायक है (IA १६०८, पृ० २०)। यदि भाउ शब्द को हम भउ भर्त्सनायाम् से व्युत्पादित करें तो निःसंदेह उसका अर्थ भर्त्सना या वाणी की उग्रता होगा जैसा वूलर और सेनार्ट ने लगाया है, पर क्योंकि अपभांडता अपव्ययता के निकट रखा है, अतः भाउ शब्द का इस तरह अर्थ करना चाहिए कि जैसे बहुव्ययता एक पराकाष्ठा है वैसे ही बहुभाउता दूसरी पराकाष्ठा हो। यह तभी हो सकता है जब भाउ का अर्थ 'वस्तुएँ, संपत्ति' किया जाए। इस प्रकार अपभांडता का अर्थ 'अल्प सचय', जैसे अपव्ययता का अर्थ है 'अल्प व्यय'।

७. यह अशोक के लेखों के सबसे जटिल सबंधों में से है। सेनार्ट का निर्वचन : "सिद्धान्तों और परिभाषाओं की अधिक विस्तृत शिक्षा निष्ठावानों को देना सध का कार्य है।" थोड़ा रूपान्तर करके इस प्रकार कह सकते हैं — "विस्तार से (नैतिकता और इसके विविध नियमों का) आधार और स्वरूप समझाना (अर्थात् सूत्रों के अनुसार और निर्धारित क्रम से समझाना) सध का कार्य है।" वूलर के अनुसार इस सदभं का अर्थ यह है : "तथाच, सब सम्प्रदायों के शिक्षक और साधु, भगवान की उपासना में, शब्दों और भावों के अनुसार जो उचित है, उसकी शिक्षा देंगे।" अब हमें इस सदभं का ठीक भाव समझने का यत्न करना चाहिए। पहले तो, यहाँ युत शब्द का क्या अर्थ है ? स्पष्ट है कि यहाँ भी इसका वही अर्थ होना चाहिए जो इस लेख में अन्यत्र है। हम देख चुके हैं कि क्योंकि युतो का उल्लेख रज्जुको और प्रादेशिकों के साथ है जो अफसर थे, इसलिए वे भी एक प्रकार के अफसर ही थे; और हम यह भी देख चुके हैं कि वे किस प्रकार के अफसर थे। इससे 'निष्ठावान्' और 'जो उचित है' अर्थ, जो सेनार्ट और वूलर ने इस शब्द के किये हैं, सङ्गित हो गये। दूसरे, परिसा शब्द का, जिसे सेनार्ट ने सध या भिक्षुमडल का वाचक, और वूलर ने 'सम्प्रदायों के शिक्षक और साधु' का वाचक माना है, क्या अर्थ है ? यह ध्यान देने योग्य बात है कि परिसा शब्द शिला प्रज्ञापन ६ में भी आया है,

और हम आगे चलकर देखेंगे कि वहाँ इसका अर्थ 'मन्त्रि-परिषद्' है जैसा कि जायसवाल ने निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया है। यह अर्थ यहाँ बिलकुल ठीक बैठता है क्योंकि मन्त्रि-परिषद् का ही युक्तो को आदेश जारी करना उचित हो सकता है। अब 'गणना' शब्द रह गया जिसका अर्थ है 'हिस्सा करना, गिनना'। हम देख चुके हैं कि अशोक अपने अफसरों से अल्पव्ययता और अल्पभाडता के गुणों का उपदेश करने के लिए कहता है। पर यह निर्धारण कैसे हो कि उसकी प्रजा ये उत्तम गुण सीख रही है? इसलिए यह आवश्यक था कि उसके कुछ अफसर घर-घर जाकर निरीक्षण करें और यह हिस्सा लगाएँ कि प्रत्येक गृहस्थों ने कितना व्यय किया और कितनी वस्तुओं का व्यय या सचय किया। पर सब गृहस्थों के लिए एक अपरिवर्तनीय नियम बनाना असम्भव था। इसलिए कठिनाई पड़ने पर उन्हें मन्त्रणा देने के लिए परिषद् को आदेश दिया गया था (ऊपर पृ० ५२-५३)।

(४)

अनुवाद

बहुत काल बीत गया, सैकड़ों वर्षों से प्राणियों का वध, जीवों की हिंसा, सबधियों, ब्राह्मणों तथा श्रमणों का अनादर बढ़ता ही गया। परन्तु अब देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण के भेरीनाद द्वारा धम्म की घोषणा होती है, और पहले लोगों को विमानों, हाथियों, अग्नि-स्कंधों और अन्य दिव्य रूपों के दर्शन कराये जाते हैं। जैसा सैकड़ों वर्षों के अन्दर पहले कभी नहीं हुआ—आजकल देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी के धर्मानुशासन से प्राणियों की अहिंसा, जीवों की रक्षा, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों तथा श्रमणों का आदर, माता-पिता और वृद्धजनों की सेवा, ये तथा अन्य धर्माचरण कितने ही प्रकार से बढे हैं। देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस धर्माचरण को और भी बढ़ायेगा। और उसके पुत्र, पोत्र

तथा प्रपौत्र भी इस धर्माचरण को कल्पात^२ तक बढ़ायेगे, और धर्म तथा शील का आचरण करते हुए धर्म के अनुशासन का प्रचार करेगे, क्योंकि धर्मानुशासन ही श्रेष्ठ काम है और बिना शील बातों के लिए धर्माचरण बहुत ही कठिन है। इस धर्मानुशासन की घटती न होना, वरन् सदा बढ़ती ही होना श्रेष्ठ है। इसी प्रयोजन से यह (धम्मलिपि) लिखवायी गयी है कि लोग इस उद्देश्य की वृद्धि में लगे और उसकी घटती न होने दे। अपने अभिषेक के बारहवें वर्ष देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने यह प्रज्ञापन लिखवाया।

टिप्पणियाँ

१. इस सदर्म के अनेक निर्वचन किये गये हैं, पर उन सब निर्वचनों को इस आधार पर दो भागों में बाँटा जा सकता है कि वे इन्हे स्थलीय पदार्थों का वाचक मानते हैं या आकाशीय पदार्थों का। सेनार्ट और बूलर ने पहले प्रकार का निर्वचन पसन्द किया है, और कर्न ने तथा कुछ समय तक हुल्टश ने, दूसरा ठीक माना है (JRAS १९११, ७८५ आदि)। मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझे, अधिक स्वाभाविक होने के कारण, पहला निर्वचन मान्य प्रतीत होता है। पर इस सदर्म का मैं जो वास्तविक अर्थ लगाता हूँ, वह सेनार्ट और बूलर के अर्थ से भिन्न है, और IA, १९१३, २५ आदि, में प्रस्तुत किया गया है, और अत्यधिक हर्ष की बात है कि हुल्टश ने मेरा विचार स्वीकार कर लिया है (वही, १९१३, ६५१, आदि।)

जो विविध अनुवाद प्रस्थापित किये गये हैं, वे निम्नलिखित हैं : कर्न :—
“पर अब, जब राजा देवानाप्रिय प्रियदर्शी धर्माचरण करता है, उसकी भेरी धार्मिकता का आह्वान बन गयी है और देवों के रथों की प्रतीतियाँ, और आकाश में स्वर्गीय हाथियों की और अग्नि-कटुकों की और अन्य चिह्नों की प्रतीतियाँ, जनता को दिखायी देती हैं” (IA. V. २६१)।

सेनार्ट :—“पर अब देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी ने, धर्माचरण में निष्ठा रखते हुए, भेरीनाद (ऐसी रीति से, कराया है कि (मह) धर्म

(ही) का नाद बन गया है, और लोगों को अवशेष-पात्रो, हाथियो, मन्त्रालो और अन्य स्वर्गीय दृश्यों के जलूसों की सूचना देता है। (वही X ८४),

बूलर — “पर अब, देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी द्वारा धार्मिक आचरण का परिपालन किये जाने के परिणामस्वरूप, भेरीनाद, या धर्म का नाद सुनायी पडा है, और जनता को देवों के रथों, हाथियों और अन्य स्वर्गीय दृश्यों के नजारे दिखाये गये।” (EI, II ४६७)

इस सदर्थ पर मेरा निर्वचन प्रकाशित होने के बाद हाल में ही एस० कृष्णस्वामी अय्यंगार ने समीक्षा की है (JRAS, १९१५, पृ० ५२१, IA, १९१५, पृ० २०३)। उनका अनुवाद निम्नलिखित है—“पर देवानाप्रिय प्रियदर्शी द्वारा धर्म (नैतिक नियम) अपना लिये जाने के परिणामस्वरूप भेरीनाद धर्मनाद बन गया है। जनता के लिए प्रस्तुत दृश्य, जलूसों के रथ, हाथी, अग्नि-क्रीड़ा तथा अन्य, देवों के दृश्य।” मुझे भय है कि यह अनुवाद स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि अज्ञानि शब्द स्पष्ट बताता है कि अशोक अपनी प्रजा को जो विमान, हस्ती और अग्नि-स्कन्ध दिखाता है वे ‘दिव्यानि रूपाणि’ थे। इसलिए वे जलूसों के रथ, हाथी और अग्नि-क्रीड़ा नहीं हो सकते, जो लौकिक पदार्थ हैं। एफ० डब्लू० टामस ने भी अग्नि स्कन्ध का अर्थ अग्नि-क्रीड़ा किया है (JRAS १९१४, ३६५) पर यह नहीं बताया कि अग्नि-क्रीड़ा से प्रजा में धार्मिकता कैसे उत्पन्न और परिवर्धित हो सकती है।

इस सदर्थ के विशदीकरण के लिए, ऊपर देखिए, पृ० १०८-१११ और १२०-२२। मेरी उपरिनिर्दिष्ट (IA, १९१३, पृ० २५ और ११) टिप्पणी में सिर्फ विमान शब्द की सतोपजनक व्याख्या है। इसके लिए विमानवत्सु नामक एक पाली पुस्तक की ओर ध्यान खींचा गया था। वही पुस्तक हस्ती, और अग्नि या ज्योतिष्क शब्दों की भी व्याख्या करती है। इस पुस्तक से पता चला है कि जो लोग धार्मिक जीवन बिताते हैं, उनमें से कुछ परलोक में न केवल विमान या दिव्य महल, बल्कि हस्ती या श्वेत दिव्य हाथी भी प्राप्त होते

हैं (पृ० ४, पक्ति १; पृ० ५६, पक्ति १६ और ३५) तथा अग्नि या जोति-
लवध, अर्थात् विद्युत् के समान प्रदीप्त रूप, नक्षत्र (पृ० ७, पं० २८) या अग्नि
(पृ० १२, पं० ३३) भी मिलते हैं। अज्जानि च दिव्यानि रूपाणि के अन्तर्गत
स्वर्गीय अश्व, पोत, और विमानवत्यु पुस्तक में वर्णित ऐसे ही अन्य यान भी हैं
(पृ० १२, पं० २८, पृ० ४ पं० २६)।

२ सवट-कप (=सवत्त-कल्प) के लिए, देखिए JRAS, १९११,
पृ० ४८५, टि० १)

(५)

अनुवाद

देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी यह कहता है : भलाई का काम
करना कठिन है, जो प्रथम बार कोई ऐसा काम करता है, वह एक
कठिन काम पूरा करता है। मैंने बहुत से भलाई के काम किये हैं।
यदि मेरे पुत्र, पौत्र तथा उनकी भी सन्तानें कल्पांत तक ऐसा
करेगी तो यह एक महान् पुण्य होगा परन्तु जो (अपने धर्म का)
थोड़ा भी त्याग करेगे वे पाप के भागी होंगे। पाप करना सरल है।^१

प्राचीन समय से धर्म-महामात्र^२ कभी नियुक्त नहीं हुए थे।
मैंने अपने अभिषेक के तेरहवें वर्ष धर्म-महामात्र नियुक्त
किये हैं। वे सब धार्मिक सम्प्रदायों में, धर्म की रक्षा और अभि-
वृद्धि के लिए तथा धार्मिक लोगों^३ के हित और सुख के लिये
नियुक्त किए गए हैं। वे यवनो, कवोजो, गघारो^४ तथा पैतृक
राष्ट्रिको और पश्चिमी तट के अन्य लोगों के देश में, ब्राह्मणों
और गृहपतियों के, जो भृत्य^५ बन गए हैं, और असहायों तथा वृद्धों
के हित और सुख में रत हैं, तथा धर्मपरायण लोगों की बाधाएँ^६
हटाने में (भी रत हैं)। (धन का) अनुदान करते हैं, तथा जो

व्यक्ति केंद्र है उसकी, सन्तानों के बोझ, अत्याचार का शिकार या वृद्ध होने के अनुसार, बाधाएँ हटवाते या रिहाई करवाते हैं। वे लोग यहाँ पाटलिपुत्र में तथा बाहर के सब नगरों में, मेरे तथा मेरे भाइयों, बहनों और अन्य सम्बन्धियों के महलों में सर्वत्र नियुक्त हैं। ये धर्म-महामात्र मेरे सारे राज्य में धर्मयुक्त लोगों को, तथा जो धर्म में अधिष्ठित हैं, धर्म का आश्रय लेना चाहते हैं, या दान करना चाहते हैं, उनको सहायता देने के लिए नियुक्त हैं। इसलिए यह धर्मलिपि लिखवायी गयी है कि यह चिरस्थायी रहे और कि मेरी सतति (मेरा) अनुसरण करे।

टिप्पणियाँ

१. इस लेख के प्रारम्भिक भाग को उस जगह से अलग कर लिया जाता है, जिस जगह धर्म-महामात्रों की नियुक्ति का उल्लेख है, मानो ये दो भाग असंबद्ध हों। ऐसा करना अहेतुक है। अशोक के प्रत्येक लेख में कोई एक विचार सारे में व्याप्त है जो इसके विभिन्न भागों को जोड़े हुए है। इसलिए प्रारम्भिक भाग का अनुवाद इस तरह करना चाहिए जिससे यह प्रकट हो कि यह बाद वाले भाग से संबद्ध है। तदनुसार, कलान, या कल्याण का अर्थ 'अच्छा कार्य' नहीं है, बल्कि ऐहिक और पारलौकिक 'मंगल' है। अशोक कहता है कि मैंने इस तरह का बहुत मंगल किया है, और अपने पुत्रों, पौत्रों तथा वंशजों को अपने पदचिह्नों का अनुसरण करने के लिए उद्बोधित करता है। वह उनसे आग्रह करता है कि वे इस कर्त्तव्य को आशिकरूप से न करके पूरे तौर से करें क्योंकि पाप, अर्थात् ऐहिक और पारलौकिक दुष्कार्य मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसलिए मनुष्य को और विशेषकर राजा को, सदा सतर्क रहना चाहिए और प्रजा के प्रति अपने किसी कर्त्तव्य की उपेक्षा न करते हुए अपने पूर्ण कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। मानसेहरा, धौलि, और कालसी वाली प्रतियों में पाये हि नाम सुपदालये वाक्य है, जिसका मेरी सम्मति में यह अर्थ है—“पाप का अच्छी तरह उच्छेद अपेक्षित है।” इसके बाद अशोक हमें बताता

है कि अपनी प्रजा को कल्याण, अर्थात् ऐहिक और पारलौकिक मंगल, प्राप्त कराने की योजना में धर्म-महामात्रों की नियुक्ति भी एक सहायक है, जो प्रजा को यह दोनों प्रकार का मंगल प्राप्त कराने के लिए नियुक्त किये गये थे। कल्याण और पाप के इस वैषम्य के लिए देखो स्तम्भ प्रज्ञापन ३।

२. बूलर ने धर्म-महामात्र शब्द का अर्थ “धार्मिक कानून का अधिष्ठाता” (EI., II. १६७) और स्मिथ ने “धार्मिक कानून का विनियामक” (अशोक, पृ० १६८) किया है। इसका अनुवाद न करना ही अधिक अच्छा है क्योंकि कोई भी अनुवाद भ्रामक होगा। अशोक के समय से पहले अनेक महामात्र हुए थे, पर वह पहला राजा था जिसने धर्म-महामात्र, अर्थात् धर्म की अभिवृद्धि के लिए महामात्र नियुक्त किये।

३. विभिन्न लेखों में ‘ध’ शब्द का विवेकहीन प्रयोग होने के कारण, विशेषकर गिरनार घाटी प्रति में धम्मयुत्तस के बाद इसका प्रयोग होने के कारण, इस वाक्य का गठन शिथिल हो गया है। तो भी मेरा विचार है कि यहाँ पर यह आशय है कि धर्म-महामात्र अशोक के राज्य में सब पासडों और धर्मयुक्तों की देखभाल के लिए थे। पासड के लिए, देखिए ऊपर, पृ० १४६-५०। इस लेख में धम्मयुत्त शब्द तीन बार आता है, और बूलर ने इसका हर बार अलग अर्थ किया है। सेनाट ने जो आलोचना की है उसका उत्तर देना असंभव प्रतीत होता है। (IA, १८६१, पृ० २३६, टि० ३०) और वह इसका अनुवाद “(सत्य) धर्म में निष्ठावान” सुझाता है। पर इसका “धर्मपूर्ण, पवित्र व्यक्ति” अनुवाद अधिक अच्छा मालूम होता है। टामस इसका अर्थ “धर्म विभाग के अधिकारी” करता है (JRAS, १९१५, पृष्ठ १०२-३) और स्मिथ “धर्मविधि के अधीन-अधिकारी” (अशोक, पृ० १७०) करता है। इस प्रकार वे इस शब्द को ‘धर्म-युक्त’ मानते हैं, ‘धर्मयुक्त’ नहीं। पर यह प्रक्रिया आपत्ति-योग्य है। पहले तो, अशोक ने धर्म-युक्तों की नियुक्ति का कहीं उल्लेख नहीं किया—यदि उसने उनकी नियुक्ति की होती तो वह उनका उल्लेख अवश्य करता, जैसे कि उसने धर्म-महामात्रों का किया है। और यह मानने के लिये कोई कारण नहीं कि इस तरह के अधिकारी अशोक के काल से पहले से ही

विद्यमान थे। दूसरे, यह बात समझ में नहीं आती कि यदि धर्म-युत राजा की प्रजा न होकर उच्च राजकर्मचारी थे तो धर्म-महामात्र धर्म-युक्तों के हित और सुख के लिए क्यों चिन्तित होते और उन्हें उपदेश तक देते। तीसरे, स्तम्भ प्रज्ञापन ७ में, रज्जुको के 'धम्म-युत जन' को उपदेश देने की चर्चा है, जहाँ यह उन्हीं लोगों का वाचक हो सकता है जो अशोक के धम्म के अनुयायी हैं।

धर्म-महामात्र के दो प्रकार के कार्य थे—एक तो प्रजा के भौतिक सुख के सम्बन्ध में था और दूसरा आध्यात्मिक सुख के सम्बन्ध में। देखिए ऊपर, पृ० ५८ आदि; तथा पृ० १२६-२७ आदि।

४. बूलर की सम्मति में, अपलता के बाद विराम चिह्न है, और वह योन-कम्बोज-गधालानां को इसके पूर्ववर्ती पद के साथ जोड़ता है। पर मैं सेनार्ट के इस विचार से सहमत हूँ कि पूर्ववर्ती और अनुवर्ती को साथ मिलाकर पढ़ना चाहिए। इसके पक्ष में IA, १८६१, पृ० २४०, टि० ३०, में योग्यतापूर्वक कारणों का प्रतिपादन किया गया है। योनो, कम्बोजो, गधारो आदि की पहचान के लिए देखिए ऊपर, पृ० २७ आदि।

५. व्रमणिभ और इसके रूपभेद, जैसा कि बूलर ने बताया था (VOJ XII, ७६), साहित्यिक पाली के ब्राह्मनिब्भ (ब्राह्मण-इभ्य) का समतुल्य है, जो महानारद कस्सप जातक में कम से कम तीन श्लोको में आता है। इस समास के इब्भ शब्द की व्याख्या भाष्य में 'गृहपति' की गयी है। यह वास्तव में जिस सामाजिक वर्ग को सूचित करता है, उसके लिए, देखो ऊपर पृष्ठ १५८-५९। 'भूतमय' (G), भटमय (S.M & K.), या भटिमय (D), शब्द ने पुरालेखशास्त्रियों को बहुत परेशान किया है, और इसकी अनेक व्याख्याएँ की गयी हैं, 'सैनिक और योद्धा' = भट—मय (सेनार्ट), 'वैतनिक सेवक' = भूत—मय (बूलर), और सेवक तथा स्वामी = भट-म्-अयेसु (फ्रैंक)। मैं सिर्फ बूलर से सहमत हो सकता हूँ। यहाँ भट का अर्थ योद्धा नहीं हो सकता। गिरनार वाली प्रति में इसका जो रूपांतर 'भूत' है, उसके कारण यह अर्थ असंभव है। मय भी मय का समतुल्य नहीं हो सकता क्योंकि उस अवस्था में

इसका र् शाहवाजगद्दी और मानसेरा वाली प्रतियों में कायम होना । इसलिए इस शब्द को संस्कृत भूत मय के समान मानना स्वाभाविक है । पर मैं इस शब्द को ब्रमणिभ का विशेषण मानता हूँ और इस तारे का अर्थ 'ब्राह्मण और गृहपति, जो भूतय थे' करता हूँ । यहाँ ब्राह्मण और वैश्य वर्गों के सत्र व्यक्तियों से आशय नहीं है, बल्कि सिर्फ उनसे आशय है जो अनाथ और वृद्ध थे । इसमें संदेह करने की आवश्यकता नहीं कि कुछ ब्राह्मण और वैश्य इस गिरी हुई अवस्था में थे । राइस-डेविड्स लिखता है : "जगह-जगह ब्राह्मणों के कृषि करने का और ग्वातों और गुरियों के रूप में नौकरी करने का उल्लेख है", (बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ ५७) । ऐसी दलित अवस्था में पड़े हुए गृहपतियों के वर्णन के लिए, देखो फिफ की 'सोशल आर्गनाइजेशन', आदि, अनुवाद, पृष्ठ २५५-६ ।

६ पृथक् कलिंग प्रज्ञापन १ में, अशोक अपने कुछ अधिकारों को चेतावनी देता है कि उसकी प्रजा के किसी व्यक्ति को 'वधन' या 'परिवर्लेश' (पृष्ठ ८४, पं० १) में न पड़ना पड़े । उसी प्रज्ञापन के अन्त में, अपनी चेतावनी दोहराते हुए, वह परिवोध और परिवर्लेश शब्द प्रयुक्त करता है (पृष्ठ ८६, पं० ७) । इस प्रकार परिवोध और वन्धन प्रायः एक चीज हैं और इसका अर्थ कंद या वन्धन ही किया जा सकता है । टामस द्वारा JRAS, १९१५, पृष्ठ ९९-१०६ ने उद्धृत किये गए सदर्भों में भी यह अर्थ बहुत ठीक बैठता है । गिरनार वाली प्रति में मिलने वाले दूसरे पाठ 'परिवोध' के बारे में, उसका यह विचार सही प्रतीत होता है कि दोनों शब्दों की यह गड़बड़ी उस समय के चलन के कारण हुई है ।

७ मैंने इस सदर्भ का ऐसा कोई अनुवाद नहीं देखा जिसमें इसके अनेक भागों को एक दूसरे के साथ सम्यक्तया जोड़ दिया गया हो । इस सदर्भ में धर्म-महामात्रों से किस-किस कार्य की आशा की जाती है, इसके ज्ञान के लिए देलिए, ऊपर पृष्ठ ५८-६० ।

८ इस सदर्भ के निर्वचन के बारे में मैं, कुल मिलाकर, सेनार्ट से सहमत हूँ । वूलर वन्धन-वधस में आये वध शब्द का अर्थ शारीरिक दंड करता है । पर सब लेखों में यह शब्द वध है, वध नहीं । 'वबरयोरभेदः' का नियम अशोक

के अभिलेखों में किसी भी तरह लागू नहीं होता। यह पद संस्कृत के 'बन्धन-बद्धस्य' का समतुल्य है और इसका अर्थ है 'बन्धन में बंधे हुए, अर्थात् कैदी का'। पटिविधान शब्द शिला-प्रज्ञापन ८ में '(धन का) वितरण या अनुदान' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, और बहुत ठीक बैठता है। बूलर ने अभिकर शब्द अभि+कृ धातु से बनाया है और जातक, IV १२१, श्लोक ७२, का प्रमाण दिया है जिसमें अभिकिरति शब्द का अर्थ है 'दवा लेता है'। एक और निर्वचन के लिए, देखो JBORS, १९१८, पृष्ठ १४४-६।

(६)

अनुवाद

देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है—प्राचीन समय से ऐसा पहले कभी नहीं हुआ कि सब समय राजकार्य और राजकीय समाचार राजा के सामने पेश किये जाते हों। इसलिए मैंने यह (प्रबन्ध) किया है कि हर समय और हर स्थान पर, चाहे मैं भोजन कर रहा हूँ, चाहे खास महल में, चाहे अन्तःपुर में, चाहे पशुशाला^१ में, चाहे घोड़े की पीठ पर^२, और चाहे उद्यान में होऊँ, सब जगह राजकीय प्रतिवेदक मुझे प्रजा के कार्य की सूचना दे सकते हैं। सब जगह मैं प्रजा का कार्य करता हूँ। और यदि मैंने स्वयं किसी बात के जारी या उद्घोषित करने का आदेश दिया हो, अथवा यदि कोई आपाती कार्य महामात्रों पर आ पड़े, और परिषद्^३ में उस पर मतभेद या अस्वीकृति हो जाये तो मैंने आदेश दिया है कि इसकी मुझे सब स्थानों पर हर समय सूचना दी जाए। राजकार्य में मैं कितना ही उद्योग करूँ, पर उससे मुझे सतोष नहीं होता। क्योंकि सब लोगों की भलाई करना ही मैंने अपना उत्तम कर्त्तव्य माना है, और यह उद्योग^४ तथा राजकार्य संचालन से ही पूरा हो सकता है। सर्वलोक-हित से बढ़कर और कोई अच्छा काम

नहीं है। जो कुछ पराक्रम मैं करता हूँ—उसका क्या प्रयोजन है ? —जिससे मैं, प्राणिमात्र का जो ऋण मेरे ऊपर है उससे, मुक्त होऊँ और उनका इस लोक तथा परलोक में हित बढ़े। यह धर्मलेख इसलिए लिखवाया गया कि यह चिरस्थायी रहे और मेरे पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र सब लोगो की भलाई के लिए इसी प्रकार सदा उद्योग करे। पर अत्यधिक प्रयत्न के बिना यह कार्य कठिन है।

टिप्पणियाँ

१ वच का ठीक अर्थ अभी स्थिर नहीं हुआ। इसका अर्थ 'गुप्त विश्राम-स्थल' (सेनार्ट), 'शौचालय' (बूलर) और 'आड़ या टट्टी' (स्मिथ) किया गया है। स्पष्ट है कि पिछले दो ने इसे वर्चस् के समतुल्य माना है, पर इसका अर्थ तो सिर्फ 'मल' होता है। जायसवाल (IA, १६१८, पृ० ५३-५५) ने ठीक लिखा है "कि कोई भी बुद्धियुक्त राजा अपने अफसरो से यह नहीं कह सकता कि उसे शौचालय में राजकार्य की सूचना दी जाए" और आप कहते हैं कि 'वच' शब्द व्रज के लिए है, और शब्द के इस तरह रूपान्तरित होने की व्याख्या करते हुए बताते हैं कि शिला-प्रज्ञापन १३ (शाहबाजगढ़ी) में व्रजन्ति के स्थान पर व्रचन्ति शब्द आता है। उन्होंने यह भी बताया है कि कोटिल्य के अर्थशास्त्र में व्रज शब्द तीन बार आया है और वहाँ यह "पशुओं, घोड़ों, ऊँटों आदि के रेवड़" का वाचक है। शिला-प्रज्ञापन १२ में 'वचभूमिकः' या चरागाहों के अध्यक्ष अफसरो का उल्लेख है। ऊपर देखो, पृ० ५८। पर जायसवाल इसका थोड़ा भिन्न अर्थ लगाते हैं। जायसवाल की प्रस्थापना को अब पूर्ण रूप में मानने में एकमात्र आपत्ति यह है कि शाब्दिक रूप-भेद की कठिनाई पूरी तरह दूर नहीं होती क्योंकि इस उदाहरण में ज के स्थान पर च सिर्फ शाहबाजगढ़ी और मानसेरा प्रज्ञापनों में मिलता है और इसलिए गिरनार तथा अन्य स्थानों के लेखों के 'वच' शब्द को 'व्रज' का स्थानीय मानना तर्कसंगत नहीं। विधुशेखर भट्टाचार्य शास्त्री भी वच को व्रज के समतुल्य मानते हैं, पर वह व्रज का अर्थ सड़क करते

है (IA, १६२०, पृ० ५६) । उनकी सम्मति में यह उस समय के लिए है जब राजा थोड़ी देर के लिए सड़क पर घूमने गया हो ।

२. बूलर विनीत को 'विनीतक' अर्थात् 'पालकी' मानता है । जायसवाल इसे कौटिल्य के विनय के समतुल्य मानता है और इसका अर्थ सैनिक अभ्यास करता है, और अपने पक्ष के समर्थन में अर्थशास्त्र का एक सदर्थ उद्धृत करता है । जायसवाल के अर्थ के विरोधी तर्क राधागोविन्द बासक ने प्रस्तुत किये हैं (IA. १६१६, पृ० १४-१५) । बासक ने यह भी बताया है कि अमरकोष (२८.५५) में विनीताः साधुवाहिन आता है, अर्थात् विनीत शब्द आसानी से चढ़ने योग्य या अच्छी तरह सघाये हुए घोड़ों का वाचक है । मेदिनी से इस अर्थ का समर्थन होता है, जिसमें लिखा है 'विनीत. सुवहास्ये स्यात्' । उसी से विनीतक शब्द बना है जिसका अमरकोष के अनुसार अर्थ 'परम्परा-वाहन' है । मेरी सम्मति में यह ऐसे किसी भी वाहन का वाचक है जिसमें अच्छी तरह सघाये हुए घोड़े जोड़े जाते हो । मज्झिम निकाय में, जैसा कि विधुशेखर शास्त्री (IA. १६२०, पृ० ५५) ने बताया है, कोसल के राजा पसेनदि और उसके सात रथ-विनीतों के श्रावस्ती से साकेत जाने का उल्लेख है । ये रथ-विनीत दूर-दूर पर स्थित हैं और जब दूसरे घोड़े पर पहुँचते हैं तब पहला वहाँ छोड़ देते हैं । यह रथ-विनीत क्या चीज है ? वह इसका अर्थ करता है 'रथ के रूप में विनीत' । शायद इसका यह अर्थ करना अधिक ठीक है कि 'रथ के लिए सघाया गया घोड़ा' । इस प्रकार विनीत का वही अर्थ हो जाता है जो कोषों में दिया है ।

३. यहाँ सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द परिसा (परिषत्) है जिसका अर्थ "बौद्ध भिक्षु सघ" (सेनार्ट) और "किसी जाति या संप्रदाय की समिति" (बूलर) किया गया है । जायसवाल का यह विचार ही सही प्रतीत होता है कि यह कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित मन्त्रि-परिषत् (IA, १६१३, २८२ आदि) का वाचक है । यह प्रशासन सम्बन्धी प्रज्ञापन है और इसमें इसी अर्थ की आशा करनी चाहिए । परन्तु इस शब्द के, और इस सदर्थ के, एक और अर्थ के लिए, देखो

JASB १६२०, पृ० ३३१ आदि । अगला महत्त्वपूर्ण शब्द 'निष्कृति' है जो स्तम्भ प्रज्ञापन ७ में भी आता है । उस शब्द का धातु मूल स्तम्भ प्रज्ञापन ४ और पृथक् कर्लिंग प्रज्ञापन १ में भी आता है । पृथक् कर्लिंग प्रज्ञापन १ में इसका अर्थ निश्चित रूप से "विचार करना" है, पर स्तम्भ प्रज्ञापन ४ में 'मृदु करना, अवलुब्ध करना' है । शिला-प्रज्ञापन ६ और स्तम्भ प्रज्ञापन ७ में दूसरा अर्थ अधिक ठीक बैठता है । इसलिए यहाँ निष्कृति को 'अस्वीकृति' का वाचक माना जा सकता है । इस सदभं के पूरे अर्थ के लिए, देखो ऊपर, पृ० ५२-५३ आदि ।

४ बूलर ने महाभारत के शान्ति पर्व के (अध्याय ५८, श्लोक १३-१६) राजधर्म प्रकरण के श्लोक उद्धृत किये हैं जो बृहस्पति के अर्थशास्त्र के हैं, और जिनमें सब शासको को उद्योग करने का आदेश दिया गया है । कौटिल्य में (पृ० ३८) भी यही विधान है ।

(७)

अनुवाद

देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा चाहता है कि सब जगह सब सम्प्रदायों के मनुष्य निवास करे क्योंकि वे सब समय और आत्मशुद्धि चाहते हैं । परन्तु भिन्न-भिन्न मनुष्य इन बातों को पूरा या थोड़ा पालन करते हैं क्योंकि भिन्न-भिन्न मनुष्यों की इच्छा और अनुराग भिन्न-भिन्न होते हैं । मनुष्य कितना भी दान करे पर यदि उसमें संयम, आत्मशुद्धि, (कृतज्ञता और दृढभक्ति) न हो तो वह निश्चय ही नीच है ।^१

टिप्पणी

१ इस प्रज्ञापन के अन्तिम वाक्य का निर्देष्टन कुछ कठिन है । यह निचा या निचे शब्द के अर्थ और बल को ठीक-ठीक समझने पर निर्भर है । बूलर इसका अर्थ निम्न प्रकार करता है—“पर विनयी आदमी मे, जिसके लिए बहुत उदारता भी असंभव है, आत्म-संयम, हृदय-शुद्धि, कृतज्ञता और दृढ

अनुराग प्रशसनीय है ।” यह अर्थ ठीक नहीं, क्योंकि पहले तो, ‘निचा’ का अर्थ विनयी नहीं है, ‘नीच व्यक्ति’ है । दूसरे, G का निचा शब्द ‘निचाय’ के लिए नहीं आ सकता । तीसरे, वाढ शब्द यहाँ क्रिया-विशेषण है, विशेषण नहीं, और इसका अर्थ ‘प्रशसनीय’ कभी नहीं हो सकता । एफ० डब्लू० टामस का अनुसरण करते हुए स्मिथ यह अर्थ करता है—“जिस व्यक्ति के लिए अत्यधिक उदारता असंभव है, उसके लिए भी इन्द्रिय-सयम, मन-बुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़ता सर्वथा अपरिहार्य हैं ।” इस प्रकार टामस नैमित्तिक या आकस्मिक के मुकाबले में निचे-नित्य अर्थात् ‘स्थायी’, ‘अनिवार्य’ अर्थ करता है । यदि यहाँ निचे शब्द नित्य के समवुत्पन्न होता तो कम से कम K D और J में नितिग्र होता । इसके अतिरिक्त, यदि यह शब्द विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ होता तो सब लोगो में यह ‘निचा’ होता जिससे इसका अपने पूर्ववर्ती शब्द दिढा-भतिता से मेल बैठ जाता । इस तथ्य से कि G में निचा है और अन्य प्रतियो में निचे है, स्पष्ट प्रकट होता है कि यह कर्तृकारक में है—निचा बहुवचन में और निचे एकवचन में । G में एकवचन यस से सम्बन्धित ‘निचा’ से परेशान होने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह गड़बड़ी अशोक के लेखों में और जगह भी है । उदाहरण के लिए शिला-प्रज्ञापन ५ (G) के निम्न सदर्थ को देखिए—मम पुता च पोत्रा च पर च तेन ये मम अपच ग्राव सबटकपा अनुवतिसरे तथा सो सुकत कासति, जिसमें बहुवचनात् अनुवतिमरे और एकवचनात् कासति का कर्त्ता एक ही है । अशोक का आशय यह है कि सयम और भाव-बुद्धि ऐसे श्रेष्ठ गुण हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को इनका अपने अन्दर विकास करना चाहिए । ये गुण, तथा अन्य नियम, प्रत्येक सम्प्रदाय सिखाता है । किसी सम्प्रदाय का कोई व्यक्ति इन सब गुणों को व्यवहार में लाएगा, इसमें सन्देह है । पर उसके लिए इन दो गुणों को अपने अन्दर पैदा करना परमावश्यक है, जिनकी पूर्ति कितनी भी अधिक उदारता प्रदर्शित करने में नहीं हो सकती । यह प्रज्ञापन शिला-प्रज्ञापन १२ का प्रतिरूप मालूम होती है जिसमें अशोक स्पष्ट कहता है कि नैदान और पूजा को उतना महत्त्व नहीं देता जितना वाणी के सयम, वचगुति, और अन्य सम्प्रदायो के सिद्धान्तों की जिज्ञासा को देता हूँ । इस प्रज्ञापन में भी अशोक दान

को उतना महत्त्व नहीं देता जितना समय को, जो वही चीज है जो वचनगुति है, और भावशुद्धि को, जिसका अर्थ 'हृदय की पवित्रता' हो सकता है जिससे किसी अन्य सम्प्रदाय के प्रति दुर्भावना न रहे ।

(८)

अनुवाद

(दीर्घ) काल से राजा लोग विहार-यात्राओं^१ पर जाया करते थे । इनमें वे शिकार तथा अन्य आमोद-प्रमोद करते थे । देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी ने अपने अभिषेक के दस वर्ष बाद सबोधि (बोधिवृक्ष) की यात्रा की । इस प्रकार धम्मयात्रा की प्रथा पड़ी । इन धम्मयात्राओं में ब्राह्मण और श्रमण भिक्षुओं के दर्शन किए जाते हैं और उन्हें सोना दान किया जाता है, जनपदवासियों से मिलना, धम्म-सम्बन्धी अनुशासन और प्रश्न करना होता है । तब से^२ देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी को दूसरे क्षेत्र में इस प्रकार की यात्राओं में बहुत आनन्द आता है ।

टिप्पणियाँ

१. विहार-यात्रा का वर्णन महाभारत में आता है, ऊपर पृ० १६ ।

२. यहाँ सबसे दुर्बोध 'अयाय सबोधि' शब्द है । इस सर्वभ के विविध पाठों और मेरे निर्वचन के लिए, देखिए IA, १६१३, पृ० १५६ आदि ।

३. तदोपया तदोपर्यात् का समतुल्य माना गया है, जिसका अर्थ है, 'तब से' । तो क्या यह, कम से कम धीलि और जोगड़ा प्रतियो में तदोपरिया नहीं होना चाहिए था ? भागे अन का अर्थ 'बूलर ने पिछले आनदों के बदले में' किया है ।

(६)

अनुवाद

देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है—रोगों, विवाहों^१, और पुत्रों के जन्म तथा यात्रा पर मनुष्य अनेक मगला-चार करते हैं। इन तथा ऐसे अन्य अवसरों पर लोग अनेक मगलाचार करते हैं। पर स्त्रियाँ बहुत प्रकार के (पर) क्षुद्र, निरर्थक कृत्य करती हैं। मगलदायक कार्य अवश्य करने चाहिए। पर ऐसे मगल-कार्य का कोई फल नहीं होता। पर उस मगल-कार्य का बहुत फल होता है जो धम्म-मगल^२ होता है। उसमें दासों और सेवकों से शिष्ट व्यवहार और गुरुजनों का आदर श्रेष्ठ (समझा जाता है), प्राणियों के साथ आत्मसंयम का व्यवहार अच्छा (समझा जाता है)। ये और ऐसे अन्य कार्य धम्म-मगल हैं। इसलिए पिता, पुत्र, भाई, स्वामी (मित्र या परिचित, यहाँ तक कि पड़ोसी को भी) कहना चाहिए—“यह श्रेष्ठ है, यह मंगल तब तक करते रहना चाहिए जब तक वह लक्ष्य पूरा हो। और इसके पूरा हो जाने के बाद मैं इसे फिर करूँगा।”^३

(G., D. और J. पाठ)

और यह कहा गया है—“दान श्रेष्ठ कार्य है।” पर धम्म के दान या अनुग्रह के तुल्य कोई दान या अनुग्रह नहीं है। इसलिए मित्र, सहानुभूति रखनेवाले, सम्बन्धी या साथी को विभिन्न बातों में (एक-दूसरे को) उपदेश करना चाहिए। “यह धर्म है, यह श्रेष्ठ है इससे स्वर्ग प्राप्त किया जा सकता है।” और इसके द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति की अपेक्षा और क्या अधिक प्राप्तव्य हो सकता है ?

(K., S और M पाठ)

क्योंकि प्रत्येक सासारिक मंगल-कार्य सदिग्ध प्रकार का है। सम्भव है कि इससे लक्ष्य-प्राप्ति हो जाए और सम्भव है कि यह इस ससार में न रहे। पर यह धम्म-मगता समय से प्रतिवधित नहीं है। यदि यह लोक में वह लक्ष्य न भी प्राप्त कराये तो भी वह परलोक में अनन्त पुण्य प्राप्त कराता है। पर यदि यह वह लक्ष्य प्राप्त करा दे, तो दोनों यही प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् धम्म-मगल द्वारा इस लोक का लक्ष्य और दूसरे लोक में अनन्त पुण्य की प्राप्ति का लक्ष्य पूरे हो जाते हैं।

टिप्पणियाँ

१. आवाह-विवाह पद के लिए देखो दीघ-नि०, १. ६६।

२. इस प्रज्ञापन के विभिन्न भागों की व्याख्या के लिए, देखो ऊपर पृ० १०२, १०३, १५८।

३ यह सिर्फ K. S. और M में पाया जाता है (JRAS १९१३, पृ० ६५४ आदि)।

(१०)

अनुवाद

देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी यश या कीर्ति को कोई बड़ी चीज नहीं मानता। इसे वह जो कुछ भी बड़ी चीज समझता है वह सिर्फ इसलिए कि वर्तमान और भविष्य में उसकी प्रजा धर्म को सुनने और धर्म के उपदेशों का पालन करने की इच्छा करे। देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी सिर्फ इस काम में यश या कीर्ति चाहता है। देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी जो कुछ उद्योग करता है वे सब परलोक के लिये हैं, जिससे प्रजा को कम

से कम परिस्त्रव^३ मिले । पर जो अपुण्य^३ है वही परिस्त्रव है । पर अत्यधिक उद्योग^४ और त्याग के बिना यह छोटे और बड़े अफसरो^५ के लिए करना कठिन है । पर बड़े अफसरो के लिए यह अत्यधिक कठिन है ।

टिप्पणियाँ

१. तदात्त्व = तत्काल, वर्तमान काल; आयति = भविष्य, दीर्घाय—दीर्घकाल से ।

२. अप-परिस्त्रव की स्तम्भ-प्रज्ञापन २ के अप-आसिनव के साथ तुलना करो ।

३. अपुण्य पाप या स्तम्भ-प्रज्ञापन ३ का आसिनव है ।

४ मैं पहले कह चुका हूँ कि अर्थशास्त्र में राजाओं और अधिकारियों को पराक्रम या उद्योग करने के लिए कहा गया है । और यह ध्यान देने की बात है कि अशोक भी अपने, अपने पुत्रों और पौत्रों के लिए, शिला-प्रज्ञापन ६ में, या अपने अफसरो के लिए इस प्रज्ञापन में, पराक्रम की आवश्यकता बताता है । इसलिए इन दोनों प्रज्ञापनों की तुलना गौण शिला-प्रज्ञापन १ से की जा सकती है ।

५. यहाँ सिर्फ G में जन है, अन्य लेखों में इसकी जगह वग है । पर इस प्रज्ञापन के शुरू में सब लेखों में जनो है । इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि G में दूसरी पीछे वाली जगह जनो शब्द भिन्न अर्थ में है, अर्थात् 'वग' शब्द के अर्थ का वाचक है, अर्थात् 'लोगों का वर्ग' और यह मेरी राय में 'अफसरो का एक वर्ग' है ।

(११)

अनुवाद

देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है—ऐसा कोई

दान नहीं है जैसा धम्म का दान, ऐसी कोई मित्रता नहीं जैसी धम्म के साथ मित्रता, ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं जैसा धम्म के साथ सम्बन्ध । धर्म यह है कि दासों और सेवकों से अच्छा व्यवहार किया जाए; पिता और माता की श्रेष्ठ सेवा की जाए, मित्रों; परिचितों, सबंधियों, ब्राह्मणों और श्रमणों को दान दिया जाए, जीवों की हिंसा न की जाए । पिता, पुत्र, भाई, स्वामी, मित्र, परिचित, संबंधी और पड़ोसी को भी यह कहना चाहिए कि ये पुण्य कार्य हैं, इन्हें करना चाहिए । ऐसा करने से मनुष्य को इस लोक में भी सुख मिलता है और इससे परलोक के लिए भी अनन्त पुण्य प्राप्त होता है ।

(१२)

अनुवाद

देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी सब संप्रदाय वालों का, चाहे वे त्यागी हों चाहे गृहस्थी, सबका विविध दान और पूजा से सत्कार करता है । परन्तु देवताओं का प्रिय इस दान और पूजा को इतना अच्छा नहीं समझता जितना इस बात को कि सब धार्मिक संप्रदायों के लोगों में सारतत्त्व की वृद्धि हो । पर सारतत्त्व की वृद्धि कई प्रकार की है । पर इसका मूल वाणी का समय है—कैसे ? —अर्थात् लोग मौके-बेमौके अपने संप्रदाय का आदर और दूसरे संप्रदाय की निन्दा न करे । इसके विपरीत, मनुष्यों को अवसर निकालकर दूसरे संप्रदायों का भी आदर करना चाहिए । ऐसा करने से अपने संप्रदाय की उन्नति और दूसरे के संप्रदाय का उपकार होता है । इसके विपरीत आचरण से न केवल दूसरे संप्रदाय का अपकार होता है, बल्कि अपने संप्रदाय को भी क्षति पहुँचती

है। जो कोई अपने संप्रदाय के अनुराग के कारण, इस विचार से कि उसके अपने संप्रदाय का गौरव बढ़े, अपने संप्रदाय की प्रशंसा करता है और दूसरे के संप्रदायों की निन्दा करता है, वह वास्तव में अपने संप्रदाय को बड़ी हानि पहुँचाता है। इसलिए एक दूसरे के धर्म को सुनने और सुनाने की इच्छा के विचार से 'समवाय'^३ प्रशंसनीय है। क्योंकि देवताओं का प्रिय चाहता है कि सब धार्मिक संप्रदाय ज्ञान से पूर्ण हों और अच्छाई पैदा करें। और जो लोग इस या उस धर्म से प्रेम रखते हैं, उन्हें बता दिया जाना चाहिए कि "देवताओं का प्रिय दान या सम्मान को ऐसा नहीं मानता जैसा सब संप्रदायों के सारतत्त्व की वृद्धि और एक-दूसरे के धर्म के ज्ञान को।" इस उद्देश्य से धर्ममहामात्रो, स्त्र्यध्यक्षो, व्रजभूमिको^४ और अन्य अधिकारी-वर्ग की नियुक्ति की गई है। और इसका यह फल होता है कि अपने संप्रदाय की उन्नति और धम्म का प्रकाश होता है।

टिप्पणियाँ

१. इस प्रज्ञापन को अच्छी तरह समझने के लिए, देखो ऊपर पृ० ६६ आदि।

२. वचोगुति और भतिता शब्दों के लिए, शिला-प्रज्ञापन ७ से तुलना करो।

३. समवाय शब्द समव-इ से बनता है जिसका अर्थ है 'इकट्ठे होना'। अशोक का आशय यह है कि यदि विभिन्न संप्रदायों के अनुयायी एक-दूसरे के सम्पर्क में आएँगे तो वे अपने धर्म से दूसरे धर्म की अच्छी बातें सीखेंगे।

४ इन अधिकारियों के कर्तव्यों के लिए देखो ऊपर, पृ० ५० आदि।

(१३)

अनुवाद

अपने अभिषेक के आठ वर्ष बाद देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी ने कलिग देश को विजय किया। वहाँ उठ लाख मनुष्य कैद कर बाहर भेजे गये, एक लाख रेत रहे, और इसने कई गुने अधिक काल-कवलित हो गये। उनके बाद अत्र^१ कलिग देश में देवताओं के प्रिय को धर्म-रक्षा, धर्म-जालगा और धर्म-शिक्षण में बहुत उत्साह हुआ। यह देवताओं के प्रिय का कलिग-विजय पर पश्चात्ताप है। देवताओं के प्रिय को यह देखकर बड़ा रोद हुआ कि किसी नये देश को विजय करने में कितने लोगों की हत्या, मृत्यु और कैद होती है। पर देवताओं के प्रिय को यह सोचकर और भी दुःख हुआ है कि वहाँ भी ब्राह्मण, श्रमण तथा अन्य संप्रदायों के मनुष्य तथा गृहस्थ रहते हैं जिनमें बृद्ध-जनों की सेवा, माता-पिता और गुरुओं की सेवा, तथा मित्रों, परिचितों, नाथियों और सबधियों तथा दासों और सेवकों से उचित व्यवहार और दृढ़ अनुराग होता है। (युद्धों में) ऐसे कितने ही धार्मिक लोगों की निजी हानि, मृत्यु या प्रिय-जनों से दूर निर्वासन हो जाता है। और जो अपने जीवन^२ में स्थिर भी रहते हैं और अघट अनुराग रखते हैं, वे भी अपने मित्रों, परिचितों, साथियों और सम्बन्धियों के आपत्ति में पड़ने से आगद-ग्रस्त हो जाते हैं और यह आपत्ति उनकी अपनी हानि हो जाती है। यह विपत्ति सभी को भोगनी पड़ती है, इससे देवताओं के प्रिय को बहुत दुःख होता है। यवनो^३ के प्रदेश को छोड़कर और कोई ऐसा प्रदेश नहीं जहाँ ब्राह्मण और श्रमण समुदाय न रहते हों, और ऐसा कोई देश नहीं जहाँ लोग एक न एक संप्रदाय में विश्वास न

रखते हो। कर्लिंग देश की विजय के समय जितने आदमी मारे गये, या मरे या कैद किये गये, उनके शताश या सहस्रांश को भी आज^४ देवताओं का प्रिय दुःखजनक मानता है। इतना ही नहीं, यदि कोई उसका अपकार करता है तो देवताओं के प्रिय को यथा-शक्ति उसे सहना चाहिए। और वनों^५ (के वासियों) के प्रति, जो देवताओं के प्रिय के देश में हैं, वह अनुग्रहात् प्रदर्शित करता है और उन्हें (कुमार्ग से) रोकना चाहता है। बलवान होते हुए भी देवताओं का प्रिय पश्चात्ताप-युक्त है। (इसलिए) उनसे यह कहा जाता है—वया ? “वे लज्जित हो और उनके जीवन का नाश न किया जाएगा।” देवताओं का प्रिय सब जीवों के लिए रक्षा, आत्म-सयम, निष्पक्षता और भद्रता की कामना करता है। —६३

पर देवताओं का प्रिय धम्म के द्वारा प्राप्त होने वाली विजय को सबसे मुख्य विजय समझता है। यह विजय देवताओं के प्रिय को अपने राज्य में तथा सब सीमान्त प्रदेशों में छह सौ योजन तक, जिसमें अन्तियोक नाम का यवन राजा तथा अन्य चार राजा—तुरमय, अतैकिन, मग और अलिकसु (न्)-दर^६ हैं, तथा दक्षिण की ओर चोल, पाण्ड्य और ताम्रपर्णी तक में प्राप्त हुई है। उसी तरह यहाँ राजा के राज्य में यवनों और कंबोजों में, नभपतियों और नाभक में, वशानुगत भोजी, आंध्रों तथा पुलिंदों में—सब जगह वे देवताओं के प्रिय का धर्मानुशासन मानते हैं। जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं जाते वहाँ भी लोग देवताओं के प्रिय के धर्मादेशों और धर्म-विधान को सुनकर धर्माचरण करते हैं और करते रहेंगे। इस प्रकार प्राप्त विजय सर्वत्र प्रेम से सुरभित होती है। वह प्रेम धर्म-विजय से प्राप्त होता है। पर वह प्रेम तुच्छ वस्तु है। देवताओं का प्रिय पारलौकिक कल्याण को ही बड़ा समझता है। और

यह धर्म-लेख इसलिए लिखवाया गया है कि जिससे मेरे पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र नये देश विजय करने की इच्छा त्याग दे और जो विजय सिर्फ तीर से^१ प्राप्त हो सकती है उसमें वे भी सहिष्णुता और मृदु-दंड का ध्यान रखे, और वे धम्म-विजय को ही वास्तविक विजय समझे। यह इह-लोक और परलोक दोनों के लिए अच्छा है। उनका प्रबल अनुराग पराक्रम से ही हो। यह इहलोक और परलोक दोनों के लिए अच्छा है।

टिप्पणियाँ

१. अधुना (अब) और अज (आज) से, जिसका नीचे टिप्पणी ४ में उल्लेख है, स्पष्ट प्रकट होता है कि अशोक ने कर्लिंग में धम्म की सोत्साह परिरक्षा की जो बात कही है वह उस समय की है जिस समय यह प्रज्ञापन प्रख्यापित किया गया।

२. सविधा का अर्थ है 'जीवन की रीति', जीवन व्यतीत करने के साधन (रघुवश, I ६४)। इसलिए सविहित का अर्थ 'वे लोग जो किसी जीवन-रीति में स्थिर हैं' होगा।

३. योन शब्द यवन लोगो का, और अतएव उनके प्रान्त का, वाचक है; यह प्रदेश यवन राजाओ के उस प्रदेश से अलग है जिसका इस प्रज्ञापन में आगे चलकर जिक्र है। योन प्रान्त अशोक के साम्राज्य का हिस्सा था जैसा कि शिला प्रज्ञापन ५ से भी प्रकट होता है।

४. 'अज' शब्द टिप्पणी १ के निष्कर्ष को पुष्ट करता है।

५. इस प्रान्त की पहचान के लिए देखो ऊपर, पृ० ३८-४०।

६. इन तथा बाद वाले नामों के लिए देखो ऊपर पृ० २६-२७ आदि। अ-शशु के एक और निर्वचन के लिए देखो IA, १६१८, पृ० २६७।

७. सरसके=शर-शक्य (तीरो द्वारा सभब), शयकशि=शल्याकषि, जिसका लगभग वही अर्थ है। सभाव्यत अशोक का यह आशय है कि यदि

विद्रोह हो जाय और उसे शस्त्रो द्वारा दबाना पड़े तो उस अवस्था में उसके उत्तराधिकारियों को अधिकतम सहिष्णुता से काम लेना चाहिए और न्यूनतम दंड देना चाहिए जिससे यह प्रादेशिक विजय लगभग रक्त-हीन हो ।

(१४)

अनुवाद

ये धम्मलिपियाँ देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी ने कहीं सक्षेप में, कहीं मध्यम रूप में, और कहीं विस्तृत रूप में लिखवायी हैं । हर जगह हर चीज नहीं लिखवायी गयी । मेरा राज्य बहुत विस्तृत है, इसमें बहुत से लेख लिखवाये गये हैं और आगे भी बहुत से लिखवाऊँगा । इनमें कुछ बातें, मधुरता के कारण बार-बार लिखवायी गयी हैं । क्यों ? जिससे लोग उनका अनुसरण करें । संभव है कि (इन लेखों में) देश के अपरिचित होने के कारण या सक्षेप करने में, या लिपिकार^१ के दोष से कुछ अपूर्णता रह गयी हो ।

टिप्पणी

१. अन्तिम वाक्य के अनेक अर्थ किये गये हैं । “पर संभव है कि यह कुछ चीज, स्थानाभाव के कारण, या किसी अन्य विशेष विचारणीय कारण से, या लेखक की भूल से, अपूर्ण लिखी गयी हो” — बूलर । “संभव है कि किसी वाक्य के कट जाने से, या गलतफहमी, या लेखक के दोष से कोई चीज अपूर्ण लिखी गयी हो ।” — स्मिथ ।

स्तंभ प्रज्ञापन

(१)

अनुवाद

देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी कहता है “मैंने अपने अभिषेक के २६ वर्ष बाद यह धर्मलिपि लिखवायी । धर्म की तीव्र

कामना, कठोर परीक्षा^१, अत्यधिक आज्ञा-पालन, अत्यधिक भय, (और) अत्यधिक उत्साह के बिना इस लोक और परलोक के सुख की प्राप्ति^२ कराना कठिन है। पर मेरे प्रयत्नो से लोगो का धर्मानुराग और प्रेम बढ़ता गया और दिन-दिन^३ बढ़ता जाएगा। और मेरे, उच्च, छोटे^४ या मध्यम अधिकारी स्वयं धर्म का पालन करते हैं, और चंचल मन वालो को धर्म के पालन की प्रेरणा करने के उपयुक्त होने के कारण, उनसे भी धर्म पालन^५ कराते हैं। सीमान्त प्रदेशो के महामात्र भी ऐसा ही कराते हैं। इन सब के लिए आज्ञा है कि “धर्मानुसार लोगो का पोषण करो, धर्मानुसार शासन का विधान करो, धर्म के द्वारा उन्हे सुख पहुँचाओ और धर्मानुसार शासन करो।”

टिप्पणियाँ

१. पलिखा=परीक्षा, अर्थात् ‘मेरे कार्य धर्मानुसार हैं या नहीं।’ सुसुसा और भय राजा प्रियदर्शी के बारे में हैं। उत्साह के बारे में, शिला प्रज्ञापन ६ और D—JSI, I. भी देखिए। ये सब, राजा के अफसरो में होने चाहिए।

२. सपटिपादये—सप्रतिपाद्यम्। यही शब्द नीचे दधी पक्ति में सपटिपादयति के रूप में आता है। दु-सपटिपादये—‘दु साध्य’ (बूलर) ‘दुष्प्राप्य’ (स्मिथ)। सपटिपादयति—‘(मेरे आदेशो का) पालन करते हैं’ (बूलर)। ‘दूसरो को इस मार्ग पर ले जाते हैं’ (स्मिथ)। स्पष्ट है कि ये दोनों विद्वान् एक ही प्रज्ञापन में दो भिन्न स्थानो पर आये एक ही शब्द के दो अर्थ करते हैं। इसके अलावा, एक जगह वे इसे साधारणतया अशोक की प्रजा का वाचक मानते हैं और दूसरे स्थान पर उसके अफसरो का वाचक मानते हैं। पर इस शब्द का ऐसा निर्वचन करना चाहिए कि दोनों स्थानो पर एक ही अर्थ हो। प्रज्ञापन के अन्तिम भाग में भी स्पष्ट है कि यहाँ अशोक साधारणतया अपने प्रजाजनो को संबोधित नहीं कर रहा, बल्कि अपने सब पक्तियों के अफसरों

को संबोधित कर रहा है। इसलिए सपटिपद का अर्थ (इस लोक तथा परलोक की चीजें लोगो को) “प्राप्त कराना” होना चाहिए।

सेनार्ट के अनुसार, दु सपटिपादये— ‘कठिनाई से देने योग्य’ और सपटिपादयन्ति— (लोगो को) ‘अच्छे मार्ग में ले जाते हैं।’ उसने दोनों स्थानों पर इस शब्द को प्रेरणात्मक अर्थ में लिया है और अफसरो के लिए प्रयुक्त किया है, परन्तु एक ही अर्थ में नहीं लिया।

३ सुवे सुवे—‘प्रतिदिन’ (देखो धम्मपाद, V. २२६)—सेनार्ट।

४ गेवया “संस्कृत के गेप या ग्लेप धातु से व्युत्पन्न होता है जो धातु-पाठ में दैव्ये है। समतुल्य संस्कृत शब्द गेप्य-ग्लेप्य होना चाहिए था जिसका शाब्दिक अर्थ ‘गरीब’ या ‘दुखी’ है”—बूलर।

५ चपल का अर्थ है चंचल मनवाला। समादपयितवे समादापेति का अपूर्ण कालिक रूप है और समादापेति समा+दा का प्रेरणार्थक रूप है। समादपयितवे का अर्थ है “स्थायी या अस्थायी रूप से धार्मिक सकल्प अथवा कुछ या सब धार्मिक उपदेशों पर आचरण करने की प्रतिज्ञा करना”—चाइल्डर्स। वह अर्थ यहाँ बहुत ठीक बैठता है। अशोक का आशय यह है कि मेरे सब अफसर मेरे बताये हुए धर्म के कुछ या सब नियमों का पालन कराने के लिए चंचल मनवालों को प्रेरित करने में समर्थ हैं।

(२)

अनुवाद

देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है • धर्म श्रेष्ठ है ? पर धर्म क्या है ? पापो^१ का अभाव, अच्छे काम करना, दया, दान, सत्य, पवित्रता। मैंने अनेक प्रकार से चक्षुदान^२ किये हैं, दोषायों तथा चौपायों पर, पक्षियों और जलीय पशुओं पर मैंने अनेक उपकार किये हैं, यहाँ तक कि उन्हें जीवन भी प्रदान किया। और मैंने अन्य कितने ही पुण्य के काम किये। मैंने यह धम्मलिपि

इसलिए लिखवायी है कि वे मेरा अनुसरण करें और यह चिरस्थायी^३ रहे । जो इसके अनुसार कार्य करेगा, वह शुभ कार्य करेगा ।

टिप्पणियाँ

१. अगले प्रज्ञापन में आसिनव शब्द पाप शब्द का साथी माना गया है । इसकी तुलना शिला प्रज्ञापन १० के परिवर्तन से की जा सकती है—वहाँ यह अपुने का समानार्थक माना गया है । इससे आसिनव की सेनाटं द्वारा आ+सु से की हुई व्युत्पत्ति, बूलर की आ+सु से की हुई व्युत्पत्ति की अपेक्षा अधिक सभाव्य हो जाती है । इस शब्द के ठीक अर्थ के लिए, देखो ऊपर, पृ० ११०-११ आदि ।

२. “सेनाटं द्वारा किया हुआ ‘चखुदाने’ का निर्वचन ‘च खु दाने’ ठीक नहीं क्योंकि च और खु अव्ययो से वाक्य शुरू नहीं हो सकता, और क्योंकि पाठ में शब्दखण्डों की निरन्तरता के कारण, वे दो वाक्यों के हिस्से नहीं माने जा सकते”—बूलर । चखु—‘आध्यात्मिक चक्षु’—बूलर । पर इसे भौतिक अर्थों में लेना अधिक अच्छा होगा, और सभाव्यत यह उस दंड की क्षमा का निर्देश करता है जो ‘आँख के लिए आँख’ ‘दाँत के लिए दाँत’ होता था । यह आपान-दक्षिणा, ‘जीवन दान तक’ से ठीक मेल खाता है—बूलर, और ‘उन्हे पानी देने तक भी’ से मेल नहीं खाता ।

३. इसकी तुलना शिला प्रज्ञापन ५ और ६ के अन्तिम भाग से करो ।

(३)

अनुवाद

देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी कहता है . “(मनुष्य) अपने सिर्फ अच्छे काम देखता है, (वह अपने से कहता है) “मैंने यह अच्छा काम किया है”^१ । वह अपना पाप कभी^२ नहीं देखता (और अपने से यह नहीं कहता) ‘मैंने यह पाप किया है’ अथवा ‘यह सचमुच बुरा काम

है ।' पर यह (ऐसी चीज है) जिसमें आत्म-निरीक्षण कठिन^३ है । तो भी (व्यक्ति को) देखना चाहिए (और अपने-आपसे कहना चाहिए) : 'ये (विषय-विकार) प्रचडता, क्रूरता, क्रोध, घमड, ईर्ष्या आदि दुर्गुण पैदा करते हैं, और उनके कारण मेरा पतन हो सकता है ।' यह भी सदा ध्यान रखना चाहिए कि इससे मुझे इस लोक में तथा परलोक में^४ भी लाभ होगा ।''

टिप्पणियाँ

१. इसकी तुलना शिला प्रज्ञापन ५ के आरम्भिक अंश से करो ।

२. नो मिन=नो मनाक्, 'जरा भी नहीं' 'किसी भी तरह नहीं'—बूलर ।

३. पटिवेख, जैसा कि सेनार्ट ने बताया है, पाली का पच्छवेखनम्, 'आत्म-निरीक्षण' ही है । उसने चाइल्डस द्वारा उस शीर्षक के नीचे उद्धृत विशुद्धि-संग्रह के एक सदस्य का निर्देश किया है । ऊपर पृ० ६२-६३ आदि ।

४. सेनार्ट इस्या को माने से अलग करता है और इसे इसके बाद वाले कालनेन शब्द से मिलाता है । पर बूलर का यह कथन ठीक है कि इस प्रकार इन्हे तोड़ना ठीक नहीं क्योंकि सब प्रतियों में दो शब्दों के बीच में जगह छोड़ी गयी है । पलिभसयिसम् में पलिभासति धातु है—बदनाम करना—सेनार्ट । बूलर इसे परिभ्रशयिष्यामि का समतुल्य मानता है, जो अधिक ठीक है ।

५. माइकलसन ने 'मन' का अर्थ 'भी' किया है, जो ठीक है ।

(४)

अनुवाद

देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है मैंने अपने अभिषेक के छत्तीस वर्ष बाद यह धम्मलिपि लिखवायी । मैंने लाखों व्यक्तियों के ऊपर रज्जुको को नियुक्त किया है ।' मैंने उन्हें न्यायिक

अनुसंधान और दंड^२ में स्वतन्त्र कर दिया है जिससे वे अपना कर्तव्य विश्वास के साथ और निर्भय होकर पूरा करें, जनपदों के लोगों का हित और सुख उत्पन्न करें और (उन पर) उपकार करें। वे सुख और दुःख के मूल कारणों का पता लगाएँ और जनपदों के लोगों तथा निष्ठावानों^३ को प्रेरणा करेंगे, जिससे उन्हें इन लोकों और परलोक में सुख मिले। रज्जुक मेरी आज्ञा का पालन करने को उत्सुक हैं।^४ और क्योंकि रज्जुक मेरी आज्ञा का पालन करना चाहते हैं इसलिए (निम्न) कर्मचारी भी मेरी इच्छाओं और आज्ञाओं^५ का अनुवर्तन करेंगे और कुछ (लोगों) को प्रेरणा करेंगे। जिस प्रकार मनुष्य को अपना वच्चा होशियार धाय को सोपकर सनोप होता है (और वह अपने मन में कहता है), 'होशियार धाय मेरे वच्चे का पालन-पोषण करना चाहती है', उसी प्रकार मैंने जनपदवासियों के हित और सुख की कामना से रज्जुकों को नियुक्त किया है जिससे वे निर्भय और निःसंकोच होकर निर्विघ्न रूप से अपने कर्तव्य का पालन करें। इस कारण मैंने न्यायिक अनुसंधान और दंड के बारे में उन्हें स्वतन्त्र कर दिया है। क्योंकि यह वाछनीय है—क्या ? न्यायिक अनुसंधान की और दंड की एकरूपता। और मैंने यह आदेश भी दिया है : जो लोग कैद हैं, जिन्हें सजाएँ दी जा चुकी हैं और जिन्हें प्राणदंड दिया गया है उन्हें मैंने तीन दिन की मोहलत दी है जो अधिकारपूर्वक और पूरी तरह उनकी अपनी है।^६ या तो (उनके) सबंधी (इस अवधि में) उनके प्राण बचाने के लिए कुछ (रज्जुकों से) दंड कम करा सके, अथवा (आध्यात्मिक) विनाश से बचने के लिए वे परलोक के लक्ष्य से दान दे सकें और उपवास कर सकें।^७ कारण कि मेरी इच्छा है कि कैद के दिनों में भी^८ वे परलोक के सुख के लिए यत्न कर सकें, और कि अनेक प्रकार के

धार्मिक आचरणों, आत्मसंयम और उदारता की मनुष्यों में अभिवृद्धि हो ।

टिप्पणियाँ

१. 'आयत' शब्द स्तम्भ प्रज्ञापन ७ (२) पक्ति १ और SE.I पक्ति ४ में भी आता है । सेनार्ट का यह विचार ठीक मालूम होता है कि यह आयत्त और आयुत्त शब्दों की गड़बड़ी का एक उदाहरण है ।

२ अतपत्तिये, जो आत्मपत्य के समतुल्य है, आधिपत्य की तरह बनायी हुई सजा है । बूलर के अनुसार, अभिहार का अर्थ 'सम्मान, उपहार' है, और उसने जातक, जिल्द ५, पृ० ५०, श्लोक १४३ तथा पृ० ५६, पक्ति २८ का निर्देश किया जिसका टीकाकार ने 'पूजा' अर्थ किया है । पर जैसा कि सेनार्ट ने प्रदर्शित किया है, इसी प्रज्ञापन में आगे अभिहाल और दड को बियोहाल-समता और दड-समता के साथ रखा गया है । इसलिए यहाँ अभिहार व्यवहार का तुल्यार्थक होना चाहिए । और फिर, क्योंकि व्यवहार का दड के साथ, और उससे वैषम्य प्रदर्शित करते हुए, उल्लेख है, इसलिए इसका अर्थ सिर्फ 'कानूनी विवाद' या 'मुकदमा' नहीं हो सकता, बल्कि 'मामले की न्यायिक प्रक्रिया, परीक्षा या अनुसंधान' होगा । अशोक के इस कथन का कि मैंने रज्जुको को व्यवहार और दड में स्वतन्त्र कर दिया है, आशय ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है । ऊपर पृ० ६१-६३ ।

अस्वथ अश्वस् से बना है और इसी के बारे में एफ० डब्लू० टामस की टिप्पणी के लिए देखो JRAS. १९१५, पृ० १०६ और आगे ।

३. इस प्रज्ञापन के 'धम्मयुतेन च बियोवदिसति जन जानपद' की तुलना स्तम्भ प्रज्ञापन ७ के 'हेव च हेवं च पलियोषदाथ जन धम्मयुत' की जा सकती है । इससे प्रकट होता है कि पहले में आये धम्मयुतेन शब्द का अर्थ "धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार" (बूलर) नहीं हो सकता, बल्कि "उसी समय जिस समय निष्ठावान्" (सेनार्ट) अधिक ठीक है ।

४ सेनार्ट लघति का शुद्ध रूप चघति बताता है। यह स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि सब प्रतियो में यह लघति है। बूलर लघति को संस्कृत 'रघते', ये शीघ्रता करते हैं, उत्सुक है, का रूप मानता है। पर सेनार्ट का पटिचलति को परिचरति मानना सही प्रतीत होता है, जिसका अर्थ है 'सेवा करना, आज्ञा मानना'। शिला प्रज्ञापन २ के अन्त में गिरनार वाली प्रति में आये परिभोगाय शब्द की तुलना अन्य प्रतियो के पटिभोगाय से करो।

५ छदनानि को बूलर तत्पुरुष समास मानता है जो पुलिसानि के साथ है और जिसका अर्थ छद जानति—इति छदज्ञा, 'इच्छा को जानने वाले' है। सेनार्ट इसे द्वन्द्व 'समास छन्दश्च आज्ञा च' मानता है और पटिचलिसति का कर्म बताता है। बूलर को इस निर्वचन पर इस आधार पर आपत्ति है कि स्त्रीलिंग 'आ' के नपुंसक 'अ' में रूपांतरित हो जाने का कोई उदाहरण नहीं मिलता। पर हम जानते हैं कि इन शिलालेखों की भाषा में लिंगों की बड़ी गड़बड़ी है। रूपनाथ गौण शिलालेख में काल शब्द विकृत होकर काला हो गया है। यह बड़ा स्पष्ट उदाहरण है, पर यह सिर्फ एक उदाहरण है, जिसमें 'पुल्लिग 'अ' के रूप स्त्रीलिंग 'आ' की तरह बने हैं। इसी प्रकार यह क्यों न मान लें कि स्तम्भ प्रज्ञापन ४ में एक उदाहरण मौजूद है, यद्यपि यह सिर्फ एक उदाहरण है, जिसमें स्त्रीलिंग आ के रूप नपुंसकलिंग की तरह बने हैं। फिर, छदनानि और सब लेखों में पुलिसानि से पृथक् है, पर कम से कम एक लेख में पटिचलिसति से जुड़ा हुआ है। इससे पता चलता है कि छदनानि पटिचलिसति का कर्म है, पुलिसानि का विशेषण नहीं। यदि सेनार्ट की प्रक्रिया को मान ले तो इसका अर्थ भी सर्वथा स्पष्ट है। यदि रज्जुक, जो बहुत ऊँचे अफसर थे, अशोक का आज्ञा-पालन करते हैं, तो पुरुषों अर्थात् छोटे अफसरों को तो उनका अनुसरण करना ही चाहिए। पर बूलर हमें यह मनवाना चाहता है कि पुरुष यद्यपि छोटे अफसर हैं, पर रज्जुको को उन्हें आदर्श मानकर उनका अनुकरण करना चाहिए।

सेनार्ट चघति को चग्घति का विकार और जाग्रति का रूपांतर मानता है, जैसे पति-जग्गति, 'देख-रेख करना'। ग्रियर्सन इसे चघ 'उठना, चढना' धातु से व्युत्पादित करता है, जो छत्तीसगढ़ी बोली में है और इसे संस्कृत चर्घ 'जाना' से बना मानता है (JPTS, १८६१-२, पृ० २८ और आगे)। कर्न चघ की क्रिया की व्याख्या हिन्दी 'चाहना' से करता है और बूलर इस विचार से सहमत है और साथ यह भी कहता है कि चाह शब्द भारत की सब भाषाओं में है और इसलिए आर्यों की प्राचीन भाषा में यह अवश्य रहा होगा।

६. योते शब्द को कर्न ने, ठीक ही, संस्कृत यौतुक शब्द से जोड़ा है, और यूरोपीय विद्वान् इसे 'मोहलत' के अर्थ में लेते हैं। पर यौतुक का अर्थ 'मोहलत नहीं होता बल्कि 'वह चीज जो एक मात्र और अधिकारपूर्वक किसी व्यक्ति की हो' होता है। यह अर्थ यहाँ लागू भी हो जाता है। अशोक का यह आशय है कि जिन कैदियों को प्राणदण्ड दिया गया है, वे अधिकार के रूप में तीन दिन की मोहलत ले सकेंगे।

७. यह इस प्रज्ञापन का सबसे उल्लेखनीय सदर्थ है। सेनार्ट "मेरे अफसर उन्हें चेना देंगे (निष्पयिसति) कि वे न अधिक न कम (नातिकाव-कानि) जीएँगे (जीविताये तान)। अपने जीवन-काल (नासत) के बारे में इस तरह चेताये गये (निष्पयिता) वे, अपने भावी जीवन (पालत्क) की दृष्टि से दान (दान) दे सकते हैं (दाहन्ति) या उपवास कर सकते हैं (उपवासं वा कियाच्छति)।"

बूलर . "उनके सबधी (नातिका) उनमें से कुछ को (कानि) गभीर चिंतन कराएँगे (निष्पयिसति) और इन लोगों की जीवन-रक्षा के लिए (जीविताये तान), या प्राणदण्ड पाये हुए (नासत) को गभीर चिन्तन कराने के लिए (निष्पयिता) वे परलोक की दृष्टि से दान देंगे या उपवास करेंगे।" बूलर अपने अनुवाद की व्याख्या करते हुए कहता है : "तीन दिन की मोहलत में, सबधी लोग दंडप्राप्त अपराधियों को अपने विचार ऊँची बातों में लगाने

के लिए प्रेरित करेंगे, और वे धार्मिक दान (लाजुको को घूस नहीं) देगे और उपवास करेंगे, और यह आशा करेंगे कि या तो दंडित व्यक्तियों के प्राण न लिए जायें, और या, जिन लोगों ने मरना है, उनके हृदय कोमल हो जाएंगे और स्वर्ग की ओर प्रवृत्त हो जाएंगे ।

कुछ वर्ष पहले अपनी एम० ए० कक्षाओं के लिए मैंने इस सदर्थ का निम्न अनुवाद किया था - "उनके सबधी उनमें से कुछ को, अपनी जीवन-रक्षा के लिए, धम्म-चिन्तन कराएंगे (निष्पयिसति) और मरने वालों (नासत) को आत्मचिन्तन कराने के लिए, वे परलोक पर दृष्टि रखकर दान और उपवास करेंगे ।" उस समय मेरा आशय यह था कि अशोक ने सिर्फ उन कैदियों को मोहलत दी थी जिन्होंने मृत्यु-दण्ड मिलने पर भी, उसका धर्म अंगीकार कर लिया था । और यह भाव वही प्रतीत होता है जो JBORS. VI. ३१८ आदि, में प्रकाशित लेख में लिया गया था । पर अब मैं इस सदर्थ का और ही अर्थ करता हूँ . उनके सबधी कुछ (रज्जुको) को (प्राणदण्ड पाये हुए लोगों की) जीवन-रक्षा के लिए प्रसन्न करेंगे; या अन्त, अर्थात् नाश, को टालने के लिए वे परलोक पर दृष्टि रखते हुए दान देंगे या उपवास करेंगे । इस बात पर बहुत कुछ निर्भर है कि हम निष्पयिसति का क्या अर्थ करते हैं । यदि हम इस शब्द को नि + ध्ये धातु से बना हुआ मानें, जैसे एफ० डब्लू० टामस ने माना है (JRAS. १९१६, पृ० १२० और आगे) तो वह निर्वचन ठीक होगा जो मैंने पहले प्रस्तुत किया है । परन्तु लूडर्स ने अयोधर-जातक (जातक, जिल्द ४, श्लोक ३३२ और ३३४) में आये हुए इस शब्द का उल्लेख किया है, जिसमें 'कोमल करना, रोकना' भाव है, और जो एक जगह तो विशेष रूप से, राजाओं द्वारा दिए गए दंड के लिए प्रयुक्त हुआ है । यह अर्थ अधिक ठीक बैठता है, और इससे संदर्भ का अधिक स्वाभाविक निर्वचन हो सकता है । अशोक इस आरोप से भी मुक्त हो जाता है कि उसने अपने धम्म के लिए न्याय के उद्देश्य को ही निराकृत कर दिया ।

८. निलुघसि पि कालसि का अर्थ सेनार्ट ने "अपनी कैद के दिनों में", ब्लूर ने "अपनी कैद के दिनों में भी", लूडर्स ने "एक सीमित समय में भी"

और टामस ने "यद्यपि उनका मृत्यु का समय अपरिवर्तनीय रूप से निश्चित है (क्योंकि उसमें निश्चिति नहीं है)" किया है (JRAS, १९१६, पृ० १२३)। मनु, ८, ३१० से तुलना करो ।

(५)

अनुवाद

देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है —अपने अभिषेक के छब्बीस वर्ष बाद मैंने निम्नलिखित जीवों^१ का वध निषेध किया—शुक, सारिका, अरुन,^२ चक्रवाक, हंस, नदिमुख,^३ गेलाट, जतूका (Flying foxes), अबकपीलिका, कच्छपी, अस्थिहीन मत्स्य, वेद-वेयक, गगा-पपुटक, सकुजमछ, कळुआ और सेही, खरगोश जैसी गिलहरी, बारासिंगे, साड, घर के कीट, गेडा, श्वेत कपोत, ग्राम कपोत, और ऐसे सब चौपाये जो खाये न जाते हों^४ और अन्य किसी काम न आते हों । गर्भिणी या स्तनधय शिशुवाली भेड़, बकरी और सूकरी और उनके छह महीने से छोटे बच्चे । मुर्गों की वध्ति न की जाए । जिस भूसे में कीड़े पड़ गये हों, वह जलाया न जाए । व्यर्थ या जीव-जतुओं को मारने के लिए जंगल न जलाये जाएँ । एक जीव को दूसरा जीव न खिलाया जाए । तीनों ऋतुओं की पूर्णिमा, और तैष की पूर्णिमा के दिन आस-पास मछली न मारी जाए और न बेची जाए—अर्थात् (पखवारे के) चौदहवे और पन्द्रहवे दिन और (अगले पखवारे के) पहले दिन, और उपवासो के दिन । इन दिनो नागवन में, या मीनाशयो में, अन्य जीव भी न मारे जाएँ । हर पक्ष के आठवे, चौदहवे और पन्द्रहवे दिन, तिष्य और पुनर्वसु के दिन, तीनों ऋतुओं की पूर्णिमाओं के दिन, और अन्य त्योहारों पर वैलो, मेढो, सूअरों और अन्य जानवरों की वध्ति (वधिया) न की जाए । तिष्य, पुनर्वसु और ऋतुओं

की पूर्णिमाओं के दिन, और प्रत्येक ऋतु की पूर्णिमा वाले पक्ष में घोड़ों और बैलों को दागा न जाए। छब्बीस वर्ष पूर्व अपने अभिषेक के बाद के समय में मैंने पच्चीस बार वदियों की मुक्ति करायी।

टिप्पणियाँ

१. जात का शब्दार्थ है 'उत्पन्न व्यक्ति'। यहाँ इसका अर्थ 'जीव' किया गया है।

२. अलुन एक अलग नाम माना गया है। इसे अनठिकमच्छे और सकुजमच्छे की तरह चक्रवाके का विशेषण मानना अधिक उपयुक्त है।

३. इस प्रज्ञापन में वर्णित विभिन्न जीवजातियों के सिलसिले में मनमोहन चक्रवर्ती की पुस्तिका, एनिमल्स इन दि इस्ट्रिक्शन्स आफ पियदसी, जो एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल के मेमोइर के रूप में प्रकाशित हुई है, उपयोगी है। ननु, ११, १३६-७ से भी तुलना करो। ध्यान देने की बात यह है कि अशोक ने जिन जीवों के वध का निषेध किया है, वे वे हैं जो न खाये जाते हैं और न किसी और काम आते हैं। इसलिए जतूका का अर्थ (बगला) चाम्बिका (चमगादड़ की एक किस्म), करना चाहिए, जिसका मांस नहीं खाया जाता—न कि चमगादड़, जिसका मांस कम-से-कम छोटी जाति तो खाती ही है। बूलर ने अवाकपीलिका का अर्थ माता-चींटी ठीक ही किया है, अर्थात् रानी-चींटी, संस्कृत का पिपीलिका शब्द पाली में किपिल्लिक है। दाडी=(संस्कृत) दुडि=एक विशेष प्रकार की कछुई। अनठिक—अनस्थिक—अस्थि-रहित, सेनार्ट और बूलर के अनुसार, अस्थि-रहित मछली एक विशेष मछली (Prawn) होती है। सकुज-मच्छे का अर्थ वह मछली है जो—अपने आपको भीतर सिकोड़ सकती है। कफट=कफठ=कछुआ (सेनार्ट) सयक=(संस्कृत) शल्यक=सेही। पन्नसस का शब्दार्थ है एक खरगोश जैसा प्राणी जो वृक्षों के पत्तों में रहता है और बूलर ने इसे सफेद पेट वाली लाल गिलहरी

का वाचक माना है जो पश्चिमी घाट के वनों में होती है और जिसका शरीर त्वचा हटाने पर बिलकुल खरगोश जैसा लगता है। सिमले=समर= बारसिंगा। 'सडके' भाषा के साड शब्द का वाचक है, अर्थात् 'वह बछड़ा जो स्वतन्त्र छोड़ दिया गया है, और इसलिए अवध्य है'। ओर्कापिंड को सेनाट उक ओर्कापिंड का रूप मानता है जिनके बारे में महावग्ग में लिखा है कि वे भिक्षुओं की भोजन-सामग्री खा जाते हैं और, बुद्धघोष के अनुसार, वे 'बिल्ली, चूहे, छिपकली और नेवले' हैं। यह अर्थ बहुत ठीक बैठता है क्योंकि ये प्राणी न खाये जाते हैं और न किसी और काम आते हैं। इसलिए उनका सिर्फ इस कारण नाश न करना चाहिए कि वे घर की वस्तुएँ नष्ट करते हैं। पलसते= (पाली) पलासादो या परसतो=गेडा (बूलर)। ऊपर, पृ० ५७-५८ आदि।

४. पटिभोग नि सन्देह परिभोग है। यहाँ अशोक का "आशय उन सब प्राणियों के वध का निषेध करना है जिनकी खाल, समूर, पख आदि, काम नहीं आते, और जो खाये नहीं जाते।" ऊपर पृ० १३२ आदि।

५. चातुस्मासि=(संस्कृत) चातुर्मासी, ग्रीष्म, शिशिर और शरद् ऋतुओं में से प्रत्येक का पूर्ण च मा है। यह प्रत्येक ऋतु के पहले मास की पूर्णिमा है। तिसा पुनर्मासि तैष या पौष की पूर्णिमा है। पोसथ शब्द बौद्ध पाली उपोसथ और जैन प्राकृत पोसह का मध्यवर्ती है। यह ब्राह्मणों के पर्व-दिनों के समकक्ष है और प्रत्येक पक्ष के आठवें और पन्द्रहवें दिन का वाचक है। इस प्रकार पिय-दसी ने ५६ दिन मछली बेचने का निषेध किया। (१) तीनों ऋतुओं में से प्रत्येक के पहले महीने में, और तैष या पौष मास में छह, अर्थात् शुक्ल पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा, और कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा, अष्टमी और अमावस्या—इस प्रकार कुल २४, (२) शेष आठ महीनों में चार, अर्थात् प्रत्येक पक्ष की अष्टमी और पूर्णिमा या अमावस्या—इस प्रकार कुल ३२। इस तरह २४+३२=५६ दिन अशोक ने मछली मारने और बेचने का निषेध किया।

६. राजा अनेक अवसरों पर वदियों को मुक्त करते हैं। ऐसा एक अवसर राजा का जन्म-दिन है जब, अर्थशास्त्र (पृ० १४६) के अनुसार उसे

उन सब कैदियों को मुक्त कर देना चाहिए जो बच्चे या बूढ़े, रोगी या असहाय हों। यह बात यहाँ बिल्कुल ठीक बैठती है, प्रथम तो इस कारण कि इस प्रज्ञापन में, जिसका अभिप्राय संपूर्ण हत्या का निषेध करना नहीं है बल्कि अघाघुन्ध और अनावश्यक हत्या और हानि को रोकना है, सब कैदियों को मुक्त करने का उल्लेख नहीं माना जा सकता, बल्कि सिर्फ ऐसे कैदियों का उल्लेख माना जा सकता है जिनको कैद रखना अनुचित और अनावश्यक क्रूरता होगा। दूसरे, क्योंकि छब्बीस वर्ष में पच्चीस बार कैदियों की मुक्ति का उल्लेख है, इसलिए बहुत सभाव्यत यह अशोक के जन्म-दिन पर कैदियों की रिहाई का निर्देश करता है, और यह भी प्रकट करता है कि उसके लेखों में निर्दिष्ट-अभिषेक वर्ष उसके राज्य-काल के व्यतीत वर्षों के सूचक न होकर 'बाल' वर्षों के सूचक हैं। (ऊपर, पृ० १०)।

(६)

अनुवाद

देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है : “अपने अभिषेक के बारह वर्ष बाद मैंने लोगो के हित और सुख की वृद्धि के लिए ये धम्मलिपियाँ लिखवायी, जिससे उस (आचरण) को छोड़कर (अफसर) इसे और धर्म की वृद्धि को पोषित करे।” (यह देखकर कि) ‘जनता का सुख और हित इसमें है,’ मैं उनकी परीक्षा करता हूँ,^२ उनकी भी जो मेरे पास हैं और उनकी भी जो दूर हैं, जैसे मैं अपने सवधियों की परीक्षा करता हूँ। क्यों ? जिससे मैं (प्रजा में से) कुछ लोगो को सुख पहुँचा सकूँ और मैं इसके अनुसार ही आचरण करता हूँ। इस तरह मैं सब वर्गों (के अफसरो) की परीक्षा करता हूँ। मैंने सब सम्प्रदायो का अनेक प्रकार से आदर किया है, पर (दूसरे सम्प्रदाय में) स्वयं आगे बढ़ने^३ को मैं मुख्य चीज समझता हूँ। यह धम्मलिपि मैंने अपने अभिषेक के छब्बीसवें वर्ष लिखवायी।

टिप्पणियाँ

१. पापोव के लिए, देखो JASB, १९२०, पृ० ३३६-७ एच० के देव । इस क्रिया का कर्त्ता निकाय है जो आगे आया है, पर यहाँ अध्याहृत किया जाता है । निकाय, जो शिला प्रज्ञापन १२ के अन्त में भी आता है, अफसरों की श्रेणियों का वाचक है ।

२. पटिवेख धातु का अर्थ पटिवेखा से निर्धारित होता है जो स्तम्भ प्रज्ञापन ३ में आता है ।

३. पक्षुपगमन=प्रत्युपगमन=स्वागत के लिए आगे बढ़ना । इस अश की तुलना शिला प्रज्ञापन १२ के साराश से करो ।

(७)

अनुवाद

देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है : “प्राचीन काल में भी ऐसे राजा थे जो यह सोचते थे कि मनुष्यों में धम्म की वृद्धि कैसे हो । पर मनुष्यों में धम्म की उचित वृद्धि नहीं हुई ।” इस पर देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है . “मेरे मन में यह विचार आया—प्राचीन राजाओं की कामना थी कि प्रजा में धर्म की समुचित वृद्धि हो । पर प्रजा में धर्म की समुचित वृद्धि नहीं हुई । तो लोगों को धर्म के अनुकूल कैसे बनाया जाए ? लोगों में धर्म की समुचित वृद्धि कैसे हो ? मैं किस प्रकार उनमें धार्मिक वृद्धि का उत्थान कर सकता हूँ ।” इस पर देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी यह कहता है : “मेरे मन में यह विचार आया कि मैं धर्म की प्रज्ज्ति कराऊँ और लोगों को धर्म सम्बन्धी शिक्षा देने की आज्ञा दूँ जिसको सुनकर मनुष्य उसका पालन करेंगे । धर्म की उन्नति के साथ-साथ उनकी महान् उन्नति होगी । इस प्रयोजन से मैंने धर्म पर कितने ही प्रज्ञापन निकलवाये और अनेक प्रकार से लोगों को धार्मिक शिक्षा

दिलवायी । बहुत से लोगो पर मैंने अपने अफसर व्यु^१ नियुक्त किये हैं । वे धर्म का प्रचार और उपदेश करेगे । लाखों आदमियों के ऊपर रज्जुक नियुक्त किये हैं । उन्हें भी यह आदेश दिया गया है : “धर्मनिष्ठ आदमियों को इस-इस तरह उपदेश करो ।”

३ देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी इस प्रकार कहता है : “सड़को पर मैंने बड़ के पेड़ लगवाए हैं । उनसे मनुष्यों और पशुओं को छाया मिलेगी । मैंने आम के बाग लगवाये हैं । मैंने आठ-आठ कोस^२ पर कुएँ खुदवाये हैं, और मैंने विश्राम-गृह बनवाये हैं । मैंने मनुष्यों और पशुओं के आराम के लिए स्थान-स्थान पर बहुत से आरामगाह बनवाये हैं, परन्तु यह सब प्रबन्ध कोई बड़ी बात नहीं है । ऐसे सासारिक सुख बढ़ाने के कार्य तो मेरी तरह कितने ही पूर्ववर्ती राजाओं ने भी किये थे । मैंने यह सब काम इसलिये किया कि लोगो में भी धर्म के ऐसे आचरण करने की प्रवृत्ति बढ़े ।”

४ देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी इस प्रकार कहता है : “मैंने विविध धर्म-कार्यों के लिए धर्म-महामात्र नियुक्त किये । वे साधुओं और गृहस्थियों के सब सम्प्रदायों के लिए नियुक्त किये गये हैं । मैंने यह प्रबन्ध किया है कि वे सघ के कार्य की व्यवस्था करेगे । इसी प्रकार मैंने यह व्यवस्था की कि वे ब्राह्मण आजीविको, निर्ग्रन्थों और विविध सम्प्रदायों की व्यवस्था करेगे । अनेक महामात्र मनुष्यों की विविध श्रेणियों और बहुत से निश्चित कार्यों के लिए हैं पर मैंने धर्म-महामात्रों की नियुक्ति सिर्फ इन तथा और सब सम्प्रदायों के लिए की है ।”

५ देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी इस प्रकार कहता है : “ये तथा अन्य मुख्य कर्मचारी^३ मेरे तथा रानियों के द्वारा दिये गये दान का ठीक-ठीक प्रबन्ध करते हैं, और यहाँ तथा जनपदों में, मेरे सारे

अन्त पुर मे उन्होने अनेक प्रकार से सतोपजनक कार्य* किये हैं, और मैंने यह प्रबन्ध किया है कि वे मेरे पुत्रो और अन्य देवीकुमारो द्वारा दिये हुए दान का ऐसे ढंग से वितरण करे कि धर्म की उन्नति हो और लोग धर्म का पालन करे । और इस प्रकार लोगो मे धर्म की उन्नति और धर्म का पालन बढ़ेगा जिससे दया, दान, सचाई, पवित्रता, नम्रता और भलाई की वृद्धि होगी ।”

८ देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है “मैंने जितने अच्छे काम किये, लोगो ने उनका अनुसरण किया और वे (भविष्य मे भी) वैसा ही करेगे । इन कामो से उनकी उन्नति हुई और माता-पिता तथा गुरुजनो की शुश्रूषा, वृद्धजनो के अनुसरण और ब्राह्मणो और श्रमणो, गरीबो और दुखियो तथा दासो, और नौकरो के साथ भी सद्व्यवहार बढ़ा है ।”

देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी कहता है : “मनुष्यो मे यह धार्मिक उन्नति दो कारणो से हुई, अर्थात् धर्म सवधी पावन्दियो से और (पूर्ण) निषेध* से और इस विषय मे धर्म की पावन्दियो का उतना महत्त्व नही जितना (पूर्ण) निषेध का । धर्म की पावन्दियाँ वे हैं जो मैंने लागू की हैं अर्थात् इन-इन प्राणियो का वध न किया जायगा और मेरे द्वारा लागू किये गये अन्य अनेक धार्मिक नियम हे । परन्तु (पूर्ण) निषेध द्वारा, जैसे (सब) प्राणियो की हिंसा का निषेध और जीवमात्र की अ-हत्या से, धर्म की अधिक वृद्धि हुई है । यह लेख इसलिए लिखवाया गया है जिससे मेरे पुत्र और पोत्र इन कार्यों को तब तक जारी रखे, जब तक सूर्य और चन्द्र कायम रहे और इस प्रकार मेरा अनुसरण करे ।

इस प्रकार मेरा अनुसरण करने से इस लोक और परलोक का सुख मिलना निश्चित है । यह धर्मलिपि मैंने अपने अभिषेक के २८

वर्ष वाद लिखवायी है।

इसके बारे में देवताओं का प्रिय कहता है कि यह धर्मलिपि जहाँ-जहाँ शिला-स्तम्भ या शिलाफलक हो, वहाँ-वहाँ उत्कीर्ण कराई जाए, जिससे यह चिरस्थायी रहे।”

टिप्पणियाँ

१ यहाँ यथा के स्थान पर सभावित सही पाठ व्युठा के लिए देखिए IA, १६१२, पृष्ठ १७३।

२ अठकोसिक्यानि के लिए देखो पलीट का नोट, JRAS, १६०६, पृष्ठ ४० और आगे। निसिधिया के लिए, EI, २, २७४।

३ सेनार्द ने मुख का अर्थ बिचौदिया किया है और बूलर ने मुख्य राज-कर्मचारी। एफ० डब्लू० टामस ने उन अनेक स्थानों की ओर हमारा ध्यान खींचा है जिन पर कौटिल्य अर्थशास्त्र में मुख्य शब्द आता है (JRAS १६१५, पृष्ठ ६७-६६)।

परन्तु उसने मुख्य शब्द को मुख समझ लिया है। अर्थशास्त्र से बूलर के पाठ की पुष्टि होती मालूम होती है।

४. बूलर तुठायतनानि को तुष्टयायतनानि मानता है, अर्थात् ‘सतोष के जनक’, ‘धार्मिकता के अवसर’। क्योंकि आयतन शब्द आ-यत, यत्न करना, से बनता है, इसलिए इसका अर्थ ‘प्रयत्न’ अधिक ठीक है।

५. निभक्ति के लिए स्तम्भ प्रज्ञापन ५ के नीचे टिप्पणी ७ का अन्तिम अंश देखिए। इस सदभ के निर्वचन के लिए, देखो ऊपर, पृष्ठ १५१।

गौख शिलालेख

क—पृथक् कलिंग प्रज्ञापन

(१)

अनुवाद

देवों के प्रिय के आदेश से तोसली (या समापा) के महामात्रों को, जो नगर के न्याय-शासक हैं, इस प्रकार सम्बोधित किया

जाए : मैं जो कुछ ठीक समझता हूँ, उसे कार्य-रूप में परिणत करना चाहता हूँ और उसका (उचित) साधनो से सूत्रपात करता हूँ और मैं इसे, अर्थात् तुम लोगो को दी हुई आज्ञा को, अपनी अभीष्ट-सिद्धि का साधन समझता हूँ। तुम लोगो को सहस्रो मनुष्यों के ऊपर इसलिए नियुक्त किया गया है जिससे हम सत्पुरुषों के स्नेह के पात्र हो सके। सब मनुष्य मेरी सन्तान के समान हैं। जिस तरह मैं चाहता हूँ कि मेरी सन्तान इस लोक और परलोक में सब प्रकार का सुख प्राप्त करे, ठीक उसी प्रकार मैं सब मनुष्यों के लिए मंगल और सुख की कामना करता हूँ। परन्तु तुम इस बात को अच्छी तरह अनुभव नहीं करते। कोई-कोई (अफसर) अनुभव भी करता है, पर वह भी कुछ ही अंश में समझता है, सारा नहीं, इसलिए इस बात का ध्यान रखो कि आचार का नियम भी सुनिश्चित कर दिया गया है। कई बार लोगो को कैद या परेशानी आ पड़ती है। तब उन्हें अकारण कैद या मृत्यु प्राप्त होती है^१ और बहुत लोगों को घोर यातना दी जाती है। इसलिए तुम्हें तो मध्य मार्ग पर रहने की कामना करनी चाहिए। ईर्ष्या, अधैर्य, निष्ठुरता, जल्दबाजी, अकर्मण्यता और मूढ़ता जैसी प्रवृत्तियाँ होने पर कोई व्यक्ति शिष्ट आचरण नहीं कर सकता। इसलिए तुम्हें यह कामना करनी चाहिए कि ये प्रवृत्तियाँ तुम्हारी न हो। और इसका मूल उद्यम और धैर्य है। आचरण का नियम यह है कि जो परिश्रम से थक गया है उसे उठकर आगे बढ़ना चाहिए। और मनुष्य को पुरुषार्थ करना, आगे बढ़ना और उन्नति करनी चाहिए। तुमको आचरण के इस नियम पर विचार करना चाहिए, इसलिए (अपने आपसे) कहो तथा और कुछ मत सोचो : “देवो के प्रिय के आदेश इस प्रकार हैं। उनकी पूर्ति से बहुत लाभ हैं, न करने से बहुत हानि, जो लोग

इनकी पूर्ति अच्छी तरह नहीं करते, उन्हें न स्वर्ग मिल सकता है और न राजा की कृपा ।” इस प्रकार मुक्त द्वारा निर्धारित यह कर्त्तव्य दो-गुना लाभदायक है । तुम्हारे मन में सशय क्यों होता है ? यदि तुम इसकी अच्छी तरह पूर्ति करोगे तो तुम्हें स्वर्ग मिलेगा और तुम मेरे ऋण से मुक्त हो जाओगे ।

और यह लेख तिष्य नक्षत्र के दिन सबको सुनना चाहिए, और तिष्य दिनों के बीच में प्रत्येक पर्व के दिन भी सुनाना चाहिए, चाहे एक ही (अफसर) क्यों न हो । और इस प्रकार आचरण करते हुए (मेरे आदेशों को) पूरा करने का यत्न करे । यह लेख यहाँ इसलिए लिखवाया गया है जिससे नगर के न्याय-शासक आचार के निर्धारित नियम पर चले और किसी नागरिक को अकारण कैद और अकारण परेशान न किया जाए और इस प्रयोजन के लिए मैं प्रति पाँचवें वर्ष^२ कोमल तथा शान्त प्रकृति वाले दयालु अफसर भेजा करूँगा । मेरे ध्येय से परिचित होने के कारण वे मेरे आदेशों के अनुसार कार्य करेंगे, परन्तु उज्जैन से कुमार इन अफसरों को भेजेगा और तीन-तीन वर्ष के अनन्तर भेजा करेगा । इसी प्रकार तक्षशिला से भी भेजे जायेंगे । जब ये महामात्र दौरो पर जाएँगे तब अपने अन्य कार्यों के साथ-साथ, इन बातों का भी ध्यान रखेंगे और राजा के आदेशों के अनुसार कार्य करेंगे ।

टिप्पणियाँ

१. यह प्रज्ञापन का सबसे कठिन सन्दर्भ है । अशोक का आशय यह प्रतीत होता है कि जब नीचे उल्लिखित अफसरों के किसी दोष से कोई व्यक्ति कैद या परेशान होता है तब वह परेशानी अकारण ही कैद में, या कैद मृत्यु में परिवर्तित हो जाती है ।

२. ऊपर पृष्ठ ५८-५९ ।

(२)

अनुवाद

देवों के प्रिय की आज्ञा से कुमार और महामात्रों से यह कहा जाय : मैं जो कुछ (मन में) सोचता हूँ उसे कार्यरूप में परिणत करना चाहता हूँ और उचित साधनों से उसका सूत्रपात करता हूँ और मैं इस अभीष्ट की सिद्धि के लिए मुख्य साधन तुम लोगों को दी हुई आज्ञा को समझता हूँ। सब मनुष्य मेरी सन्तान के समान हैं। जैसे मैं अपनी सन्तान के लिए यह चाहता हूँ कि वह इस लोक और परलोक के मंगल और सुख से युक्त हो, ठीक वैसे ही मैं सब मनुष्यों के लिए चाहता हूँ।

अगर तुम यह पूछो कि मेरी पड़ोसियों के प्रति क्या इच्छा है जिससे तुम्हें यह पता चल जाय कि अपने अविजित पड़ोसियों के बारे में राजा हम से क्या चाहता है तो उसका उत्तर यह है उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि वे मुझ से न डरे और वे मुझ पर विश्वास करें और उनको मुझ से सुख मिलेगा, दुख नहीं। उन्हें यह भी समझ लेना चाहिए कि राजा यथासम्भव उन्हें क्षमा करेगा परन्तु उन्हें मेरे कहने से धर्म का अनुसरण करना चाहिए जिससे इस लोक और परलोक का लाभ हो। इस उद्देश्य से ही मैंने तुम्हें यह आज्ञा दी है। तुम्हें आज्ञा देकर और अपनी इच्छा, नहीं नहीं, अटल सकल्प और प्रतिज्ञा, बताकर क्या मैं (उनके प्रति) अपने ऋण से मुक्त हो सकूँगा? इस प्रकार ऐसा आचरण करते हुए तुम्हें अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए और उनमें विश्वास पैदा करना चाहिए जिससे वे यह समझ सकें कि राजा हमारे लिए पिता के समान है। वह हम से वैसे ही सहानुभूति रखता है जैसे

अपने से । हम भी राजा के लिए उसकी सन्तान के समान हैं । इस प्रकार तुम्हें आज्ञा देकर और अपनी इच्छा और अपना अटल सकल्प और प्रतिज्ञा जतलाकर मैं इस कार्य के लिए अपने स्थानीय मन्त्रियों की तरह तुम्हारे साथ रहूँगा । तुम उनमें विश्वास पैदा कर सकते हो और उन्हें इस लोक तथा परलोक का मंगल तथा सुख प्राप्त करा सकते हो । ऐसा करने से तुम्हें स्वर्ग का लाभ होगा और तुम मेरे प्रति अपने कर्तव्य का पालन करोगे ।

और यह लेख इस प्रयोजन से लिखवाया गया है कि जिससे महामात्र उन पड़ोसियों में विश्वास उत्पन्न करने के लिए और उनमें धर्माचरण की प्रवृत्ति लाने के लिए आचरण के निर्धारित नियमों पर दृढ़ रहे । यह प्रज्ञापन हर चौथे महीने पुष्य नक्षत्र के दिन सुनाया जाय, और बीच-बीच में भी सुनाया जाय चाहे एक ही अफसर हो । इस प्रकार कार्य करते हुए मेरे आदेशों की पूर्ति का यत्न करो ।

टिप्पणी

१. देसावृत्तिके एक जटिल पद है और इसने विद्वानों को परेशान किया है ।

सेनाट "इस ध्येय की पूर्ति के लिए मैं तुम में ऐसे व्यक्ति रखूँगा जो चुस्ती से मेरे आदेशों का पालन करने योग्य हो ।"

बूलर : "जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध है, मैं सब देशों में अधीक्षक रखूँगा ।" स्पष्ट ही है कि इस प्रसंग में बूलर को (तु) फाक शब्द का ध्यान नहीं रहा । आयुक्त का अर्थ है मंत्री या अभिकर्ता या स्थानापन्न । अशोक का आशय यह है कि वे उसके स्थानीय प्रतिनिधि हैं जो सीमान्त निवासियों के प्रति उसके आशय के अनुसार कार्य कर सकते हैं ।

गोण शिलालेख

(१)

ब्रह्मगिरि

सुवर्णगिरि से कुमार^१ और महामात्रों की ओर^२ से इसिल्ला के महामात्रों से उनके स्वास्थ्य का समाचार पूछा जाय और इसके बाद उनसे कहा जाय - “देवों के प्रिय की आज्ञा है कि ढाई वर्ष से कुछ अधिक हुआ जब मैं उपासक हो गया था, परन्तु मैंने अधिक उद्योग नहीं किया। एक वर्ष से अधिक हुआ जब से मैं सघ मे आया हूँ और तब से मैंने उद्योग किया है, परन्तु इस काल मे, मैंने सारे जम्बूद्वीप में^३ जो लोग अलग थे, उन्हें देवों से मिलाया। (R-इस बीच मे देवों को, जो अलग थे, सारे जम्बूद्वीप में मनुष्यों से मिलाया गया) क्योंकि यह उद्योग का फल है। यह सिर्फ बड़ों^४ को ही नहीं प्राप्त होता है, बल्कि यदि कोई निम्न पदधारी भी उद्योग करे तो उसके लिए भी लोगों को बहुत स्वर्गीय सुख प्राप्त कराना सम्भव है। इस प्रयोजन से यह प्रज्ञापन कराया गया है, अर्थात् जिससे ऊँचे और नीचे अफसर यह उद्योग करे कि मेरे सीमान्त निवासी इसे जाने और यह उद्योग चिरस्थायी हो और इस लक्ष्य की उन्नति होगी। इसकी अवश्य खूब उन्नति होगी और कम से कम डेढ़ गुना उन्नति होगी और यह प्रज्ञापन २५६ व्युष्ट^५ मे कराया गया है।”

सहसराम

यह प्रज्ञापन २५६ व्युष्टों से कराया गया है क्योंकि २०० तथा ५६ व्यक्ति दौरे पर गये हैं (विबुध-व्युष्ट)^६ और इसे शिलाओं पर खुदवाओं और जहाँ शिला स्तम्भ हैं वहाँ भी खुदवाओं।

रूपनाथ

इस लेख को शिलाओ पर खुदवाओ। यहाँ और दूर-दूर, जहाँ-कहीं शिला स्तम्भ हैं, वहाँ भी खुदवाओ और यह मीखिक आदेश लेकर तुम सब अपने-अपने क्षेत्राधिकार में दौरे पर जाओ। यह प्रज्ञापन २५६ व्युष्टो से कराया गया है और यह सख्या इतने ही व्यक्तियों के दौरे पर जाने को सूचित करती है।

टिप्पणियाँ

१. वियेना ओर. जर. १२, ७५-७६ में बूलर ने खड्गहाल जातक (जातक सख्या ५४२) के बल पर निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया है कि अय्यपुत्त शब्द का अर्थ राजकुमार है।

२ और अधिक स्पष्टीकरण के लिए, देखो ऊपर पृष्ठ ७७-८०।

३ ऊपर पृष्ठ ११८; IA, १६१२, पृष्ठ १७०-१। इसके साथ सहदेव-मनुष्या आस्मिल्लोके पुरा बभूवु—आपस्तवीय धर्मसूत्र, पृष्ठ ७६ (बो० संस्कृत सोरीज)।

४. यहाँ ऊँचे और नीचे शब्दों का प्रयोग ऊँचे और नीचे अफसरो के लिए किया गया है। इस प्रज्ञापन की तुलना शिला प्रज्ञापन १० से करनी चाहिए और ऊपर टिप्पणी सख्या २ पढ़ो।

५. IA, १६०८, पृष्ठ २१; J.A., मे-जुई, १६१०; JRAS १६१३, पृष्ठ ४४७; तथा J.R.A.S १६१०, पृष्ठ १४२ और १३०८; १६११, पृष्ठ १११४; १६१३, पृष्ठ १०५३, JA—जनवरी-फरवरी १६११। मेरे निर्वचन के लिए देखो IA, १६१२, पृष्ठ १७१-३।

पुस्तक-सची

बूलर, जी० IA, १८६३, पृ० २०६-३०६, १८६७, पृ० ३३४।
EI, जिल्द ३, पृ० १३५-४२।

शास्त्री, एच० कृष्ण—दि न्यू अशोकन एडिक्ट आफ मस्की (हेदराबाद आर्कियोलोजिकल सोरीज, न० १) ।

हुल्डश, ई०—ZDMG, जिल्द ७०, पृ० ५३६-४१ ।

(२)

अनुवाद

देवताओं का प्रिय यह भी कहता है : “पिता और माता की सेवा करनी चाहिए । इसी प्रकार प्राणियों पर दया करनी चाहिए । सत्य बोलना चाहिए ।” धर्म के ये गुण हैं, जिन पर आचरण करना चाहिए । इसी प्रकार शिष्य को गुरु का आदर करना चाहिए और मनुष्य को अपने सम्बन्धियों से उचित व्यवहार करना चाहिए । (मनुष्य के मन की) यह स्वाभाविक प्राचीन रचना^१ है और यह चिरस्थायी, है इसलिए इस पर आचरण करना चाहिए ।

पड लिपिकार ने यह लिखा है ।

टिप्पणी

१. ऊपर, पृष्ठ १५१ ।

भात्रू लेख

अनुवाद

मगध का राजा प्रियदर्शी सघ का अभिवादन करता है और सघ की कुशलता की कामना करता है । हे भदन्तगण, आपको मालूम है कि मेरे मन में बुद्ध, धर्म और सघ के प्रति कितना मान और श्रद्धा है । वैसे तो भगवान् बुद्ध ने जो कुछ कहा है, अच्छा ही है, परन्तु हे भदन्तगण, इस महान् धर्म की चिरस्थायिता के लिए जो मैं उचित समझता हूँ, उसकी घोषणा करना चाहता हूँ । हे भदन्तगण, वे ये धर्म ग्रन्थ हैं . (१) विनय समुक्से, (२) अलियवसानि,

(३) अनागतभयानि, (४) मुनिगाथा, (५) मोनेयसूते, (६) उपतिसपसिन, और (७) मिथ्या के बारे में भगवान् बुद्ध का राहुल को उपदेश^१। हे भदन्तगण, मैं चाहता हूँ कि भिक्षु और भिक्षुणियाँ इन ग्रन्थों को लगातार सुने और विचारे। इसी प्रकार उपासक पुरुष और स्त्रियाँ करे। मैंने यह लेख इसलिए लिखवाया है जिससे लोग मेरे अभिप्राय को समझे।

टिप्पणी

१ ऊपर, पृष्ठ ७६-७८, JRAS १८८६, पृष्ठ ६३६; १६०१, पृष्ठ ३११, ५७७; १६११, पृष्ठ १११३; १६१३, पृष्ठ ३८५; १६१५, पृष्ठ ८०५; IA, १८६१, पृष्ठ १६५; १६१२, पृष्ठ ३७; १६१६; पृष्ठ ८, JA, मै-जुई १८६६। मैक्सवालेसर, डास एडिक्ट वॉन भात्रा (मेडिरिलियेन जुरकुण्ड डेस बुद्धिस्नास, ई० ल्यूमेन डास भात्रा एडिक्ट डेस कोनिग्स अशोक (जेइट० इण्डोल, ईरान, अक्टूबर २, १६२३, पृष्ठ ३१६ और आगे)।

गौण स्तम्भ लेख

रुम्विन्देइ (पदेरिया लेख)

अनुवाद

अपने अभिषेक के बीस वर्ष बाद देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी स्वयं यहाँ आया और उसने अर्चना^१ की। क्योंकि यहाँ शाक्य मुनि बुद्ध का जन्म हुआ था, इसलिए उसने वहाँ एक बहुत ही बड़ी पत्थर की दीवार^२ बनवाई और एक स्तम्भ स्थापित कराया। क्योंकि यहाँ भगवान् का जन्म हुआ था, इसलिए लुम्बिनी गाँव के धार्मिक कर माफ कर दिये गये, और मालगुजारी^३ के रूप में वह सिर्फ आठवाँ हिस्सा देगा।

टिप्पणियाँ

१ ऊपर, पृष्ठ ६६-६७ ।

२. पहले विद्वानों ने सिलाविगडभीचा को बड़े विचित्र शब्दों से विभाजित किया था, पर सबसे पहले सर रामकृष्ण भण्डारकर ने यह सिद्ध किया कि यह वस्तुतः एक पद है जिसका अर्थ है पत्थर की बनी हुई बाढ़ या रेलिंग ।

JB BRAS, जिल्द दस, पृष्ठ ३६६, (टिप्पणी, १४) फ्लोट बहुत अश तक उनसे सहमत है (JRAS १९०८, पृष्ठ ४७६-७ और पृष्ठ ८२३) में स्वयं इन अक्षरों को सिला-विगड-भीचा (शिला-विकट भित्तानि) का निरूपक मानता हूँ, जिसका अर्थ है, बड़ी-बड़ी पत्थर की दीवारें, जैसी एक दीवार वासुदेव सकर्षण के सम्मान में नगरी में बनाई गई थी । (MASI, न ४, पृष्ठ १२६ । पूर्ववर्ती व्याख्याओं के लिए, देखो EI, जिल्द ५, पृष्ठ ५; S.B. Pr. A.W. १९०३, पृष्ठ ७२४, IA, १९०५, पृष्ठ १, १९१४, पृष्ठ १६-२०) ।

३. पहले-पहल एफ० डब्लू० टामस ने 'बलि' का ठीक-ठीक अर्थ 'धार्मिक कर' लगाया था (JRAS, १९०६, पृष्ठ ४६६-७) उसके 'अठभागीय' के सही निर्वचन के लिए, देखो JRAS, १९१४, पृष्ठ ३६१-२ ।

पुस्तक-सूची

बूलर, जी—EI, जिल्द ५, पृ० ४ और गये ।

स्मिथ, वी० ए०—IA, १९०५, पृष्ठ १ और आगे; तथा तराई, नेपाल की प्राचीन वस्तुओं पर मुखर्जी की रिपोर्ट, कलकत्ता, १९०१, की भूमिका ।

फ्लोट, जे० एफ०—JRAS, १९०८, पृष्ठ ४७१ और आगे ।

कारपेन्टियर, जे०—IA, १९१४, पृष्ठ १७ और आगे ।

निगलीव लेख

अनुवाद

देवताओं के राजा प्रियदर्शी ने अपने अभिषेक के चौदह वर्ष बाद बुद्ध कोनाकमन के स्तूप को दूसरी बार बड़ा करवाया और अपने अभिषेक के बीस वर्ष बाद वह स्वयं इस स्थान पर आया, उसने पूजा की और एक शिला स्तम्भ बनवाया ।

सारनाथ स्तम्भ का लेख

अनुवाद

देवताओं के राजा प्रियदर्शी की आज्ञा है :

“ पाटलिपुत्र ” सघ मे कोई फूट न डाले पर जो कोई सघ मे फूट डाले, चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी, उसे श्वेत वस्त्र पहना दिये जायँ और ऐसी जगह रहने के लिए बाधित किया जाय जो (भिक्षुओं का) निवास-स्थान^१ नहीं है । यह आदेश भिक्षुओं और भिक्षुणियों के सघों को सुना दिया जाय ।

देवताओं का प्रिय इस प्रकार कहता है : “ऐसा एक लेख सभा-भवन मे रख दिया जाए जिससे तुम उसे देख सको^२ और एक प्रति ऐसी जगह रखो जहाँ उपासक पहुँच सके, और उपासक प्रत्येक उपवास के दिन आये और उस आदेश को पढ़ें । और उपवासों के दिन, जब महामात्र बारी-बारी से अपने मुख्यालय पर आये, तब उन्हें इस आदेश को पढ़ना और समझना चाहिए और जहाँ तक तुम्हारा अधिकार क्षेत्र^३ है, तुम्हें वहाँ तक, यह आदेश लेकर दौरा करना चाहिए । इसी प्रकार सब किलो मे और जिला नगरों^४ में तुम्हें अन्य कर्मचारियों को यह आदेश देकर दौरे पर भेजना चाहिए ।”

टिप्पणियाँ

१ बौद्ध भिक्षुक का वेश पीले रंग का होता है और जब उसे श्वेत वस्त्र दिए जाते हैं तो इसका अर्थ यह है कि उसे सघ से बाहर कर दिया जाता है । (श्रोडनबर्ग का विनयपिटक, जिल्द ३, पृष्ठ ३१२, पक्ति १८; तथा JASB, १९०८, पृष्ठ ७-१०) । अनावासे के विषय में, बुद्धघोष की व्याख्या SBE, १७, पृष्ठ ३८८, टिप्पणी १ देखिए ।

२. राजा निश्चय ही महामात्रों को सम्बोधित कर रहा है, भिक्षुओं को नहीं, जैसा कि कुछ विद्वानों ने समझ लिया है । ‘सत्तरण’ का शब्दार्थ है ‘राजमार्ग’, ‘मिलन’, इत्यादि और बहुत सभाव्यत यहाँ यह शब्द जिला कचहरी का वाचक है जो राजमार्ग पर भी होती है और मिलने का आम स्थान भी

होती है। एफ० डब्लू० टामस ने चुल्लवग्ग में इस शब्द का जो निर्देश बताया है (JRAS, १९१५, पृष्ठ १०६-१११) वह कचहरी के भवन के प्रामाणिक रूप का वाचक भी हो सकता है।

३. आहार शब्द का अर्थ है जिला, और इस अर्थ में इसका पुराने लेखों में बहुत जगह प्रयोग मिलता है। विवासायाथ और इस सन्दर्भ के साधारण निर्वचन के लिए देखो, IA, १९१२, पृष्ठ १७२।

४ प्रत्येक जिले (आहार) में एक से अधिक ताल्लुके (विषय) होते हैं। प्रत्येक ताल्लुके का मुख्य नगर किले की तरह होता होगा, EI, ८, १७१।

पुस्तक-सूची

बोजेल, जे० पी० एच०—EI, जिल्द ८, पृष्ठ १६६ और आगे।

वेनिस, आर्थर—JASB, १९०७, पृष्ठ १ और आगे।

सेनार्ट, ई०—कोप्तेस रेंडुस व लाकादमी इन्स्ट्रिप्स्यो, १९०७, पृष्ठ २५।

बौयर—JA, जिल्द, १० (१९०७), पृष्ठ ११६।

सांची का स्तम्भ लेख

[इस लेख की अनुलिपि (Facsimile) EI, २ में पृष्ठ ३६६ के सामने वाली प्लेट में देखी जा सकती है। इसके साथ वूलर का एक लिप्यन्तर (Transcript) भी है जिसे प्रोफेसर हुल्डश ने पुरातत्व विभाग द्वारा प्रस्तुत सामग्री की सहायता से हाल में ही बहुत शुद्ध कर दिया है। उसका संशोधित पाठ JRAS, १९११, पृष्ठ १६७-६ में विद्यमान है।]

अनुवाद

भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिए एक मार्ग निर्धारित कर दिया गया है। जब तक सूर्य और चन्द्रमा प्रकाशमान हैं, तब तक मेरे पुत्र और पौत्र बने रहें, जिससे जो कोई सघ को तोड़े, चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी, उसे सफेद कपड़े पहनाकर सघ से बाहर कर दिया जाय क्योंकि मेरी यह कामना है कि सघ अपने मार्ग पर चलता हुआ चिरस्थायी हो।

इलाहाबाद स्तम्भ का लेख

(इसमें भी सघ में फूट डालने का दंड बताया गया है और यह पिछले

दो का प्रतिरूप है। इस लेख का बहुत कम हिस्सा सरक्षित है और इससे जो एकमात्र नया तथ्य प्रकट हुआ है वह यह है कि इसमें अशोक का कौशाम्बी के महामात्रो के नाम एक आदेश है जिससे स्पष्ट प्रकट होता है कि यह स्तम्भ शुरु में कहाँ लगाया गया था।)

ख--रानी का प्रज्ञापन

अनुवाद

देवताओं के प्रिय के आदेश से सब जगह के महामात्रो से कहा जाय कि मेरी द्वितीय रानी जो भी दान करे, चाहे वह ग्राम उद्यान हो, फलोद्यान हो, भिक्षुक घर हो, या जो कुछ भी उस रानी का दान हो, वह सारा तीवर की माता द्वितीय रानी कारुवाकी का ही समझा जाय।^१

टिप्पणी

१. अपनी द्वितीय रानी की दान की इस तरह सूचना देकर अशोक स्पष्ट रूप से राज्य-परिवार के अन्य सदस्यों के अनुकरण के लिए एक आदर्श पेश कर रहा है। देखो ऊपर, पृष्ठ १२८ और आगे।

पुस्तक-सूची

बूलर, जी.—IA, जिल्द १६, पृष्ठ १२४--१२६।

हुल्डस, ई.—JRAS, १९२१, पृष्ठ १११३—४।

बराबर पर्वत के गुफा लेख

अनुवाद

क—यह गुफा राजा प्रियदर्शी ने अपने अभिषेक के बारह वर्ष पश्चात् आजीविको को दान दी।

ख—खलतिक पहाड की यह गुफा उसने अपने अभिषेक के बारह वर्ष पश्चात् आजीविको को दी।

ग—राजा प्रियदर्शी ने अपने अभिषेक के उन्नीस वर्ष बाद खलतिक पहाड में ।

पुस्तक-सूची

बूलर, जी०—IA, जिल्द २०, पृष्ठ ३६४।

